आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मन के जीते जीत
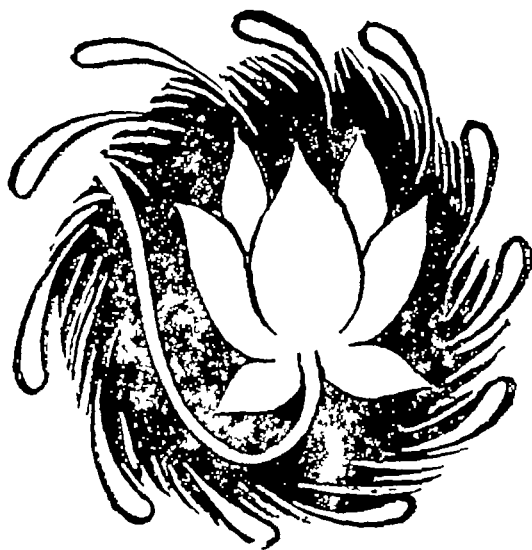
युवाचार्य महाप्रज्ञ

दूसरा संस्करण

मन को जीतना बहुत आसान है, किन्तु जितना आसान है, उतना ही कठिन है। आसान इसलिए है कि वह हमारी आन्तरिक चेतना का विनम्र आज्ञाकारी कर्मकर है। उसे जीतना कठिन तब हो जाता है, जब हम उसी को सर्वोच्च चेतना के रूप मे स्वीकृति दे देते है। उसमे उसका कोई दोष नही है। यह हमारे ही अज्ञान का फलित है। हम मन को जीतने का अभियान प्रारम्भ करें, उससे पहले अपने अज्ञान की तमिस्रा को निरस्त करे, भ्रम के आवरण को दूर करें।

'मन के जीते जीत'—इस पुस्तक मे अपनी भ्राति के आवरण को दूर करने की कुछ दिशाए निर्दशित हैं, इसीलिए इसके प्रति पाठक आकर्षित होता है। उसे लगता है कि मन विजित ही है, यदि दृष्टि साफ हो। दृष्टि-परिष्कार के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता है। उसी उपयोगिता के कारण दूसरा सस्करण अपने मूल रूप मे ही प्रस्तुत हो रहा है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ

प्राथमिकी

मन का प्रश्न वहुत उलझा हुआ है। हजारो वर्षों से यह उलझा हुआ आ रहा है और भविष्य मे कव सुलझेगा, पता नही। जिन लोगो ने मन को समझा और उसे देखा, उनका मन समाप्त हो गया। जो मन को नही समझ पाए, उसे नही देख पाए, वे मन को जीतने के प्रश्न पर ही उलझे रहे। जीतने की भाषा लडाई की भाषा है। लडाई मे जीत और हार—दोनो की सभावना रहती है। मन से लडने वाला सभव है जीत जाए, पर यह भी उतना ही सभव है कि वह हार जाए। निश्चयपूर्वक कोई नही कह सकता कि मन से लडने वाला मन को जीत लेता है। मन की उपेक्षा करने वाला, उसे देखने वाला तटस्थ होता है, मध्यस्थ होता है। उपेक्षा की वात कितनी वडी होती है, उसे कोई झेल नही सकता। मन भी उसे नही झेल सकता और वह किसी लडाई के विना अपने आप पराजित हो जाता है।

अध्यात्म के क्षेत्र मे युद्ध की अपनी भाषा है और योद्धा की भी अपनी भाषा है। युद्ध केवल समर-प्रागण मे ही नही लडा जाता, केवल शस्त्रो से ही नही लडा जाता, वह अपने भीतर भी लडा जाता है और शस्त्रो के विना भी लडा जाता है। इसीलिए महावीर ने कहा—"अपने आप से लडो। दूसरो से लडने मे क्या? 'जुद्धारिह खलु दुल्लह'—युद्ध का अवसर दुर्लभ है, इसे मत खोओ।"

अध्यात्म का घोष है

ओ वीर!
इन विजातीय तत्त्वो मे लड,

नकली लडाई से क्या होगा ?
युद्ध की सामग्री जो मिली है,
वह बार-बार कब मिलेगी ?
यह सर्वस्व युद्ध का मौका है।
यह रहा सामने घर,
जो सर्वस्व-त्यागी है, वे इसी घर मे रहते हैं।
पूरा साम्य वहीं है।
मैंने इसी अट्टालिका के शिखर से
विजातीय तत्त्वो को उस पार फेंका।
दूसरा शिखर ऐसा नही है,
जहा से उन्हे उस पार फेका जा सके।
थको मत।
थमो मत।
रुको मत।
झुको मत।
आगे बढो।
दुगुनी शक्ति के साथ
आगे बढो।

विजय के इस मत्र को जो लोग नही समझ पाए उनके लिए मन सदा अजेय रहा और रहेगा भी। मानसिक उलझन को भी वे लोग नही सुलझा पाए जो विजय का रहस्य नही समझ सके। एक रस्सी के दो छोरो को दो आदमी खीचते हैं और रस्सी टूट जाती है तो दोनो गिर जाते हैं। एक खीचता है और दूसरा उसे छोड देता है तो खीचने वाला गिरता है और छोडने वाला खडा रहता है। जो प्रेक्षा को जानता है, रस्सी को छोडना या ढीला करना जानता है, वह विजेता बनता है। इस सीधी-सादी बात को समझने के लिए ही प्रस्तुत पुस्तक को पढे, स्वय देखें और अनुभव करें। यदि बात समझ मे आ गई तो उलझा हुआ प्रश्न थोडे मे सुलझ जाएगा।

आचार्यश्री तुलसी प्रेरणा-स्रोत और ज्योति-स्तम्भ है। उनका आशीर्वाद और सान्निध्य—दोनो मुझे प्राप्त है। साधना-शिविर उनके प्रोत्साहन और प्रेरणा से व्यवस्थित चले।

प्रस्तुत पुस्तक में साधना-शिविर में हुए प्रवचन संकलित हैं। इनका संकलन और संपादन मुनि दुलहराजजी ने किया। कच्ची सामग्री उनके हाथों में पककर व्यवहार के उपयोगी बन गई है। इसका व्यवहार करने वाले अवश्य ही आत्मानुभूति के क्षण को उपलब्ध होंगे।

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

सरदारशहर शिविर

(१० अक्टूबर, १६७६ से १६ अक्टूबर, १६७६)

१

देखें और सोचें

इस संसार में दो तत्त्व हमारे सामने हैं—एक अभेद और दूसरा भेद। जब हम अभेद को देखते हैं, मन में कोई विकल्प उत्पन्न नहीं होता, कोई संदेह उत्पन्न नहीं होता। जब हम भेद को देखते हैं, मन में विकल्प उत्पन्न होता है, संदेह उत्पन्न होता है। यह क्यों? यह अन्तर क्यों? यह अलगाव क्यों? ऐसी ही एक घटना घटित हुई प्राचीन काल में।

एक बार पार्श्वनाथ परम्परा के पट्टधर कुमारश्रमण केशी अपने श्रमण परिवार के साथ श्रावस्ती नगरी में आए और तिंदुक उद्यान में ठहरे। भगवान् महावीर के शिष्य गणधर गौतम भी अपने श्रमण परिवार के साथ उसी नगरी में आए और 'कोष्ठक' उद्यान में ठहरे। दोनों के श्रमणों ने एक दूसरे को देखा। वेशभूषा और चर्या का अंतर देख उनके मन में शंका उत्पन्न हुई। उन्होंने जाना कि तीर्थंकर पार्श्व ने चतुर्याम धर्म की प्ररूपणा की है। मुनियों के लिए चार महाव्रत बतलाए हैं और महावीर ने श्रमणों के लिए पांच महाव्रतों का प्रतिपादन किया है। चार महाव्रत और पांच महाव्रत—यह अंतर क्यों? पार्श्व के श्रमणों के वस्त्र सभी रंगों के थे। महावीर के श्रमणों के वस्त्र केवल श्वेत वर्ण के ही थे। चर्या में अंतर था। यह क्यों? दोनों परंपराओं के श्रमणों के मन में संदेह उपजा। आचार्य केशी और गणधर गौतम ने यह जाना। वे अतीन्द्रिय ज्ञानी थे। दोनों एक स्थान पर मिले। श्रमण परिवार साथ था। कुमार श्रमण केशी ने गणधर गौतम से पूछा—'हमारा लक्ष्य एक है, समान है। हम एक ही उपलब्धि के लिए चले हैं। फिर तीर्थंकर पार्श्व ने चार महाव्रतों की और तीर्थंकर महावीर ने पांच महाव्रतों की बात कैसे कही? यह अंतर क्यों? वेशभूषा में अंतर क्यों? चर्या में अंतर क्यों? एक ही लक्ष्य के लिए प्रस्थित श्रमणों में यह अंतर संदेह उत्पन्न करता है। इसका समाधान क्या है? आप आशुप्रज्ञ हैं, इसका समाधान दें।'

गौतम ने समाधान किया। पहले ही चरण में जो कुछ उन्होंने कहा, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा—

किसी भी वस्तु को देखा जा सकता है। जहा देखना है, वहा यह प्रश्न ही नही हो सकता कि किसको देखना है और किसको नही देखना है। किसी भी वस्तु को देखा जा सकता है, देख सकते है।

आकार को देखें। यह सबसे सीधा दर्शन है। कोई भी आकार सामने आया और हमने उसे देखना प्रारम्भ कर दिया। आकार का दर्शन करने लग गए। हर आकृति, जो सामने आयी, उसके बाहरी रूप को देखने लग गए। हर आकृति के दो रूप होते है—एक बाहरी और दूसरा भीतरी। एक उसका बाहर का रूप और दूसरा उसका आन्तरिक रूप, अन्दर का रूप। ऐसी एक भी वस्तु नही है जिसका बाहर का रूप तो हो और अन्दर का रूप न हो। अथवा अन्दर का रूप हो और बाहर का रूप न हो। दोनो होते है। जहा रस होता है, वहा छिलका भी होता है। जहा छिलका होता है, वहा रस भी होता है। हम छिलके को भी देखें और रस को भी देखें। हम गूदे को भी देखें और छिलके को भी देखें। बाहर और भीतर—दोनो को देखें। पहले बाहर को देखें फिर भीतर को देखें। पहले स्थूल को देखें, फिर सूक्ष्म को देखें।

पहले दर्शन मे जो हमारे सामने आता है वह है स्थूल रूप। किन्तु जो पहले दर्शन मे आता है उतना ही वह नही, उसके भीतर भी बहुत है। सूक्ष्म को भी देखें। मेरे हाथ मे पेंसिल है। आप इसके स्थूल रूप को देख रहे हैं। आप इसे गहराई से देखते चले जाए। एक मिनट, दो मिनट, पाच मिनट—देखते ही चले जाए। देखते-देखते वह स्थूल रूप नष्ट होता-सा लगेगा और उसका भीतरी रूप, सूक्ष्म रूप हमारे सामने आने लगेगा। आप देखते चलें, देखते चलें, देखते चलें। गहराई मे उतरें। इतने नये-नये पर्याय उस वस्तु के सामने आयेंगे कि आप आश्चर्यचकित रह जाएगे।

आज मै पेंसिल के आकार को देख रहा था। उसकी आकृति पर एकाग्र हो गया। पहले उसके एक रूप को देखा, केवल स्थूल आकार दिखा। दूसरी बार दृष्टि गई तो रग दिखा, तीसरी बार सूक्ष्म अक्षर दिखे। वे पहली बार मे नही दिख सके थे। अब बहुत ही स्पष्ट रूप मे दिखने लगे। पेंसिल एक छोटी-सी वस्तु है, अपने-आप मे अनन्त पर्यायो को समेटे हुए। एक बार के दर्शन से वे अनन्त पर्याय हमारे सामने प्रकट नही होंगे। किन्तु हम जितनी गहराई से, जितनी सूक्ष्मता से देखते चले जाएगे, वे पर्याय, एक-एक कर, क्रमश उद्घाटित होते चले जाएगे। सभव है, यदि हम इसी पेंसिल को पाच-दस दिन तक देखते रहे तो यह पेंसिल पेंसिल नही रहेगी। हमारे लिए यह और कुछ हो जाएगी। यह सत्य के उद्घाटन का माध्यम बन जाएगी।

हम आकार को देखें, बाहर को देखें और भीतर को भी देखें। स्थूल को देखें और सूक्ष्म को भी देखें। देखते रहे, देखते रहे। देखते ही चले जाए। गहरे मे

उतर देखें। देखना, केवल देखना और गहराई से देखना। हम जितनी गहराई से देखेंगे, उतने ही नये-नये पर्याय उद्घाटित होते चले जाएगे, जिनकी प्रथम दर्शन मे कल्पना ही नही की जा सकती। जैसे पेंसिल को देखा, वैसे ही श्वास को देखें। हमारे लिए केवल बाहर की वस्तुए ही नही हैं देखने के लिए। हमारे आसपास भी बहुत है देखने के लिए। श्वास को देखें। श्वास के कपनो को देखे। श्वास किस बिन्दु पर छू रहा है, उसे देखे। श्वास कहा तक जा रहा है, कहा मुड रहा है, कहा से वापस आ रहा है श्वास, और कहा प्रश्वास बन रहा है—यह सब देखें। श्वास की सघनता को देखे। मोटाई को देखे कि कितना मोटा है ? श्वास कितना छोटा है ? अधिक परमाणुओ को लिये हुए है या कम परमाणुओ को लिये हुए है ? श्वास कितना लबा है ? उसकी लबाई को देखें। श्वास की गति को देखें। एक ही श्वास के विभिन्न रूपो को देखते चले जाए।

शरीर को देखें। बहुत छोटा-सा है शरीर का आयतन, पर बहुत बडा खज़ाना है। शरीर का यत्र इतना बडा है कि विश्व की बडी-से-बडी फैक्टरी उसके सामने छोटी पड जाती है। इस छोटे-से शरीर मे अनेक मशीनो का निर्माण हुआ है। यदि कोई मनुष्य निर्माण करने बैठे, तो इतने विकसित विज्ञान के युग मे भी वह सफल नही हो सकेगा। छोटे से इस मस्तिष्क मे अरबो-खरबो कोष्ठक हैं, अत्यत सूक्ष्म। आदमी उनका निर्माण नही कर सकता। किसी भी आदमी की यह क्षमता और योग्यता नही है कि वह इतनी सूक्ष्म मशीनरी का निर्माण कर सके।

अपने पास ही इतना देखने को पडा है कि बाहर जाने की आवश्यकता ही नही है। आप मस्तिष्क के एक-एक कोष्ठक को देखना प्रारभ करें। अरबो-खरबो कोष्ठक है। कोई स्मृति का कोष्ठक है तो कोई सवेदना का कोष्ठक है। कोई क्रोध का कोष्ठक है तो कोई क्षमा का कोष्ठक है। कोई अभिमान का कोष्ठक है तो कोई माया का कोष्ठक है। जितने आवेग, जितनी वृत्तिया, जितनी वासनाए हैं—सबके अलग-अलग कोष्ठक हैं। उन्हे देखें। आज्ञाचक्र को देखें। नासाग्र को देखे। नाभि को देखें। और भी अनेक स्थान है। आप उन्हे देखते चलें। अनेक रहस्य उद्घाटित होते रहेगे।

देखना केवल देखना ही नही है। उसका एक परिणाम भी होता है। शरीर के किसी एक स्थान को देखने का अर्थ होता है कि मन केन्द्रित हो जाता है। जैसे ही आज्ञाचक्र को देखेंगे, मन सहज ही एकाग्र हो जाएगा। क्योकि उस स्थान की अपनी एक विशेषता है कि जैसे ही मन वहा जाता है, वह उसे पकड लेता है। स्थान पकड लेगा। स्थान स्वय मन को वहा टिकाना चाहेगा। हमारे शरीर मे इतनी नाडिया है, इतना बडा नाडी-सस्थान है कि हम उनको देखते ही चले जाए।

हमारे शरीर मे अनेक ग्रन्थिया है। योग के प्राचीन आचार्यों ने उन्हे चक्र

कहा है। आज के शरीरशास्त्री उन्हें ग्लैन्ड्स कहते हैं। जापान में प्रचलित बौद्ध पद्धति 'जूडो' में उन्हें क्यूसोस (Kyushos) कहते हैं। यह एक आश्चर्यकारी बात है कि योग के आचार्यों ने चक्रों के जो स्थान और आकार माने हैं, आज के शरीरशास्त्रियों ने ग्लैन्ड्स के जो स्थान और आकार माने हैं और जूडो पद्धति में क्यूसोस के जो स्थान और आकार माने हैं—वे तीनों समान हैं। विशेष अन्तर नहीं है। तीनों की धारणा समान है।

क्र० सं०	जूडो क्यूसोस	ग्लैन्ड्स	योग-चक्र
१	टेन्डो (Tendo)	पिनिअल ग्लैन्ड	सहस्रार चक्र
२	ऊतो (Uto)	पेच्यूटरी ग्लैन्ड	आज्ञा चक्र
३	हिचु (Hichu)	थाइराइड ग्लैन्ड	विशुद्धि चक्र
४	क्योटोट्सु (Kyototsu)	थाइमस ग्लैन्ड	अनाहत चक्र
५	सुइगटसु (Suigetsu)	सोलार प्लेक्सस	मणिपुर चक्र
६	माइओजो (Myojo)	ऐड्रिनल ग्लैन्ड	स्वाधिष्ठान चक्र
७	सुरिगने (Tsurigane)	पेल्विक प्लेक्सस	मूलाधार चक्र

एक के बाद एक ग्लैन्ड या क्यूसोस या चक्र को देखते चले जाइए। सबके स्थान स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होने लगेंगे। इन्हें देखने का बहुत बड़ा परिणाम होता है।

हमारे सामने देखने के लिए बहुत चीजें हैं। यह प्रश्न व्यर्थ हो जाता है कि हम क्या देखें? देखने के लिए यह शरीर ही पर्याप्त है। शेष जगत् भी बहुत बड़ा है। इतना बड़ा है कि देखने की वस्तुओं का कभी अभाव होगा ही नहीं। देखने के लिए कोई वस्तु निकम्मी नहीं है। जिस वस्तु को हम निकम्मी से निकम्मी मानते हैं, घृणित से घृणित मानते हैं, उनके दर्शन में भी हमें सत्य का दर्शन होता है। ये वस्तुएं निकम्मी या घृणित या खराब तब तक हैं जब तक हमारा दृष्टिकोण दूसरा होता है। जब दृष्टिकोण सत्य को देखने का हो जाता है, फिर कोई वस्तु निकम्मी नहीं है, कोई वस्तु घृणित नहीं है, कोई वस्तु खराब नहीं है। अच्छी-बुरी का भेद समाप्त हो जाता है। केवल यथार्थ को देखने की, सत्य को देखने की बात शेष रह जाती है।

क्या देखें? यह पहला प्रश्न था। इस पर मैंने थोड़ी-सी चर्चा की।

अब दूसरा प्रश्न है—कैसे देखें? यह बहुत ही महत्त्व का प्रश्न है। देखना जितना महत्त्वपूर्ण है उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है—कैसे देखें? इसका सीधा उत्तर

उतर देखे। देखना, केवल देखना और गहराई से देखना। हम जितनी गहराई से देखेंगे, उतने ही नये-नये पर्याय उद्घाटित होते चले जाएगे, जिनकी प्रथम दर्शन मे कल्पना ही नही की जा सकती। जैसे पेंसिल को देखा, वैसे ही श्वास को देखें। हमारे लिए केवल बाहर की वस्तुए ही नही है देखने के लिए। हमारे आसपास भी बहुत है देखने के लिए। श्वास को देखें। श्वास के कपनो को देखें। श्वास किस बिन्दु पर छू रहा है, उसे देखे। श्वास कहा तक जा रहा है, कहा मुड रहा है, कहा से वापस आ रहा है श्वास, और कहा प्रश्वास बन रहा है—यह सब देखें। श्वास की सघनता को देखे। मोटाई को देखें कि कितना मोटा है ? श्वास कितना छोटा है ? अधिक परमाणुओ को लिये हुए है या कम परमाणुओ को लिये हुए है ? श्वास कितना लबा है ? उसकी लबाई को देखें। श्वास की गति को देखें। एक ही श्वास के विभिन्न रूपो को देखते चले जाए।

शरीर को देखें। बहुत छोटा-सा है शरीर का आयतन, पर बहुत बडा खजाना है। शरीर का यत्र इतना बडा है कि विश्व की बडी-से-बडी फैक्टरी उसके सामने छोटी पड जाती है। इस छोटे-से शरीर मे अनेक मशीनो का निर्माण हुआ है। यदि कोई मनुष्य निर्माण करने बैठे, तो इतने विकसित विज्ञान के युग मे भी वह सफल नही हो सकेगा। छोटे से इस मस्तिष्क मे अरबो-खरबो कोष्ठक हैं, अत्यत सूक्ष्म। आदमी उनका निर्माण नही कर सकता। किसी भी आदमी की यह क्षमता और योग्यता नही है कि वह इतनी सूक्ष्म मशीनरी का निर्माण कर सके।

अपने पास ही इतना देखने को पडा है कि बाहर जाने की आवश्यकता ही नही है। आप मस्तिष्क के एक-एक कोष्ठक को देखना प्रारभ करें। अरबो-खरबो कोष्ठक है। कोई स्मृति का कोष्ठक है तो कोई सवेदना का कोष्ठक है। कोई क्रोध का कोष्ठक है तो कोई क्षमा का कोष्ठक है। कोई अभिमान का कोष्ठक है तो कोई माया का कोष्ठक है। जितने आवेग, जितनी वृत्तिया, जितनी वासनाए हैं—सबके अलग-अलग कोष्ठक हैं। उन्हे देखें। आज्ञाचक्र को देखें। नासाग्र को देखे। नाभि को देखें। और भी अनेक स्थान हैं। आप उन्हे देखते चले। अनेक रहस्य उद्घाटित होते रहेगे।

देखना केवल देखना ही नही है। उसका एक परिणाम भी होता है। शरीर के किसी एक स्थान को देखने का अर्थ होता है कि मन केन्द्रित हो जाता है। जैसे ही आज्ञाचक्र को देखेंगे, मन सहज ही एकाग्र हो जाएगा। क्योकि उस स्थान की अपनी एक विशेषता है कि जैसे ही मन वहा जाता है, वह उसे पकड लेता है। स्थान पकड लेगा। स्थान स्वय मन को वहा टिकाना चाहेगा। हमारे शरीर मे इतनी नाडिया है, इतना बडा नाडी-सस्थान है कि हम उनको देखते ही चले जाए।

हमारे शरीर मे अनेक ग्रन्थिया है। योग के प्राचीन आचार्यों ने उन्हे चक्र

गया है। आज के शरीरशास्त्री उन्हें ग्लैन्ड्स कहते हैं। जापान में प्रचलित बौद्ध पद्धति 'जूडो' में उन्हें क्यूशोस (Kyushos) कहते हैं। यह एक आश्चर्यकारी बात है कि योग के आचार्यों ने चक्रों के जो स्थान और आकार माने हैं, आज के शरीरशास्त्रियों ने ग्लैन्ड्स के जो स्थान और आकार माने हैं और जूडो पद्धति में क्यूशोस के जो स्थान और आकार माने हैं—वे तीनों समान हैं। विशेष अन्तर नहीं है। तीनों की धारणा समान है।

क्र० सं०	जूडो क्यूशोस	ग्लैन्ड्स	योग-चक्र
१	टन्डो (Tendo)	पिनिअल ग्लैन्ड	सहस्रार चक्र
२	ऊटो (Uto)	पेच्यूटरी ग्लैन्ड	आज्ञा चक्र
३	हिचू (Hichu)	थाइराइड ग्लैन्ड	विशुद्धि चक्र
४	क्योटोट्सु (Kyototsu)	थाइमस ग्लैन्ड	अनाहत चक्र
५	सुइगट्सु (Suigetsu)	सोलार प्लेक्सस	मणिपुर चक्र
६	माइयोजो (Myojo)	ऐड्रिनल ग्लैन्ड	स्वाधिष्ठान चक्र
७	सुरिगने (Tsurigane)	पेल्विक प्लेक्सस	मूलाधार चक्र

एक के बाद एक ग्लैन्ड या क्यूशोस या चक्र को देखते चले जाइए। सबके स्थान स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होने लगेंगे। इन्हें देखने का बहुत बड़ा परिणाम होता है।

हमारे सामने देखने के लिए बहुत चीजें हैं। यह प्रश्न व्यर्थ हो जाता है कि हम क्या देखें? देखने के लिए यह शरीर ही पर्याप्त है। शेष जगत् भी बहुत बड़ा है। इतना बड़ा है कि देखने की वस्तुओं का कभी अभाव होगा ही नहीं। देखने के लिए कोई वस्तु निकम्मी नहीं है। जिन वस्तु को हम निकम्मी से निकम्मी मानते हैं, घृणित से घृणित मानते हैं, उनके दर्शन में भी हमें सत्य का दर्शन होता है। ये वस्तुएं निकम्मी या घृणित या खराब तब तक हैं जब तक हमारा दृष्टिकोण दूसरा होता है। जब दृष्टिकोण सत्य को देखने का हो जाता है, फिर कोई वस्तु निकम्मी नहीं है, कोई वस्तु घृणित नहीं है, कोई वस्तु खराब नहीं है। अच्छी-बुरी का भेद समाप्त हो जाता है। केवल यथार्थ को देखने की, सत्य को देखने की बात शेष रह जाती है।

क्या देखें? यह पहला प्रश्न था। इस पर मैंने थोड़ी-सी चर्चा की।

अब दूसरा प्रश्न है—कैसे देखें? यह बहुत ही महत्व का प्रश्न है। देखना जितना महत्त्वपूर्ण है उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है—कैसे देखें? इसका सीधा उत्तर

होगा कि आखो से देखें। यह तो ठीक है। आखो से देखना है, किन्तु केवल आखो से देखना ही पर्याप्त नही होगा। आखो से देखने से पहले, जो कुछ अनिवार्य शर्तें है देखने की, उन्हे समझना होगा। पहली शर्त है कि अनासक्त भाव से देखें। तटस्थ भाव से देखें। राग-द्वेष-रहित चेतना से देखें। यदि आसक्ति है तो ठीक दिखाई नही देगा। आख देखेगी, पर यथार्थ नही दिखेगा, कुछ और ही नजर आएगा।

एक रसिक आदमी ने स्त्री का गोल चेहरा देखा। उसे वह चाद-सा प्रतीत हुआ। भूखे आदमी ने स्त्री का गोल चेहरा देखा। उसे वह रोटी-सा लगा। एक के साथ कामासक्ति जुडी हुई है, एक के साथ पदार्थासक्ति जुडी हुई है। अब स्त्री का मुह चाद कैसे हो सकता है ? वह रोटी कैसे हो सकता है ?

नाटक मे एक कल्पना की गयी है कि जब भी भूखा आदमी चाद को देखता है, पूर्णिमा के चाद को देखता है, तो उसकी आखो मे गोल-गोल रोटी तैरने लगती है।

हम आखो से देखते हैं, पर जो है वह दिखाई नही देता। उसके साथ जो हमारी आसक्ति जुडी होती है, वह दिखाई देने लग जाती है। बहुत बार असुन्दर सुन्दर दिखाई देता है और सुन्दर असुन्दर दिखाई देता है। जिसके साथ आसक्ति जुडी हुई होती है वह असुन्दर भी सुन्दर प्रतीत होगा। जिसके साथ घृणा जुडी हुई है, तिरस्कार का भाव जुडा हुआ है, वह सुन्दर भी असुन्दर दिखाई देगा। आखें वेचारी यथार्थ को कहा देख पाती है। आखो पर आवरण पडा है आसक्ति का, राग-द्वेष का, प्रियता-अप्रियता का। जब तक यह आवरण दूर नही होता, आसक्ति नही मिटती, राग-द्वेष नही मिटता, प्रियता और अप्रियता का भाव नष्ट नही होता, तब तक आखे यथार्थ को नही देख पाती। जो है उसे उसी रूप मे नही देख पाती। आदमी अच्छा है। वह हमे बुरा दिखाई देता है, हम उसे बुरा मान लेते हैं। आदमी बुरा है। वह हमे अच्छा दिखाई देता है, हम उसे अच्छा मान लेते हैं। क्योकि अच्छा मानने और बुरा मानने के साथ दूसरी भावना काम कर रही है। इसलिए अनासक्त भाव से देखें, तटस्थ भाव से देखें, केवल यथार्थ दीखेगा। जो घटित हो रहा है, उसे ही देखें। किसी चिन्तन या भावना या सवेदना को साथ मे न जोडे। यह अनासक्त भाव से देखना, राग-द्वेष-रहित चेतना से देखना, तटस्थ भाव से देखना, जो जैसा है उसे वैसा ही देखना—यह है हमारा देखने का प्रकार।

जव अनासक्त चेतना जागृत हो जाती है तो फिर हम किसी भी माध्यम को काम मे ले सकते हैं। आख एक माध्यम है। स्थूल विषय, जो आख के माध्यम से दृश्य है, उन्हे हम आख से देखें। जो मन से देखे जाने योग्य है, उन्हे हम आख मूदकर मन से देखे। यदि आखें खुली रखकर देखना चाहे तो भी हम देखें। भीतर देखें।

यह है 'अनिमेष दर्शन'। किसी वस्तु को एकटक देखें। आंखें खुली हैं, उन्हें खुली रहने दें। पलक न झपकाएं। एकटक देखें। यह होगा 'अनिमेष दर्शन'—एकटक देखना। तंत्र और हठयोग में इसे 'त्राटक' कहा गया है। त्राटक का अर्थ है—एक बिन्दु को अपलक दृष्टि से देखना, निरन्तर देखना।

तीसरा प्रश्न है—क्यों देखें? देखना चेतना का मूल स्वभाव है। सोचना बुद्धि का काम है। बुद्धि चेतना की एक रश्मि है। विचारना उसका एक आलोक है। देखना अखण्ड चेतना का काम है। जब चेतना अनावृत होती है तब केवल दर्शन होता है, चिन्तन नहीं होता। देखना हमारा स्वभाव है, इसलिए क्यों देखें—यह प्रश्न ही नहीं होता। हम अपने स्वभाव से कम परिचित हैं, इसलिए यह प्रश्न होना अस्वाभाविक भी नहीं है। जितना गहरा और स्थिर देखते हैं, उतनी ही एकाग्रता होती है। उतनी ही समाधि पुष्ट होती है। समाधि का सबसे ऋजु उपाय है देखना। किसी एक बिन्दु या लक्ष्य पर मन को स्थिर करें और निरन्तर देखते जाएं। कुछ ही क्षणों में निर्विचारता घटित हो जाएगी, समाधि का अनुभव होने लगेगा। देखने की निरन्तरता जैसे-जैसे बढ़ेगी, वैसे-वैसे समाधि पुष्ट होती चली जाएगी।

एकाग्रता और निर्विचारता के जितने साधन हैं—मंत्र, जप, श्वास-निरोध, एक विचार का अवलम्बन आदि-आदि—वे सब स्वाभाविक नहीं हैं। इनमें कुछ विशेष विकल्प या प्रयत्न करना होता है। देखना स्वाभाविक है। उसमें किसी शब्द, विचार या विकल्प का सहारा लेना आवश्यक नहीं होता। मन को बल-पूर्वक नियोजित करने की स्थिति भी नहीं आती। केवल मन का नियोजन करना होता है। उससे सहज ही स्वभाव उद्बुद्ध हो जाता है और छिपी हुई शक्ति प्रकट हो जाती है। स्वभाव की अनुभूति, चैतन्य का साक्षात्कार, स्थूल में छिपे हुए सूक्ष्म का प्रत्यक्षीकरण, आनन्द और शक्ति की अनुभूति सतत दर्शन के द्वारा ही हो सकती है। इसलिए देखने का अर्थ बहुत गंभीर और बहुत जटिल नहीं है, बहुत सीमातीत भी नहीं है।

दर्शन (देखने) के तीन प्रश्न हैं—क्या देखें? कैसे देखें? क्यों देखें? इन तीनों प्रश्नों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत है।

अब दूसरा पक्ष है—सोचना। सोचना, विचार करना, चिन्तन करना। विचार भी सत्य की उपलब्धि का बहुत बड़ा साधन है। व्यर्थ नहीं है। विचार की सफलता होती है। विचार की भी साधना है। विचार की व्यर्थता तब होती है जब वह किसी एक विषय पर केन्द्रित नहीं होता। केवल विचार करते चले जाते हैं, तब विचार की व्यर्थता होती है। समझदार आदमी और पागल आदमी में अन्तर क्या है? कोई बड़ा अन्तर नहीं है। छोटा-सा अन्तर है। जो आदमी, जब चाहे तब अपने विचारों पर नियंत्रण कर सकता है, वह होता है, समझदार आदमी।

जो आदमी अपने विचारो पर नियत्रण नही कर सकता, वह होता है पागल। समझदार आदमी भी विचारता है और पागल आदमी भी विचारता है। आप न मानें कि पागल सोचता-विचारता नही। वह भी सोचता-विचारता है। किन्तु जो विचार उसके मन मे आ गया, उसे वह छोड नही सकता। वह विचार की पकड मे आ जाता है। उस विचार का सातत्य चलता रहता है, छूटता नही। तो जो विचार की पकड मे है, जो विचार को छोड नही पाता वह पागल है और जिसमे विचारो को छोडने की क्षमता है, विचारो को वदलने का सामर्थ्य है, वह समझदार है। वस, इतना-सा अन्तर है। छोटा-सा फर्क है। एक छोटी-सी, पतली-सी सूक्ष्म रेखा है दोनो के वीच।

एक विपय पर विचार करते-करते, जव चाहा तब विषय वदल देना और दूसरे विपय मे चला जाना—यह क्षमता वहुत उपयोगी है।

हम विचार के द्वारा ही सत्य को समझ सकते है, सत्य को जान सकते है। इस विचार-ध्यान के द्वारा वहुत वडे-वडे तथ्यो का अनुसधान किया गया है। एक पद्धति रही है प्राचीन, जो प्राय योग की सभी शाखाओ मे मिलती है। आचार्य शिष्य को एक कोई समस्या दे देता है और कहता है—इसका समाधान ढूढो। कोई पुस्तक मे नही ढूढना है। पुस्तक उसमे सहयोगी वन भी नही सकती। एक विचार दे दिया। एक समस्या दे दी। उस पर विचार करते रहो। उस पर चिन्तन करते रहो। एक दिन, दो दिन, दस दिन—जव तक कि उसका समाधान न मिले, विचार करते रहो, चिन्तन करते रहो। इस प्रक्रिया से अनेक दूर की वातो का पता लगाया गया, अतीत की घटनाओ का पता लगाया गया और भविष्य मे घटित होने वाली घटनाओ को जाना गया।

एक पत्थर का टुकडा हाथ मे ले लिया। यह पत्थर किन तत्त्वो से वना है—यह खोजना है। इस प्रश्न का उत्तर पाना है। यह पत्थर किन-किन अवस्थाओ से गुज़रा है—यह जानना है। एक समस्या सामने आ गयी। पत्थर को ले लिया। विचार प्रारभ हुआ। विचार चलता रहा, चलता रहा, चलता रहा। कही नही रुका। एक ही विचार। आते-आते एक स्थिति ऐसी आती है कि पत्थर अव्यक्त रूप मे अपना सारा इतिहास वता देता है, कह देता है।

एक शब्द है। हमे उसके अर्थ को जानना है। हमने उसके अर्थ को सोचना शुरू किया। शब्द अपने आप कोई अर्थ नही वताता। किन्तु हमने उसको एक समस्या वनाकर ले लिया। उस पर चिन्तन करते चले, चिन्तन करते चले। एक समय ऐसा आता है कि वह शब्द अपने आप अर्थ वता देता है।

महर्षि चरक आयुर्वेद के पुरस्कर्ता थे। वे जगल मे चले जाते। पौधो के सामने वैठकर कहते—'अरे, तुम मुझे वताओ, तुम्हारा उपयोग क्या है ? तुम किस वीमारी मे काम आते हो ? तुम्हारा परिणाम क्या हो सकता है ? वताओ।

अपनी जबानी अपनी गाथा सुनाओ।' इन विचारों में वे तन्मय हो जाते। इसी समस्या को लेकर वे एकाग्र हो जाते। एकाग्रता के चरम बिन्दु पर पहुंचते ही वह पौधा या वृक्ष अपने सारे गुण-धर्म बता देता। वस्तु जान जाते। वह एक सत्य घटना हो जाती। वृक्ष नहीं बोलता था। पौधा नहीं बोलता था। किन्तु उस समस्या के आधार पर, चिन्तन चलते-चलते, मन की इतनी गहरी पकड हो जाती कि मन सूक्ष्म पर्यायों का साक्षात्कार कर लेता है। अपने आप सारे पर्यायों का उद्घाटन हो जाता है। यह विचार की प्रक्रिया, सत्य को जानने की बहुत सशक्त प्रक्रिया है। इसके द्वारा अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। आज भी अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया जा सकता है। जैन परिभाषा में इसे 'धर्म्य ध्यान' कहा है।

दो ध्यान शुभ माने जाते हैं—धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान। शुक्ल ध्यान का अर्थ है—आत्मा को देखना। यहां आत्म-साक्षात्कार की बात आ जाती है। धर्म्य-ध्यान का अर्थ होता है—वस्तु का स्वभाव। यहां धर्म नहीं, धर्म्य है। धर्म-अधर्म, ये शब्द नहीं हैं। ये दोनों आचार से संबंधित हैं, आचरण से संबंधित हैं। धर्म्य शब्द से इनका संबंध नहीं है। धर्म्य का अर्थ है—वस्तु-स्वभाव। वस्तु के स्वभाव को विचार के द्वारा जानना, विचय के द्वारा जानना, चिन्तन के द्वारा जानना—यह है धर्म्य ध्यान की प्रक्रिया। इसके द्वारा वस्तु के गुण-धर्म जाने जा सकते हैं। हम जान सकते हैं कि वस्तु के गुण क्या हैं? दोष क्या हैं? इसके द्वारा वस्तु के गुण-दोष जाने जा सकते हैं। वस्तु का आकार जाना जा सकता है। वस्तु की प्रकृति जानी जा सकती है। वस्तु का भीतरी स्वरूप, सूक्ष्म स्वरूप जाना जा सकता है। यह सारा है—विचय ध्यान या विचार ध्यान या चिन्तन ध्यान। इसका तात्पर्य है—विचार-प्रधान ध्यान, चिन्तन प्रधान ध्यान। हम ऐसा न मानें कि सोचना ध्यान नहीं है, विचार करना ध्यान नहीं है। विचार करना भी ध्यान है, सोचना भी ध्यान है। परन्तु विचार करना ध्यान तब बनता है जब वह विचार एक दिशा-प्रवाही हो, बिखरा हुआ या छितरा हुआ न हो। एक दिशा में बहने वाला पानी धारा बन जाता है। धारा चाहिए। ध्यान के लिए धारा होना बहुत जरूरी है। छितरे हुए या बिखरा पानी धारा नहीं बन सकता। वैसे ही बिखरे विचार ध्यान नहीं हो सकते। वे विचार जब केन्द्रित हो जाते हैं, एक दिशागामी हो जाते हैं तब ध्यान बन जाते हैं।

विचार भी ध्यान है। निर्विचार भी ध्यान है। ध्यान दोनों हैं। दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। एक दिशा में प्रवाहित होने वाले विचार ध्यान हैं। यह है विचार-ध्यान। इसकी अगली भूमिका है निर्विचार ध्यान। वहां विचार नहीं होता केवल देखना होता है। होना जरूरी है कुछ न कुछ। यह न मानें कि निर्विचार ध्यान में कुछ भी नहीं होता। कुछ नहीं होना यह मूर्च्छा की स्थिति है, ध्यान की स्थिति नहीं है। ध्यान में कुछ न कुछ उद्देश्य या लक्ष्य या विषय होना है। वह

प्रश्न है कि एक दिशा मे हम सोचते हैं, वह ध्यान होगा या हम देखते हैं, वह ध्यान होगा ? एक दिशा मे सोचना विचार-ध्यान है और देखना निर्विचार ध्यान है। ध्यान दोनो है।

प्रेक्षा ध्यान मे दोनो के लिए अवकाश है। प्रेक्षा का अर्थ है—निर्विचार ध्यान, देखने का ध्यान। प्रेक्षा-ध्यान का पहला अग है देखना। इसमे हम देखते हैं, विचार नही करते। शरीर को देखना है, विचार नही करना है। शरीर मे जो कुछ घटित हो रहा है, उसे देखना है। कहा स्पदन है ? कहा चचलता है ? कहा शब्द निकल रहा है ? कहा धडकन है ? कहा कौन-सा अवयव सक्रिय है ? जो कुछ हो रहा है, उसे देखना हैं। केवल देखना है, सोचना-विचारना कुछ भी नही है। हमारे शरीर के भीतर अनेक प्रकार की क्रियाए सतत हो रही है। अनेक प्रकार के शब्द हो रहे है। हम उन क्रियाओ को नही जानते, उन शब्दो को नही सुन पाते। क्योकि बाहर से इतने शब्द आ रहे है कि उन सूक्ष्म शब्दो को सुनने का अवसर ही नही मिलता। शरीर मे अनेक शब्द हो रहे है। ध्यान से सुने, वे सुनाई देंगे। हृदय की धडकन टिक्-टिक् आपको सुनाई देगी। रक्त का प्रवाह निरतर बह रहा है। उसका शब्द भी आप सुन सकेंगे। आपको सूक्ष्मता मे जाना होगा। पूर्ण एकाग्र होना होगा, तभी ये सूक्ष्म आवाजे सुनाई देगी। प्रेक्षा-ध्यान है—केवल देखना, सोचना-विचारना कुछ भी नही।

प्रेक्षा-ध्यान का दूसरा अग है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—ध्यान मे जो कुछ हमने देखा, उसके परिणामो पर विचार करना। 'अनु' का अर्थ है—बाद मे होने वाला। ध्यान मे जो देखा, प्रेक्षा मे जो देखा, देखने के बाद उसकी प्रेक्षा करना, परिणामो पर विचार करना, यह है अनुप्रेक्षा। 'अनु' अर्थात् बाद मे, प्रेक्षा अर्थात् विचार करना। जैसे—हमने देखा कि शरीर के अमुक भाग मे स्पदन हो रहा है। परमाणु आ रहे हैं, जा रहे है। परमाणुओ का उपचय हो रहा है, अपचय हो रहा है। परमाणु घट रहे है, बढ रहे है। यह सारा देखा। अब सोचना है, इसका परिणाम क्या होगा ? हम अनित्य अनुप्रेक्षा करेंगे कि जहा परमाणुओ का स्पदन है, आना-जाना है, वह नित्य नही हो सकता, अनित्य होगा तो हम समझ लेंगे कि शरीर अनित्य है। शरीर अनित्य है—इसे जानने का आधार क्या है ? जानने का आधार है—प्रेक्षा। जब हमने प्रेक्षा मे यह देखा कि शरीर मे स्पदन है, कपन है, गति है, परमाणुओ का आना-जाना है, परमाणुओ का चय-अपचय है, इसका अर्थ है कि वह अनित्यधर्मा है। इस अनित्यता का अनुभव करना, विचार करना, चिन्तन करना—यह है अनुप्रेक्षा।

प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा—दोनो साथ-साथ चलेगे। हम प्रेक्षा भी करेगे। अनुप्रेक्षा भी करेंगे। निरतर प्रेक्षा नहीं हो सकती। निरतर अनुप्रेक्षा भी नही हो सकती। कभी प्रेक्षा करें, कभी अनुप्रेक्षा करे। पहले प्रेक्षा करे, फिर अनुप्रेक्षा करे। पहले

देखें, फिर उसके परिणामों पर विचार करें चिन्तन करें, और जो निष्कर्ष निकले उससे लाभ उठाएं।

ध्यान के दो चरण हैं—प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा। हम देखें और सोचें। इन दोनों प्रकार के ध्यानों का अवलम्बन लेकर सत्य का बोध करें, यथार्थ को जानें, समझें और तटस्थ भाव से इनका अभ्यास करें। इससे प्रेक्षा-ध्यान की सफलता प्राप्त हो सकेगी। प्रेक्षा ध्यान का प्रयोजन ही है कि हम ध्यान की गहराई में जाकर देखने और सम्यक् प्रकार से चिन्तन करने का अभ्यास कर सकें और सत्य का साक्षात् कर सकें।

२

शरीर को साधें

पहले पॉवर हाउस बनता है। फिर तार खीचे जाते है। फिर बिजली उन तारो मे प्रवाहित होती है और फिर बल्ब मे प्रकट होती है। बिजली तब तक प्रकट नही होती जब तक बल्ब न मिले। हम केवल विद्युत् प्रवाह (करट) पर ही ध्यान केन्द्रित नही करते, किन्तु वह जिसमे अभिव्यक्त होता है उस पर भी पूरा ध्यान केन्द्रित करते है।

हमारा शरीर शक्तियो की अभिव्यक्ति का सबसे शक्तिशाली माध्यम है। हम यदि केवल शक्तियो पर अपना ध्यान केन्द्रित करे और उन शक्तियो के अभिव्यक्त होने के माध्यम पर ध्यान केन्द्रित न करे तो इससे भयकर भूल और कोई नही होगी। शरीर माध्यम है। उसकी उपेक्षा करना भीषणतम भूल होगी।

सबसे पहले हमे इस बात पर ध्यान देना होगा कि हमारा शरीर प्रकट होने वाली शक्तियो को झेल पाने मे समर्थ है या नही ? सशक्त है या नही ? इसमे क्षमता है या नही ? यदि वह सशक्त नही है, सक्षम नही है तो किसी भी शक्ति का उसमे अवतरण नही होगा। कोई भी शक्ति अभिव्यक्त नही होगी। दुर्बल शरीर से किसी भी शक्ति का अवतरण नही होता। हमारे शरीर के जितने शक्ति-केन्द्र हैं वे पूरे शक्तिशाली बन जाते है तभी उसमे किसी विशेष शक्ति का अवतरण हो सकता है। इस दृष्टि से मैं एक तथ्य आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हू कि हम शरीर के प्रति उदासीन न हो, उसके प्रति घृणा का भाव न रखें। हम शरीर से प्रेम करना सीखे। प्रेम करें और इसलिए करें कि यह शरीर ही हमारी सारी सफलताओ का माध्यम है, सबसे बडा और शक्तिशाली माध्यम है। इस शरीर के बिना कुछ भी नही हो सकता। सबसे पहले हम शरीर को समझें और शरीर मे रहे हुए विभिन्न शक्ति-केन्द्रो को समझें, चैतन्य-केन्द्रो को समझें।

शरीर क्या है ? सामान्यत यही समझा जाता है कि मास, रक्त और गदगी का पुतला है शरीर। इसमे है—हड्डिया, वसा और मज्जा। बडा बीभत्स रूप है, जिसे देखते ही मन घृणा से भर जाता है। शरीर का बीभत्स रूप हमारे सामने

शक्ति नही है । पतले कपडे मे भारी चीज डालने से कपडा फट जाता है । जितना भार है, उस भार को उठाने की, झेलने की जिसमे क्षमता है, वही उस भार को उठा सकता है, झेल सकता है ।

शरीर का सहनन, शरीर की सरचना यदि दुर्बल है, हमारा स्नायु-सस्थान दुर्बल है, कमजोर है और यदि उसमे कैवल्य जैसी शक्ति का अवतरण हो जाए तो शरीर फट जाएगा । उसे झेल नही पायेगा । चूर-चूर हो जायेगा । कैवल्य की बात तो दूर, छोटी-मोटी शक्ति के अवतरण को भी वह झेल नही पायेगा । चूर-चूर हो जाएगा ।

मस्तिष्क मे एक चक्र है—सहस्रार । वह शक्ति-केन्द्र है । कोई दुर्बल व्यक्ति उस शक्ति-केन्द्र पर ध्यान करता है । ध्यान के साथ वह चक्र सक्रिय हो जाता है । उसकी सक्रियता गर्मी पैदा करती है, ताप और ऊर्जा पैदा करती है । वह गर्मी इतनी तीव्र होती है कि दुर्बल शरीर उसे सह नही सकता, झेल नही सकता । आदमी पागल हो जाता है ।

सामान्यत बता दिया जाता है कि सहस्रार चक्र पर ध्यान करो, मन को एकाग्र करो । परन्तु साथ मे यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि किस अवस्था मे उस केन्द्र पर ध्यान करना चाहिए । जब तक हम आज्ञाचक्र को नही साध लेते, आज्ञाचक्र पर ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता का विकास नही कर लेते और सीधा सहस्रार चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने के प्रयत्न मे लग जाते है तो अनर्थ घटित हो सकता है । लाभ के बदले अलाभ हो सकता है । वह प्रयत्न सार्थक नही होगा, क्योकि उस तीव्र ताप को झेल सकने की क्षमता हमारे शरीर मे नही है । अनेक ध्यान-साधक पागल हो जाते है । यह ध्यान का दोष नही है । यह स्वय ध्यान-साधक का दोष है, क्योकि वह इस बात को नही जानता कि कब, किस स्थिति मे, कहा ध्यान करना चाहिए ? पहले किस शक्ति का विकास करना चाहिए और किस शक्ति का बाद मे विकास करना चाहिए ? जहा यह ज्ञान नही होता, वहा तनाव बढता है, ताप बढता है, लाभ के बदले नुकसान होता है ।

हम इस बात को भी समझें कि शरीर की शक्तियो के विकास का भी एक क्रम है । शरीर को हमे साधना है तो उन शक्तियो का क्रमिक विकास करना होगा । सबसे पहले हम बैठना सीखे । शरीर को साधने का पहला चरण है—बैठना सीखना । यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । इसी के आधार पर आसनो का विकास हुआ है । हजारो-हजारो प्रकार बैठने के बतलाए गए है । एक-दो नही, हजारो प्रकार । बहुत छोटी-सी बात लगती है यह कि हम बैठने पर इतना ध्यान क्यो दें ? इतने प्रकार की क्या जरूरत है ? आसनो के इतने भारी विकास की क्या आवश्यकता थी ?

एक छोटी-सी बात है—बैठने की । आदमी जैसा चाहे वैसा बैठ जाए । किन्तु

नही साधा, वह साधना करता हुआ भी अपने प्रयत्न मे सफल नही हो सकता।

हमारे शरीर मे अनेक चैतन्य-केन्द्र हैं, जहा चेतना विकसित है, प्रकट है। इन केन्द्रो के माध्यम से विशेष शक्तियो का अवतरण होता है। हम उन केन्द्रो को साधे, विकसित करें। जब तक हम उनको विकसित नही करेंगे, तब तक उनका उपयोग नही हो सकेगा। एक कहानी है, किन्तु वह इस तथ्य को स्पष्ट करने वाली है।

एक भाई अपनी बहन के घर गया। भोजन का समय हुआ। न जाने बहन के मन मे क्या बात उत्पन्न हुई, उसने थाली मे गेहू परोसे और उसे भाई के सामने रख दी। भाई प्राकृतिक चिकित्सा नही करवा रहा था कि कच्चे गेहू खाए। परन्तु बहन ने परोसा। भाई ने देखा। वह बोला—'बहन! यह क्या? ये कैसे खाए जा सकते है?' बहन बोली—'भैया! मैंने मूल वस्तु परोसी है। सारे खाद्य इसी से बनते है। यह मूल खाद्य है। मैंने सोचा—भाई घर आया है। उसे मूल का ही भोजन कराऊ।' भाई ने सुना। बिना कुछ खाए उठ गया। बेचारा खाता भी तो क्या?

कुछ महीने बीते। बहन की लडकी के विवाह का प्रसग आया। बहन के घर उसने एक पूडा भेजा। भाई के घर से कुछ आया देख, बहन प्रसन्न हुई। उसने पूडा खोला। उसमे रूई थी। केवल रूई। बहन को कुछ भी समझ मे नही आया। वह बढिया कपडो की आशा लगाए बैठी थी। पर मिली उसको केवल रुई। कुछ दिनो बाद भाई भी आ गया। बहन ने पूछा—'यह क्या मज़ाक! विवाह मे रुई का क्या प्रयोजन? भेजने थे कपडे और भेजी रुई। यह क्यो?' भाई बोला—'बहन! मैंने मूल भेजा है। सारे कपडे इसी रुई से बनते हैं। मैंने सोचा—कपडो का क्या भेजना। बहन के घर विवाह है। कपडो का मूल ही भेज दू, इसीलिए रुई भेजी है। यह सब कपडो का मूल है।'

सारा भोजन गेहू से बनता है और सारे कपडे रुई से बनते है, यह सही है, पर बात अधूरी है, पूरी नही। मैं भी मानता हू कि गेहू से भोजन बनता है और रुई से कपडे बनते हैं किन्तु केवल गेहू से न पेट भरता है और केवल रुई से न लज्जा का निवारण होता है और न सर्दी-गर्मी से बचाव ही होता है। गेहू से भोजन बनाना होता है, तब भूख मिटती है। रुई से कपडा बुनना होता है तब लज्जा का निवारण हो सकता है और सर्दी-गर्मी से बचाव हो सकता है। पेट तभी भरेगा जब गेहू से रोटी बनाकर खायी जाएगी। सर्दी-गर्मी से तभी बचाव हो सकता है जब रुई से कपडा बुन लिया जाता है।

हमारा शरीर मूल है, कच्ची सामग्री है। इससे हम जो चाहे बन सकते है, प्राप्त कर सकते हैं। इसमे हमारे सभी शक्ति के केन्द्र और चैतन्य के केन्द्र मौजूद हैं कि जहा से हम वर्तमान को भी देख सकते हैं, अतीत को भी देख सकते हैं और

अचल खडे रहे । क्या यह सभव है कि एक व्यक्ति एक वर्ष तक, पूरे बारह महीने तक खडा रह सके ? हिले-डुले नही। असभव-सा लगता है। सब ऐसा नही कर सकते । किन्तु जिस व्यक्ति ने अपनी शक्तियो को जागृत करने के लिए, अपने शक्ति केंद्रो को विकसित करने के लिए, प्रकट करने के लिए, शरीर को साध लिया, वह व्यक्ति ऐसा कर सकता है। ऐसा हो सकता है। इस स्थिति को नकारा नही जा सकता। हम यह न माने कि वह सभव नही है किन्तु यह मानें कि हमने उसे सभव बनाने का प्रयत्न नही किया जिसे सभव बनाया जा सकता है।

पहली बात है—आसनो की। इसमे खडा रहना, लेटना और बैठना—तीनो बाते समा जाती है। शरीर को साधने के लिए आसनो को साधना बहुत जरूरी है। आसनो को साधने का अर्थ है—सोए हुए शक्ति-केन्द्रो को जगाना, सक्रिय बनाना, गतिशील बनाना। शरीर को साधने का आसन ही एकमात्र साधन नही है। दूसरा साधन है श्वास।

श्वास शरीर से अलग नही है, उसी का एक भाग है। श्वास को साधने का अर्थ है शरीर को साधना और शरीर को साधने का अर्थ है श्वास को साधना।

दूसरा प्रश्न है कि श्वास कैसे ले। जैसे आसनो के हजारो प्रकार विकसित हुए हैं, वैसे ही शक्ति-जागरण की दृष्टि से श्वास लेने के हजारो प्रकार विकसित हुए है। आज हमे सभी प्रकारो का प्रयोग नही करना है। कुछ सीमित प्रयोग हम करे।

प्रेक्षा ध्यान मे हम दीर्घ श्वास, समवृत्ति श्वास और सहज श्वास—इन तीनो का प्रयोग कर रहे है। ये तीन ही प्रकार नही है। श्वास प्रयोग अनेक आसनो मे विकसित हुआ है। एक व्यक्ति घटो तक श्वास को रोककर बैठ सकता है। एक व्यक्ति घटा भर भस्त्रिका प्राणायाम कर सकता है। तेज श्वास से सारे शरीर को प्रकपित कर सकता है। एक व्यक्ति सूक्ष्म श्वास के द्वारा सारे शरीर को निस्पद जैसा बना लेता है। ये बहुत सारे प्रयोग है। यह विकास आत्मिक विकास नही है। इस विकास के पीछे यही दृष्टि थी कि किस प्रकार इन शक्ति-केंद्रो को मजबूत और दृढ बनाया जा सकता है। कोई भी लुहार या स्वर्णकार धौकनी के समक्ष सोना या लोहा रखकर तपाता है। गर्म करता है। वह व्यर्थ ही नही करता, वह व्यर्थ ही धौकनी को नही चलाता और व्यर्थ ही लोहे या सोने को आग मे नही तपाता। वह उन्हे इसलिए तपाता है कि लोहा या सोना तपकर ऐसा बन जाए कि वह उन्हे जिस आकार मे ढालना चाहे, ढाल दे। सोने को इसलिए पिघाला जाता है कि जिस आकार मे हम उसे गढना चाहे, गढ सकें। इसी प्रकार प्राणायाम श्वास की आच मे हमारे शक्ति-केन्द्रो को ढालने की एक प्रक्रिया है। यह वह प्रक्रिया है जिस मे हम उन शक्ति-केंद्रो को इच्छित रूप मे ढाल सकते है, उनकी शक्ति को विकसित कर सकते है। हम उनको इतना विकसित कर लेते है कि बडी-से-बडी शक्ति का उनमे अवतरण हो सकता है। हमारा समूचा स्नायु-सस्थान, नाडी-सस्थान, जो

तब तक कोई भी विशेष प्रक्रिया नही हो सकती। स्वास्थ्य के लिए भी यही बात है। जब तक अमुक प्रकार के हार्मोन नही होते, तब तक स्वास्थ्य भी ठीक नही रह सकता।

'थाइराइड' एक ग्रन्थि है। यदि उसका स्राव ठीक नही है, उचित मात्रा मे नही है तो या तो आप निराशा से भर जाएगे या आप मे हीन भावना पैदा हो जाएगी। अगर शरीर बच्चे का है तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाएगा। शरीर का बढना या नाटा रहना—ये सारे कार्य उन ग्रन्थियो के स्रावो पर निर्भर हैं। कोई आदमी चिडचिडे स्वभाव वाला होता है, कोई आदमी बहुत प्रसन्न-मुद्रा मे रहता है। इसे आप केवल कर्म का ही फल न मानें। कर्म का भी फल हो सकता है। किन्तु कर्म का फल किस माध्यम से प्रकट होगा, इस पर भी हम ध्यान दे। हमने सबसे बडी भूल यह की है कि हमने मान लिया कि प्रत्येक कार्य, क्रिया या तो कर्म के आधार पर होती है या भावना के आधार पर होती है। या और कोई दूसरा निमित्त मान लिया। किन्तु इस बात को भुला दिया कि इसके पीछे शरीर का भी हाथ है, बहुत बडा योग है। शरीर की उपेक्षा कर दी। हमने शरीर की उपेक्षा करने को ही वैराग्य मान लिया। इसे ही हमने विरक्ति समझ लिया। हमने यह मान लिया कि शरीर भी क्या कोई ध्यान देने की चीज़ है? कोई आवश्यकता नही है उस पर ध्यान देने की।

यह भूल-भरा दृष्टिकोण है। हमारी भावनाओ के साथ शरीर का सबध है, हमारी प्रसन्नता के साथ शरीर का सबध है, हमारी शक्ति के विकास के साथ शरीर का सबध है। इस बात को कभी न भूलें। हम अब साधना की चर्चा करते हैं और विशेष प्रकार की शक्तियो की अभिव्यक्ति अपने मे करना चाहते है तो सबसे पहले इस बात पर ध्यान केन्द्रित करे कि हमने शरीर को कितना साध लिया है? हमने शरीर को कितना उपयुक्त बना लिया है? कोई भी चित्रकार उपयुक्त भित्ति के बिना चित्र का निर्माण नही कर सकता। बहुत सुन्दर चित्र बनाना है और भीत लीपी हुई है गोबर से, तो सुन्दर चित्र कैसे उभरेगा? सुन्दर चित्र के लिए उपयुक्त भूमिका और उपयुक्त स्थिति और उपयुक्त उपकरण चाहिए। इतना होने पर ही सुन्दर चित्र बनाया जा सकता है।

इस प्रकार हम मूल को न भूलें। मूल की बात को विस्मृत न करें। शरीर को साधना है, उसके विशिष्ट केंद्रो को जानना और विकसित करना है, उनको शक्तिशाली बनाना है। ऐसा करना अत्यन्त ज़रूरी है।

मनोविज्ञान मे एक शब्द प्रचलित है—मनोदैहिक। इसका अर्थ है—शरीर और मन से सबधित। हम शरीर और मन को सर्वथा अलग नही कर सकते। वास्तव मे मन शरीर का ही एक भाग है, हिस्सा है। शरीर की समूची क्रिया मस्तिष्क के द्वारा होती है और मस्तिष्क स्वय शरीर का ही एक हिस्सा है।

चक्र से स्वाधिष्ठान चक्र के नीचे तक के भाग की ऊष्मा से प्राण तत्त्व उत्पन्न होता है। वही प्राण हमारी जीवनशक्ति और प्राणशक्ति है। वही हमारे जीवन को सचालित करती है। उस शक्ति को पैदा किया जाए।

एक प्रयोग आपके सामने प्रस्तुत करू। मैंने स्वय इसका बहुत बार प्रयोग किया है। चलते-चलते जब थक जाता हू, ऐसा लगने लगता है कि शरीर शिथिल हो गया है, पैर थक गए है तो उसका प्रयोग करता हू और कुछ ही क्षणो मे ताजगी का अनुभव होने लगता है, थकान मिट जाती है। बैठे-बैठे जब शिथिलता का अनुभव होता है तो दस-बीस बार इस प्रयोग को दोहराता हू और तत्काल शिथिलता मिट जाती है, ताजगी का अनुभव होने लगता है। यह प्राण-शक्ति को उत्पन्न करने का प्रयोग है। यह प्रयोग है—मूलबध का। आप अपनी गुदा का सकुचन करें। दस-बीस मिनिट तक इस मुद्रा मे रहे। आपको तत्काल अनुभव होगा कि नयी शक्ति का सचार हो रहा है, ताकत आ रही है। क्योकि प्राण उत्पन्न होने का जो केन्द्र है, उस पर हमने सयम कर लिया, उसे नियन्त्रित कर लिया। उसे जेनरेटर बना लिया। वहा शक्ति का सचय होता है।

शक्ति उत्पन्न करने मे बाहर का सहारा भी लिया जा सकता है। सूर्य प्राणशक्ति का, जीवनशक्ति का सबसे बडा केन्द्र है, खजाना है, भडार है। वह अक्षय कोष है। हम सूर्य के द्वारा भी प्राणशक्ति को खीच सकते हैं। प्रात काल के समय, सूर्योदय के समय, सूर्य के सामने खडे होकर यदि हम सकल्प करें कि प्राणशक्ति का सग्रह हो रहा है, सचय हो रहा है, मस्तिष्क के मार्ग से प्राणशक्ति का अवतरण हो रहा है, दस-बीस मिनिट इस सकल्प को दोहराए और ध्यानस्थ मुद्रा मे खडे रहें—आपको अनुभव होगा कि नयी शक्ति का सचार हो रहा है, स्फूर्ति का सचार हो रहा है।

मैंने शरीर को साधने के विषय मे और उपाय के विषय मे कुछ रेखाए प्रस्तुत की है। ये दिशासूत्र मात्र है। यदि इस बात को हम ठीक समझ लें तो शरीर को इतना तैयार कर सकते हैं कि फिर हम आह्वान करेंगे, निमन्त्रित करेगे कि बडी से बडी शक्ति आए और शरीर मे अवतरण करे, प्रकट हो अभिव्यक्त हो।

ही नही निकलता, केवल शब्द ही नही निकलता, उसके साथ हमारी भावना भी आती है, हमारा सकल्प भी आता है, मन की शक्ति भी आती है और श्वास का योग भी होता है। शरीर, श्वास, वायु, ध्वनि, सकल्प-शक्ति, मानसिक शक्ति—इन सबका जब योग होता है तब कोई शब्द हमारे सामने आता है। आदमी जब बोलता है तब बोलने के पीछे केवल शब्द ही नही होता, कई विशिष्ट प्रकार की शक्तिया भी होती है और वे शक्तिया अपने निश्चय के अनुसार प्रकट होती हैं।

श्रीकृष्ण और पाडव अमरकका मे गए। वहा के राजा पद्मनाभ ने द्रौपदी का अपहरण कर लिया था। पद्मनाभ को पता चला। वह भी अपनी सेना को सज्जित कर युद्धस्थल मे आ गया। श्रीकृष्भ ने पाडवो से कहा—'जाओ, लडो।' पाडव गए। वे बहुत पराक्रमी और शक्तिशाली थे। पद्मनाभ सामने आया। पाडवो ने कहा—'आज ऐसा भयानक युद्ध होगा कि या तो हम रहेंगे या पद्मनाभ रहेगा। दोनो मे से एक रहेगा।' जो मन का सकल्प था, भावना थी, वह प्रकट हो गई। युद्ध हुआ। स्थिति यह हुई कि पद्मनाभ स्थिर रहा और पाडव भाग खडे हुए, क्योकि उनका सकल्प शिथिल था। उनका सकल्प-सूत्र था—'अम्हे वा पउमनाभे वा'—या तो हम रहेगे या पद्मनाभ रहेगा। पद्मनाभ रह गया, वे भाग गए।

श्रीकृष्ण ने यह देखा। वे आगे आए। सकल्प की भाषा मे बोले—'अम्हे, न पउमनाभे'—मैं रहूगा, पद्मनाभ नही रहेगा। पुन युद्ध हुआ। पद्मनाभ हार गया, भाग गया।

हमारे मुह से केवल शब्द ही नही निकलता, उसके साथ अन्त करण की शक्ति, सकल्प की शक्ति भी साथ-साथ निकलती है। हमारा कैसा निश्चय है, हमारी भावना कैसी है, उस निश्चय और भावना का बल भी उस शब्द के साथ होता है। हम शब्द की शक्ति को समझते हैं, जानते हैं और यह भी जानते हैं कि शब्द के साथ कुछ जुडा हुआ होता है।

हम अर्हम् की ध्वनि करते है, अर्हम् का उच्चारण करते हैं। प्रेक्षा ध्यान का प्रारभ होता है अर्हम् की ध्वनि से। हर क्रिया प्रारभ होती है अर्हम् की ध्वनि से। क्यो? जब हम यहा ध्यान करने आए है तो फिर ध्वनि क्यो। ध्वान मे तो मौन होना चाहिए, फिर अर्हम् की ध्वनि क्यो? अनुप्रेक्षा क्यो? शब्द का प्रयोग क्यो?

हम शब्द-प्रयोग को छोड नही सकते। वह बहुत बडी शक्ति है। मत्र की शक्ति से लोग परिचित है। वह क्या है? शब्द की ही तो शक्ति है। वह शक्ति आज विज्ञान से, वैज्ञानिक व्याख्या से विश्लेषित होती जा रही है। हमारे शरीर के दो भाग मुख्य है—एक ही मस्तिष्क और दूसरा है शेष शरीर। दोनो मे विद्युत् पैदा होती है। शरीर मे रक्त की गति है। रक्त का सक्रमण है। सारी

माध्यम है। अर्हम् का जप करते हैं, अर्हम् की ध्वनि करते हैं। अर्हम् की ध्वनि केवल शब्द ही नही है। ध्येय सदा गुप्त रहता है। वह हमारे सामने नही होता। यदि ध्येय प्रकट हो या प्रकट हो जाए तो फिर ध्यान करने की कोई जरूरत ही नही रहती। ध्येय एक स्थूल रूप मे हमारे सामने रहता है। हमेशा असिद्ध को सिद्ध करने का प्रयास होता है। तर्कशास्त्र मे साध्य का लक्षण ही यह माना है कि असिद्ध साध्यम्'—जो असिद्ध है, वह साध्य है। यदि सिद्ध है तो वह साध्य नही वन सकता। उसको साधने की जरूरत नही होती। साध्य वह बनता है जो सिद्ध नही है, जो साधा नही गया है, जिसे साधना है। यदि अर्हत् हमारे सामने प्रकट हो, सिद्ध हो, तो उसे ध्येय बनाने की कोई आवश्यकता ही नही रहती। हम अर्हम् को ध्येय इसलिए बनाते है कि वह हमारे सामने प्रकट नही है, सिद्ध नही है, गुप्त है। उसे प्रकट करना चाहते हैं, सिद्ध करना चाहते हैं।

अर्हम् को हम ध्येय बनाते हैं। ध्येय बनाने के दो साधन हैं—आकार या शब्द। या तो हम उसकी कोई प्रतिकृति वना लेते हैं, मूर्ति बना लेते हैं, आकार मे गढ लेते है और यह कल्पना कर लेते है कि यह अर्हम् है।

दूसरा साधन है—शब्द। हमने अर्हम् को ध्येय बनाया और माध्यम बनाया शब्द को। हम अर्हम् का जाप करते हैं, ध्वनि करते हैं। हम उस अर्हम् की ध्वनि का उच्चारण ही नही करते है, किन्तु उस उच्चारण के पीछे जो छिपा हुआ हमारा ध्येय है अर्हत्, उसके साथ सपर्क स्थापित करते है। शब्द को माध्यम वनाकर हम अर्हत् की स्थिति तक पहुचना चाहते है, जिसका प्रतिनिधित्व यह अर्हम् शब्द कर रहा है। हम उस स्थिति तक पहुचना चाहते है जो अर्हम् शब्द वाच्य है। वह है अर्हत् की स्थिति।

एक है वाच्य और दूसरा है वाचक। शब्द वाचक है और वाच्य है उसका अर्थ। अर्हम् वाचक है और उसका जो अर्थ है, वह है वाच्य। अर्हम् का अर्थ है अर्हत् की स्थिति। हम वाचक के द्वारा वाच्य तक पहुचना चाहते हैं। हम साधन के द्वारा साध्य तक पहुचना चाहते है। हम शब्द की ध्वनि के साथ अपनी भावना को जोडकर, अपने भीतर जो छिपा हुआ अर्हत् का स्वरूप है, उसे प्रकट करना चाहते है।

अर्हम् की यह सारी भावना हमारी समझ मे आ जाए तो अर्हम् की ध्वनि का अर्थ ही दूसरा होगा और यह भावना समझ मे न आए तो अर्हम् की ध्वनि भी एक रूढि वन जाएगी।

मत्र के पद का चुनाव एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे किया जाता है। सबसे पहला दृष्टिकोण है श्वास के साथ उसका सबध। इस वात को हम न भुलायें कि हमारी समूची साधना की प्रक्रिया मे श्वास सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण साधन है। श्वास की विस्मृति न करें, उसे न भूले। प्रत्येक वस्तु के साथ श्वास का योग करना है।

कूट-पीसकर एकत्रित किया जाए तो वह एक बॉल (गेंद) जितना ही होगा। सारा जगत् बॉल जितना ही होगा। केवल आप नही, हम नही, सारे पहाड, नदी-नाले, सारे मकान, सारे बालूकण—सबको कूट-पीसकर एक कर लें तो उनका माप एक बॉल जितना ही होगा। ठोस बहुत कम है। केवल प्रकपन। प्रकपन ही प्रकपन। शरीर ठोस लगता है, पर भीतर जाए, भीतर की यात्रा करें तो लगेगा—सब कुछ पोल ही पोल है। ठोस अत्यन्त कम है। ऊपर चमडी आ गई। भीतर का दिखाई नही देता। एक आदमी को कूट-पीसकर एकत्रित कर दिया जाए तो सभव है परमाणु जितना भी न बने। सारा जगत् बाल जितना है। ठोस नही है कुछ भी। केवल प्रकपन ही प्रकपन है। शरीर की तरगें, श्वास की तरगें, विचारो की तरगें, ध्वनि की तरगें—हम केवल तरगो से घिरे हुए है। दर्शन की भाषा मे कहे तो हम पर्यायो से घिरे हुए हैं। पर्याय ही पर्याय हैं। द्रव्य है कहा ? द्रव्य है आत्मा। वह तो दिखता नही है। द्रव्य है पुद्गल। वह भी बहुत सूक्ष्म है। पर्यायो का चक्कर है सारा। तरगें ही तरगें। पर्याय ही पर्याय। प्रकपन ही प्रकपन। इन सारे प्रकपनो के बीच मे हम जी रहे है।

हम प्रकपनो का ठीक उपयोग करें। उनकी शक्ति का उपयोग करें। ध्वनि की तरगो का उपयोग करना हम सीखें। ध्वनि की तरगो से उत्पन्न शक्ति को ठीक नियोजित करें। जब ध्वनि की तरगें मन की तरगो के साथ जुड जाती हैं, सकल्प की तरगो के साथ जुड जाती हैं और श्वास की तरगो के साथ जुड जाती है, तब बहुत बडी शक्ति पैदा होती है।

शब्द के कपन अपनी चरम स्थिति तक पहुचकर 'क्ष' किरणो—एक्सरेज—के रूप मे परिणत हो जाते हैं। तब उनकी गति एक करोड मील प्रति सेकण्ड हो जाती है। सकल्प के कपन उसमे शक्ति का नियोजन कर देते हैं। इसलिए योग के मर्मज्ञ आचार्यों ने कहा है—जिनके निश्चय मे कोई छेद नही है, वे क्या नही कर सकते ? उनके लिए कुछ भी दुष्कर नही है। शब्द की सिद्धि आस्था की सिद्धि से होती है। आस्थाहीन शब्द शक्ति-शून्य होते हैं। शब्द को साधने का अर्थ है—आस्था और शब्द की दूरी समाप्त कर देना। शब्द को साधने का अर्थ है—ध्वनि को आस्था का कवच पहना देना।

वर्षो के प्रयत्न के बावजूद एक विषय पर दो मिनट तक लगातार एकाग्र रह सकें। वे बीच मे ही विचलित हो जाते है। दो मिनट तक मन मे कोई व्यवधान न आए, विकल्प न आए, यह कम बात नही है।

हमारे मन मे निरन्तर विकल्प उठते है, व्यवधान आते है। हम एक विचार को लेकर बैठते है। उस पर एकाग्र होने का प्रयत्न करते ही विभिन्न विकल्प और व्यवधान उत्पन्न हो जाते है। मन की चचलता की स्थिति मे इन व्यवधानो की कल्पना भी नही कर सकते। एकाग्र होते है तभी हमे पता लगता है कि विकल्पो का प्रवाह कितनी तेजी से बह रहा है और वह हमारी एकाग्रता मे कितना व्यवधान उपस्थित कर रहा है। ध्यान बहुत खतरनाक है। वह पहले ही क्षण मे या पहले ही दिन या शिविर के पहले ही आयोजन मे सिद्ध हो जाता है, यह बात नही है। यह स्पष्ट मानकर चलना चाहिए कि अभी जो अभ्यास हो रहा है, वह मात्र अवधान का अभ्यास हो रहा है।

योग की भाषा मे मन की तीन अवस्थाए है—अवधान, एकाग्रता या धारणा और ध्यान। मनोविज्ञान भी इसी का सवादी विचार प्रस्तुत करता है। उसमे भी तीन अवस्थाए मानी गई है—अटेन्शन, कॉन्सन्ट्रेशन और मेडिटेशन। अवधान, केन्द्रीकरण और ध्यान। ये मन की तीन अवस्थाए हैं। मानसिक क्रियाए इन तीन अवस्थाओ से गुजरती है।

पहली अवस्था है—अवधान, अटेन्शन। यह मन की वह क्रिया है जहा हम मन को किसी वस्तु के प्रति व्यापृत करते है, लगाते हैं। जो मन घूमता रहता है, उसे एक वस्तु के प्रति लगा देते है। वस्तु के प्रति मन को व्यापृत करना, मन को सचेत करना, चैतन्यवान् बनाना—यह है अवधान की अवस्था। इसमे पदार्थ के साथ मन का सम्बन्ध जुड जाता है। यह है अवधान। हम कहते है—सावधान हो जाओ। इसका मतलब है कि एक कार्य के प्रति दत्तचित्त हो जाओ। चित्त को उसमे लगा दो, जो करना है।

अवधान जैसे बाह्य वस्तु के प्रति होता है, वैसे ही कभी-कभी अपने मूल स्वरूप के प्रति भी होता है। जब मौलिक स्वरूप के प्रति अवधान होता है, उस स्थिति मे ही प्रज्ञा का उदय होता है। फिर बाह्य के प्रति अवधान नही होता। मन का अवधान अपने प्रति हो जाता है। अपने प्रति मन का अवधान होना एक विशेष प्रकार की स्थिति है। इस स्थिति मे ही प्रज्ञा का उदय होता है, आन्तरिक चेतना प्रकट होती है।

मन की दूसरी अवस्था है—कॉन्सन्ट्रेशन। योग की भाषा मे एकाग्रता या धारणा। यह अवधान से अगली अवस्था है। जिसमे हमने अवधान लगाया, मन का पदार्थ के साथ सबध स्थापित किया, उसी मे केन्द्रित हो जाना। जो मन चारों ओर भटक रहा था, अनेक वस्तुओ पर जा रहा था, उसे सब वस्तुओ से हटाकर

ध्यान की जो एक विभीषिका है, उसे मैंने प्रस्तुत किया है। सभव है कुछ लोग इससे डर भी जाए। वे ऐसा सोचें—इतनी कठोर साधना है ध्यान की, फिर हम उसे करने क्यो बैठे है? मैं ऐसा कहना नही चाहता कि आप वस्तु-स्थिति को समझे ही नही। आपके मन मे भय पैदा हो जाएगा इसलिए मै सत्य को छिपा दू, यह मुझे मान्य नही है। इस भ्राति को मैं पसन्द नही करता। मैं नही चाहता कि आप भ्राति मे रहे। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना होगा। ध्यान की साधना सचमुच कठिन है। यदि हम उसे सरल मानकर चलेगे तो सभव है हमारे मे भ्राति पैदा हो जाए और हम ध्यान की स्थिति तक पहुच ही न पाए। यह आत्म-भ्रान्ति नही होनी चाहिए। हम ध्यान करते हैं, मूर्च्छा को तोडने के लिए। हम ध्यान करते हैं, प्रमाद को तोडने के लिए। यदि ध्यान के द्वारा नयी मूर्च्छा पैदा हो जाए, नयी भ्रान्ति पैदा हो जाए— यह कभी ईष्ट नही है। जिस असत्य को तोडने के लिए, जिस असत्य से दूर होने के लिए हम ध्यान करते है, यदि उसी ध्यान के सहारे एक नया असत्य जन्म ले ले—यह कभी वाछनीय स्थिति नही हो सकती। इसलिए बहुत ही यथार्थवादी और वस्तुवादी होकर, वास्तविकता को समझकर, हमे ध्यान के मार्ग मे प्रवेश करना होगा। हमे यह मानना होगा कि ध्यान एक लबी साधना है, लबी प्रक्रिया है। हम जल्दबाजी न करे कि वह जल्दी सिद्ध हो जाए। उसे सिद्ध करने के लिए जिस तैयारी की जरूरत है उसकी चर्चा 'किनको साधे?' विषय के अन्तर्गत मैं कर चुका हू। पूरी तैयारी के बिना, कुछेक चीजो को साधे बिना यदि हम ध्यान को सिद्ध करना चाहेगे तो लाभ के बदले हानि की सभावना ही अधिक होगी।

मत्र की साधना करने वाला कोई भी व्यक्ति यदि कवच की क्रिया नही करता है तो उसे बहुत बडा खतरा होता है। सबसे पहले उसे अपना कवच बनाना होता है। इसलिए विभिन्न मत्रो की दीक्षाओ के साथ विभिन्न कवचो की व्यवस्था की गई है। कवच तैयार करने का मतलब है अपने लिए वज्रमय पिंजरा बना लेना। कवच बना लेने के बाद कोई भी बाहरी शक्ति उसे आघात नही पहुचा सकती। शरीर के प्रत्येक अवयव के लिए अलग-अलग कवचो की व्यवस्था है। सिर से लेकर पैर के अगूठे तक—हर अवयव को कवच पहनाया जा सकता है, उसे सुरक्षित किया जा सकता है।

प्राचीन काल मे सैनिक कवच पहनकर युद्ध-स्थल मे उतरते थे। लोहे या अन्य धातु के वे कवच इतने मजवूत होते थे कि उन पर तलवार या भाले का प्रहार भी काम नही करता था। सब शस्त्र निकम्मे हो जाते थे। कवच पहनने के बाद योद्धा सुरक्षित हो जाते थे। वे बाहरी प्रहारो से मुक्त हो जाते थे।

इसी प्रकार मत्र का साधक भी, मत्र की साधना से पूर्व, कवच का निर्माण करता है, उसे धारण करता है जिससे कि बाहर की कोई भी शक्ति उस पर प्रहार

भीतर आता है या बाहर जाता है, तब वह सजग रहता है, ध्यान रखता है। इसी प्रकार नासाग्र से होते हुए आने-जाने वाले श्वास को देखो। यह बाहर जा रहा है, यह भीतर आ रहा है—इसी बात को देखो, ध्यान केन्द्रित करो। यह है अल्प की प्रेक्षा, अल्प का अवधान। यह है अल्पग्राही।

बहुग्राही अर्थात् बहुत की प्रेक्षा। सुझाव दिया गया कि श्वास के साथ-साथ मन को भीतर ले जाओ, प्रश्वास के साथ-साथ मन को बाहर ले आओ। यह बहु का अवधान है, बहुग्राही है। अल्पग्राही मे हमारा पथ छोटा था, अब हमारा पथ लबा हो गया। अल्पग्राही मे केवल नासाग्र पर मन को टिकाए हुए थे, अब वह श्वास-प्रश्वास के पूरे मार्ग का अवगाहन कर रहा है। पथ लबा हो गया, यात्रा लबी हो गयी। जहा नाभि के आसपास से श्वास उठता है, वहा से मन को उसके साथ जोड दे और उसे श्वास के साथ ही साथ भीतर ले जाए। जहा जाकर श्वासयत्र समाप्त होता है और फेफडे मे प्रवेश करता है, वहा तक मन को ले जाए। डायाफ्रॉम तक मन को ले जाए। तनुपट तक श्वास को ले जाए। यह श्वास की सीमा है। यहा तक श्वास को ले जाए। यह बहु का अवधान है, बहुत का ग्रहण है, बहु की प्रेक्षा है। तो अभ्यास के ये दो क्रम है—

१ अल्प का ग्रहण— अल्प को देखने का अभ्यास।

२ बहु का ग्रहण—बहु को देखने का अभ्यास।

पहले मे हम एक छोटे-से बिन्दु को देखते है और दूसरे मे पथ लबा हो जाता है, अवगाहन का मार्ग लबा हो जाता है।

अभ्यास का दूसरा मोड है, दूसरा युगल है—

एकविधग्राही।

बहुविधग्राही।

एक प्रकार की वस्तु को देखना या बहुप्रकार की वस्तुओ को देखना। सुझाव दिया गया कि नासाग्र पर होने वाले प्रकपनो को देखें अथवा नासाग्र पर श्वास के स्पर्श का अनुभव करे—यह एक प्रकार का अवधान हो गया।

जैसे जल मे प्रकपन होता है, ऊर्मिया उठती है वैसे ही सारा शरीर प्रकपित है। प्रकपन ही प्रकपन। ऊर्मिया ही ऊर्मिया। स्थिरता नाम की कोई चीज़ नही है। ऐसी स्थिति मे सुझाव दिया गया कि नासाग्र पर होने वाले प्रकपनो को देखे। यह एक प्रकार का ग्रहण है, एक प्रकार का अवधान है। मन को एक स्थान पर अवहित कर दिया गया। यह एकविधग्राही है।

बहुविधग्राही का अर्थ है—एक साथ अनेक वस्तुओ को देखना। मन की पटुता और बढ जाती है। एक साथ अनेक वस्तुओ को देखना ही नही, उन्हे ग्रहण भी करना है।

जो अवधान करते है, वे मन की पटुता का प्रशिक्षण लेते है। उनका अभ्यास

हमारे अनेक साधु-साध्वियां अवधान का प्रयोग करते है। लोगो को बहुत आश्चर्य लगता है। वे मानते है—चमत्कार है, दैवी शक्ति का निदर्शन है। यह कोई चमत्कार नही। कोई दैवी शक्ति नही। कोई दैवी विद्या नही। कोई बाहर की शक्ति नही। केवल मन का प्रशिक्षण है, मन की शक्ति है। इसी के आधार पर यह सारा होता है। चमत्कार-सा लगता अवश्य है, पर है मन की पटुता। इसके अतिरिक्त कुछ भी नही है।

तीसरा चरण है?—क्षिप्रग्राही, चिरग्राही। यह एक युगल है।

मन को ऐसा अभ्यास दिया जाता है कि वह बाह्य पदार्थ को तत्काल ग्रहण करे। यानी एक दृष्टि डाली और सब कुछ ग्रहण कर लिया। तत्काल ग्रहण कर लिया। कमरे को क्षणभर के लिए देखा। आखे मूद ली। वह सब कुछ बता देगा। यह भीत है सफेद रग की। सामने काले रग का बोर्ड है। इतने पट्ट लगे हुए है। पट्ट पर लाल अक्षर भी है, काले अक्षर भी है, नीले अक्षर भी है। इतने दरवाजे है। इतनी खिडकिया है। पूरा का पूरा ब्योरा बता देता है। यह है क्षिप्रग्रहण। तत्काल ग्रहण कर लेना एक ही दृष्टि मे सारा पकड लेना।

हम मन की क्षमताओ से परिचित नही है। उससे क्षमता बहुत है। हम बहुत कम जानते हैं। थोडा बहुत जानते हैं, उसमे भी आश्चर्य होता है। यदि हम पूरी क्षमता को जान लेते हैं, विकसित कर लेते है, तो न मालूम क्या के क्या हो जाते है। आज मन की कुछेक क्षमताओ को विकसित कर मनुष्य भगवान् बन जाते है। दुनिया उन्हें भगवान मान लेती है। अच्छा है। भगवान् बनना कोई बुरी बात नही है। अपने अन्दर मे बैठे हुए अपने भगवान् को प्रकट करना बहुत अच्छी बात है। परन्तु दुनिया जल्दी भगवान् मान लेती है। मन का थोडा-सा कार्य सामने आता है, दुनिया भगवान् मान लेती है। पूरी क्षमता को हम जान ले, उसे साध लें, उसे अभिव्यक्ति कर लें तब तो न जाने कितने भगवान् बन जाए।

एक विकल्प है चिरग्राही। यह वह क्षमता है, जो तत्काल तो नही पकड पाती किन्तु धीमे-धीमे लबे समय से पकडती है।

चौथा चरण है—अनि सृतग्राही, नि सृतग्राही। यह एक युगल है।

यह (अनि सृतग्राही) विचित्र क्षमता है। यह मन का ऐसा अभ्यास है, ऐसा अवधान है, जिसकी हम कल्पना ही नही कर सकते। मैं इस विषय को एक कहानी से स्पष्ट करू।

एक बहुत बडा चित्रकार राजा की सभा मे आया। सयोगवश उसने रानी के पैर का एक अगूठा देख लिया। प्राचीन काल मे रानिया 'असूर्यंपश्या राजदारा' होती थी। राजदाराओ को सूर्य भी नही देख पाता था। आज का समय नही था। आज तो सब कुछ अनावृत है। चित्रकार ने अगूठा देख लिया। उसने रानी का पूरा चित्र बना लिया। चित्र को राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा ने देखा—

आया। राजा ने कहा—'यह लो सुरमा। आखो मे आजो। दीखने लगेगा। सुरमा इतना ही है कि दो आखो मे आजा जाए। ध्यान रखना।'

प्रधानमत्री ने सुरमे की डिबिया हाथ मे ली। एक शलाका सुरमे से भरी और एक आख आज ली। कुछ ही क्षणो मे आख मे ज्योति आ गई। एक आख से दीखने लगा। उसने दूसरी शलाका भरी और उसे आख मे आजने के बदले जीभ पर रख दी। राजा ने कहा—'अरे' यह क्या किया ? तुम काने रह जाओगे। एक आख वाले हो जाओगे। लोग तुमको काना कहेगे। अधे नही तो काने हो जाओगे।'

प्रधानमत्री ने कहा—'राजन्! काना नही रहूगा। मै स्वय सूझता होकर हजारो-हजारो अधो को आख दूगा, दृष्टि दूगा।'

प्रधानमत्री ने जीभ पर लगाए गए सुरमे का विश्लेषण किया। सारी चीज़ें जान ली। और राजा के देखते-देखते सारा फार्मूला लिखकर राजा को दे दिया। राजा ने देखा। प्रधानमत्री ने कहा—'राजन्! सुरमे का सारा योग ज्ञात हो गया है। अब मैं यही सुरमा बनाकर हजारो-हजारो अधो को आख वाला बना दूगा। यदि मैं दूसरी शलाका दूसरी आख मे लगाता तो दोनो आखें मेरी देखने लग जाती, पर मैं ही केवल उससे लाभान्वित होता। अब मैं स्वय अपनी एक आख के साथ-साथ हजारो-लाखो आखो को ज्योति दे सकूगा।'

मत्री घर गया। सुरमा बनाया और रोम से आए हुए दूत को एक डिबिया देते हुए कहा—'जाओ, अपने वादशाह से कह देना कि ऐसा सुरमा जितना चाहे यहा से मगा लें।'

दूत रोम पहुचा। वादशाह को सारी वात वताई। वादशाह ने सोचा—'जहा ऐसे बुद्धिमान् आदमी वसते हैं, उस देश पर आक्रमण करना पराजित होना है।'

यह है अनिसृतग्रहण। अद्भुत शक्ति है। थोडी-सी चीज़ के आधार पर समूची चीज़ का विश्लेषण कर देना।

ये कल्पित वाते नही है, केवल कल्पनाए नही है। ये सारी मन की क्षमताए है।

मैंने मन के अवधान के कुछेक प्रयोग, उसके प्रशिक्षण के कुछेक प्रयोग प्रस्तुत किए। उनके आधार पर हम समझ सकते है कि मन की क्षमता को अभ्यास के द्वारा साधना के द्वारा विकसित किया जा सकता है, मन को पटु बनाया जा सकता है। यह सारा अवधान का विवरण है, ध्यान का विवरण नही है। अवधान से [illegible] ही जब मन इतना पटु बन जाता है तब ध्यान के द्वारा उसकी क्षमता को कितना विकसित किया जा सकता है, यह स्वय गम्य है। आप इसकी कल्पना कर सकते है मुझे बताने की आवश्यकता ही नही है।

५

न करने का मूल्य

एक आदमी बगीचे मे गया। उसने देखा—लम्बे-लम्बे पेड खडे है। उसने माली से कहा—'पेड बहुत लम्बे हो गए!' माली ने कहा—'बाबूजी! पेडो को और काम ही क्या है ?

सबसे पहले काम की बात हमारे ध्यान मे आती है। पेड भी निकम्मे नही रहते। कोई भी पदार्थ निकम्मा नही रहता। वस्तु का लक्षण ही है—अर्थक्रिया-कारित्व। वस्तु वह है, सत्य वह है जो अपनी क्रिया करता रहता है, कुछ न कुछ करता रहता है। जो कुछ भी नही करता वह सत् नही होता, पदार्थ नही होता। पदार्थ यानी कुछ करने वाला। करना पदार्थ के साथ जुडा हुआ है।

हम इस बात को जानते हैं, मानते है कि व्यक्ति को कुछ न कुछ करना चाहिए। पदार्थ भी कुछ न कुछ करता ही है। चेतना या अचेतन दोनो मे कुछ न कुछ क्रिया होती रहती है। हमने उस बात को पकडा है कि जो व्यक्ति कुछ करता है उसे हम पुरुषार्थी मानते हैं, कर्मठ मानते है, कर्मण्य मानते हैं। जो व्यक्ति कुछ नही करता उसे आलसी मानते है, निठल्ला मानते है, प्रमादी मानते है और अकर्मण्य मानते हैं। सारा बल इस बात पर दिया गया है कि मनुष्य को कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। जो करता है उसे आनन्द का अनुभव होता है कि मैं कुछ करता हू और कभी-कभी गर्व का अनुभव होता है। जो कुछ नही करता उसे हीनभावना का अनुभव होता है कि मैं कुछ नही करता। दूसरे लोग भी उसे कोसते हैं—यह निठल्ला है, कुछ भी नही करता। निठल्ले के लिए दुनिया मे कोई स्थान नही है। निरन्तर कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। वर्तमान का अर्थशास्त्र भी यही बतलाता है कि निकम्मे मत रहो। व्यवसाय या काम हो तो वह करो और यदि कोई काम न हो तो गढा खोदो, उसे पाटो, फिर गढा खोदो, उसे भरो, निकम्मे मत रहो। कुछ न कुछ करते रहो। इस प्रकार करने पर इतना बल दिया कि न करने का मूल्य हमारी दृष्टि से ओझल हो गया। न करने का भी अपना कोई मूल्य है—इस बात को हम आज स्वीकार नही कर रहे हैं। यह युग

५

न करने का मूल्य

एक आदमी बगीचे मे गया। उसने देखा—लम्बे-लम्बे पेड खडे है। उसने माली से कहा—'पेड बहुत लम्बे हो गए!' माली ने कहा—'बाबूजी! पेडो को और काम ही क्या है?

सबसे पहले काम की बात हमारे ध्यान मे आती है। पेड भी निकम्मे नही रहते। कोई भी पदार्थ निकम्मा नही रहता। वस्तु का लक्षण ही है—अर्थक्रिया-कारित्व। वस्तु वह है, सत्य वह है जो अपनी क्रिया करता रहता है, कुछ न कुछ करता रहता है। जो कुछ भी नही करता वह सत् नही होता, पदार्थ नही होता। पदार्थ यानी कुछ करने वाला। करना पदार्थ के साथ जुडा हुआ है।

हम इस बात को जानते हैं, मानते है कि व्यक्ति को कुछ न कुछ करना चाहिए। पदार्थ भी कुछ न कुछ करता ही है। चेतना या अचेतन दोनो मे कुछ न कुछ क्रिया होती रहती है। हमने उस बात को पकडा है कि जो व्यक्ति कुछ करता है उसे हम पुरुषार्थी मानते हैं, कर्मठ मानते है, कर्मण्य मानते है। जो व्यक्ति कुछ नही करता उसे आलसी मानते है, निठल्ला मानते है, प्रमादी मानते है और अकर्मण्य मानते हैं। सारा बल इस बात पर दिया गया है कि मनुष्य को कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। जो करता है उसे आनन्द का अनुभव होता है कि मैं कुछ करता हू और कभी-कभी गर्व का अनुभव होता है। जो कुछ नही करता उसे हीनभावना का अनुभव होता है कि मैं कुछ नही करता। दूसरे लोग भी उसे कोसते है—यह निठल्ला है, कुछ भी नही करता। निठल्ले के लिए दुनिया मे कोई स्थान नही है। निरन्तर कुछ न कुछ करते रहना चाहिए। वर्तमान का अर्थशास्त्र भी यही बतलाता है कि निकम्मे मत रहो। व्यवसाय या काम हो तो वह करो और यदि कोई काम न हो तो गढा खोदो, उसे पाटो, फिर गढा खोदो, उसे भरो, निकम्मे मत रहो। कुछ न कुछ करते रहो। इस प्रकार करने पर इतना बल दिया कि न करने का मूल्य हमारी दृष्टि से ओझल हो गया। न करने का भी अपना कोई मूल्य है—इस बात को हम आज स्वीकार नही कर रहे है। यह युग

इतना प्रवृत्ति-बहुल है कि आज निवृत्ति की बात समझ मे भी नही आती। निवृति को इतना नकारा गया है कि मानो उसका कोई मूल्य नही है। उसे मूल्यहीन बना डाला। प्रवृत्ति का यह घर्षण चिनगारिया पैदा कर रहा है। प्रवृत्ति टकराव पैदा करती है, सघर्ष पैदा करती है। वर्तमान के सघर्ष का सबसे बडा कारण है,- प्रवृत्ति को एकाधिकार देना। वर्तमान की अशाति का कारण है—क्रिया को ही मूल्य देना, अक्रिया के मूल्य का अनुभव न करना, 'न करने' का जो वास्तविक मूल्य है उसे अस्वीकृत कर देना। यह आज की सबसे बडी समस्या है।

आज मैं उल्टी बात कहने जा रहा हू। प्रवृत्ति-बहुल युग मे मुझे प्रवृत्ति का समर्थन करना चाहिए था किन्तु मैं वैसा नही करूगा। प्रवृत्ति के विरोध मे कुछ कहना, सुनने वालो को अच्छा नही लगता। किन्तु जो सत्य है उसे छिपाना भी नही चाहिए,। सत्य सत्य है। उसकी अस्वीकृति से बहुत सारी समस्याए उत्पन्न होती हैं और वे मनुष्य को आक्रान्त कर देती हैं। सच्चाई यह है कि या तो प्रवृत्ति और निवृत्ति का सतुलन हो या निवृत्ति का यथार्थ मूल्याकन किया जाए, तो सभव है बहुत सारी समस्याए स्वय समाप्त हो जाती हैं।

निवृत्ति का मूल्य प्रवृत्ति से कम नही है। 'न करने' का मूल्य करने से कम नही है। यदि यह बात समझ मे आ जाए तो करना भी बहुत अर्थपूर्ण हो सकता है। कर्म के साथ दो दोष आते हैं, उनमे कमी आ सकती है। गीता मे बहुत सुन्दर कहा है—'प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ दोष आता है। ऐसी कोई भी प्रवृत्ति नही है जिसके साथ दोष नही। जैसे ईंधन से जलने वाली अग्नि के साथ धुआ होना अनिवार्य है, वैसे ही प्रवृत्ति के साथ दोष अनिवार्य है।' 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' आरभ मात्र दोष से आवृत हैं, जैसे अग्नि धुए से। वह अनुभव वास्तविक है, सत्य तक पहुचा हुआ है। प्रवृत्ति के साथ आने वाला दोष तभी समाप्त हो सकता है जबकि निवृत्ति का उसके साथ सतुलन हो। प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति चलती रहे। अन्यथा प्रवृत्ति के दोष इतने बढ जाते हैं कि वे मनुष्य को ही लील जाते हैं। इसलिए हम निवृत्ति का मूल्य समझें, अक्रिया का महत्त्व समझें और 'न करने' के जो महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं उनका अनुभव करें।

प्रवृत्ति का सबसे पहला साधन है—शरीर। शरीर की प्रवृत्तियो की चर्चा मैंने पहले की है। आज ठीक उससे उल्टी चर्चा मुझे करनी है। प्रवृत्ति से मुक्ति की चर्चा करनी है।

आप कायोत्सर्ग करें, काया का विसर्जन करें, शरीर को त्याग दें, जीते हुए भी मृतवत् अनुभव करें और शरीर को बिलकुल निष्क्रिय, निश्चेष्ट और प्रवृत्तिशून्य बनाए। यह है कायगुप्ति, कायोत्सर्ग, काया का उत्सर्ग बहुत बडी बात है काया को छोड देना। मरने के बाद हर आदमी शरीर छोड देता है या वह छूट जाता है, किन्तु जीते-जी शरीर को छोड देना बहुत बडी साधना है। जब काया के

उत्सर्ग की बात सामने आयी तव गौतम के मन मे भी प्रश्न खडा हुआ। उन्होने भगवान् से पूछा—'कायागुत्तयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? भगवन् ! कायगुप्ति का परिणाम क्या है ?' भगवान ने उत्तर देते हुए कहा—'कायागुत्तयाए ण सवर जणयइ—कायगुप्ति के द्वारा सवर होता है। दो शब्द है—आस्रव और सवर। आस्रव वह है जिसके द्वारा दोप हमारे भीतर प्रवेश करते है। हमारे भीतर कोई दोष नही है। हमारी आत्मा मे कोई दोप नही है। घर साफ-सुथरा है। उसमे कोई गन्दगी नही है। गन्दगी या धूल आ रही है दरवाजो से तथा इन खिडकियो से। जहा भी छोटा-सा छेद हुआ, उसमे धूल घुस जाती है। आधी चल रही है, उसे रोका नही जा सकता। कोई रोक भी नही सकता। ऐसा कोई उपाय भी नही है कि आधी न चले, हवा न चले, तूफान न आए। कोई उपाय नही है। कोई रोक नही सकता। किन्तु ऐसी व्यवस्था है, ऐसा उपाय है कि हम धूल को भीतर आने से रोक सकते है। यदि हम दरवाजो-खिडकियो को वन्द कर देते है तो धूल अन्दर नही आ सकती। वह वाहर ही रह जाती है। हमारी चेतना मे कोई गन्दगी नही है। वह शुद्ध है, निर्मल है, स्वच्छ है। किन्तु जैसे हर मकान के साथ दरवाजे होते है, खिडकिया होती है, वैसे ही चेतना भी इससे मुक्त नही है। उसके साथ भी कुछ दरवाजे जुडे हुए है, कुछ जुडी हुई है खिडकिया। उनको हम आस्रव कहते हैं आस्रव अर्थात् छिद्र। इसके द्वारा वाहर से तत्त्व आते हैं और हम उनसे भर जाते है। वे विजातीय तत्त्व है, पराए है। जो पराया होता है वह हमेशा सकट उत्पन्न करता है, कठिनाई पैदा करता है। जो अपना होता है, उससे कोई खतरा नही होता। पराए से खतरे की सभावना वनी रहती है। उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। हम ऐसा उपाय करे कि आस्रव न रहे। ये खिडकिया खुली न रहे, ये दरवाजे खुले न रहे, ये नाले खुले न रहे, ये छेद खुले न रहे। ये सारे गुप्त हो जाए, सुरक्षित हो जाए। सस्कृत मे गुपू रक्षणे धातु है। गुप्त का अर्थ है—सरक्षण। कायगुप्ति का अर्थ है—काया की सुरक्षा। हम काया से इतने सुरक्षित हो गए कि भीतर किसी के लिए अवकाश नही है। वाहर से कोई आ नही सकता। केवल हम हैं, हमारी चेतना है, इसके सिवाय भीतर कुछ भी नहीं है। इस प्रक्रिया का नाम है सवर। भगवान् महावीर ने कहा—'कायगुप्ति करने वाला सवर उत्पन्न करता है। आस्रव का अवरोध करता है, सवर पैदा करता है, सवर हो जाता है।'

एक बहुत ही महत्त्व की बात उन्होने कही—जितना बाहर से लिया जाता है उसे लेने का एकमात्र साधन है—हमारा शरीर। हमारा शरीर चाहे मानसिक वर्गणाओ को ले, चाहे वचन की वर्गणाओ को ले, चाहे श्वास की वर्गणाओ को ले, जो भी परमाणु-स्कध हमारे भीतर प्रविष्ट होते है, उन सबके लिए प्रवेश-द्वार है आस्रव, हमारा शरीर। शरीर की चचलता न हो, शरीर की प्रवृत्ति न हो,

बिलकुल स्थिर हो जाए उनमे तनाव न रहे। मासपेशिया लचीली हो जाए, ढीली हो जाए। सख्त मासपेशिया अवरोध पैदा करती है, इसलिए उन्हे लचीली करना बहुत ही आवश्यक है। रीढ की हड्डी लचीली हो जाए। उसमे तनाव न रहे। शरीर का हर अवयव तनाव से मुक्त हो जाए, किसी प्रकार की अकडन न रहे। यह सबसे पहली साधना है। सबसे पहले इस निपुणता को प्राप्त करे कि वे जब चाहे तब शरीर को शिथिल कर सकें। सामान्य साधक के लिए यह बहुत उपयोगी है। मैं मानता हू कि मानसिक ध्यान की भूमिका तक पहुचने की क्षमता कुछेक लोगो मे आ सकती है। सब उस भूमिका तक नही पहुच सकते। यदि पहुच सकें तो बहुत अच्छी बात हो सकती है। किन्तु है यह बहुत कठिन। शारीरिक स्थिरता, कायिक ध्यान, कायोत्सर्ग या कायगुप्ति की साधना सबके लिए सभव हो सकती है। यदि यह प्राप्त हो जाए तो भी जीवन की सफलता है।

कुछ लोग समझते हैं कि अभी हम अवधान की भूमिका को ही प्राप्त कर पाए है, ध्यान की भूमिका बहुत दूर है। मैं कहना चाहूगा कि यदि अभ्यास करते-करते हम अवधान की भूमिका तक पहुचे है तो क्या यह ध्यान की ओर गति नही है? क्या यह कम बात है? मन का जो अवधान चारो ओर भटकता था, यदि उसे आप एक विषय पर केन्द्रित करने मे सफल हो गए हैं तो उसे कम उपलब्धि मत मानिए। भावना तक पहुच गए तो और बडी बात है। मैं तो यह कहना चाहूगा कि आप अवधान तक भी शायद न पहुचे हो, भावना तक भी आप न पहुचे हो, किन्तु यदि आप कायोत्सर्ग की भूमिका तक पहुच गये हैं, कायिक स्थिरता और शिथिलीकरण की स्थिति तक पहुच गए है तो आप ध्यान-साधना की ओर गति कर रहे है, बढ रहे हैं।

आज की सबसे बडी समस्या है—कायिक तनाव, शारीरिक तनाव। आज का युग अतिरिक्त सक्रियता और दौड-धूप का युग है। शक्ति के खर्च होने का तथा जीवनीशक्ति के नष्ट होने का बहुत बडा कारण है अतिरिक्त सक्रियता। अतिरिक्त सक्रियता से श्वास की अधिक तीव्रता होती है और वह शक्ति के अतिरिक्त व्यय का कारण बनती है। यदि आज का आदमी दो बाते—शरीर को स्थिर करना और दीर्घ श्वास लेना—सीख लेता है तो अनेक कठिनाइयो से बच सकता है। आज इस प्रवृत्ति-बहुल युग मे कायोत्सर्ग या कायगुप्ति रामबाण औषध है। इसके द्वारा बहुत सारी कठिनाइयो से बचा जा सकता है। प्रवृत्ति-बहुलता या अतिव्यस्तता के कारण अनेक प्रकार की मानसिक विकृतिया और शारीरिक बीमारिया पैदा होती हैं। उन बीमारियो से बचाव करने का एकमात्र साधन है—काया की स्थिरता, शिथिलीकरण। यह कम उपलब्धि नही है। शात श्वास और शात शरीर—ये तो महत्त्वपूर्ण साधन है साधना के। इसे मैं बहुत बडी

उपलब्धि मानता हू। मैंने इनकी चर्चा शारीरिक मूल्य की दृष्टि से की है। इसका आध्यात्मिक मूल्य भी कम नही है।

सूत्रकृताग सूत्र मे एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि 'कर्म का क्षय कौन कर सकता है ? हमारे जो जमे हुए सस्कार हैं उन सस्कारो को कौन मिटा सकता है ?' इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा गया है—

'न कम्मुणा कम्म खर्वेति बाला,
अकम्मुणा कम्म खर्वेति धीरा।'

अज्ञानी आदमी सोचते है कि प्रवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति को नष्ट करेंगे। सस्कार के द्वारा सस्कार को नष्ट करेंगे। वे भूल मे हैं, वे अज्ञान मे हैं, अधकार मे हैं। वे सचाई को जानते, वास्तविकता को नही जानते। प्रवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति को मिटाया नही जा सकता। सस्कार के द्वारा सस्कार को नही मिटाया जा सकता। प्रवृत्ति हमेशा रिपीट होती है। प्रवृत्ति हमेशा अनूदित होती है। प्रत्येक प्रवृत्ति सस्कार छोड जाती है। वह सस्कार हमे दूसरी प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता है। हम दूसरी प्रवृत्ति करते हैं और वह प्रवृत्ति अपना सस्कार छोड जाती है। वह सस्कार हमे तीसरी प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता है। यह चक्र चलता रहता है। इसका कही अन्त नही आता। प्रवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति के चक्रव्यूह को नही तोडा जा सकता। यह बहुत प्रलम्ब शृखला है। उसका कभी पार नही पाया जा सकता। तब प्रश्न होता है कि इसे कैसे तोडा जा सकता है ? इन सस्कारो को कैसे समाप्त किया जा सकता है ? जो सस्कार हमे प्रवृत्ति मे लगाए रखते है, एक के बाद एक नया सस्कार निर्मित होता है और वह विभिन्न प्रवृत्तियो का प्रेरक बनता है, उसे कैसे तोडा जा सकता है ? उत्तर मे कहा गया – 'अकम्मुणा कम्म खर्वेति धीरा'—जो ज्ञानी है, सचाई को समझते हैं, अधकार को चीरकर प्रकाश मे आ गए हैं, जिन्हे वास्तविकता का बोध है, वे जानते हैं, कि अकर्म के द्वारा कर्म को क्षीण किया जा सकता है। अकर्म यानी निवृत्ति के द्वारा प्रवृत्ति को समाप्त किया जा सकता है।

प्रवृत्ति नही की, पुराना सस्कार उभारा किन्तु उसे नही दोहराया, सस्कार शिथिल हो गया। फिर उभरा, दोहराया नही तो और शिथिल हो गया। सस्कार उभरता है और यदि उसे दोहराया नही जाता तो वह टूट आता है, नष्ट हो जाता है।

अतिथि आया। उसे सत्कार मिला। वह फिर आया और फिर उसे सत्कार मिला तो वह फिर आएगा। वह सोचता है—अच्छा है, आतिथ्य मिलता है और सत्कार भी मिलता है। वह आता रहता है।

अतिथि आया। उसे सत्कार नही मिला। उसकी उपेक्षा हुई। कोई ढीठ होता है तो दूसरी बार आ जाता है। फिर उपेक्षा हुई, तो वह तीसरी बार नही

आता। वह सोचता है—जहा तिरस्कार है, वह क्यो जाए ? वह नही आता।

यही क्रम है सस्कार का। सस्कार उभरता है और यदि उसे वहा स्थान मिल जाता है तो वह जमने लग जाता है। फिर वह अतिथि रहना नही चाहता, घर का सदस्य ही बन जाता है। फिर उसे वहा से हटाना कठिन हो जाता है। यदि उभरने वाले सस्कार को स्थान नही मिलता, उपेक्षा की जाती है, उसे दोहराया नही जाता, उसका तिरस्कार होता है तो वह धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है। एक बार कटु अनुभव होता है तिरस्कार का, दूसरी और तीसरी बार भी यदि यही अनुभव होता है वह सस्कार फिर नही उभरना चाहता, वह क्षीण हो जाता है, नष्ट हो जाता है। सत्कार से वह उभरता है, बार-बार आता है और तिरस्कार से वह क्षीण होता है, नष्ट होता है। होते-होते सस्कार मिट जाता है। अब वह न घर का सदस्य ही रह पाता है और न अतिथि बनकर ही कभी घर का द्वार देखता है।

इसीलिए कहा गया—'अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा'—जो आदमी गम्भीर होते हैं, जिनमे धृति है, धैर्य है, जो घटनाओ से घबराते नही, कभी विचलित नही होते, जो घटित होता है उसे जान लेते है देख लेते है, पर कभी विचलित नही होते, वे अकर्म के द्वारा, अप्रवृत्ति के द्वारा कर्म को क्षीण कर देते है। उस सस्कार को समाप्त कर देते है, विलीन कर देते हैं।

अकर्म से कर्म को क्षीण करने की बात, निवृत्ति से प्रवृत्ति को क्षीण करने की बात या निवृत्ति से प्रवृत्ति के दोषो को क्षीण करने को बात आज हमारी समझ से परे हो गई है। आज 'करो, करो, करो', की रटन लगाई जा रही है। इसके परिणामस्वरूप शारीरिक थकान, स्नायविक थकान और मानसिक थकान से आदमी ग्रस्त हो गया है। इन सारी थकानो से निकलता है—चिडचिडापन, अकुलाहट, आकुलता, व्याकुलता और क्षोभ। इसका परिणाम होता है—कही लडाई, कही युद्ध, कही सघर्ष, कही कुछ और कही कुछ। यह अप्रिय परिणाम सबको भुगतना पडता है। इतना होने पर भी इस ओर हमारा ध्यान नही जाता। क्यो ?

उद्योगपति और राजनेता प्रगति की रट लगाते-लगाते नही अघाते। वे निरन्तर प्रगति की बात करते हैं। प्रगति के लिए प्रवृत्ति की अनिवार्यता है। भौतिक प्रगति के लिए, पदार्थ की प्रगति के लिए चाहिए—निरन्तर श्रम, कठोर श्रम और निरन्तर प्रवृत्ति। प्रगति के लिए प्रवृत्ति अनिवार्य है। यह सच है, किन्तु हम इसके परिणामो को देखें। परिणामो का अध्ययन करने पर पता चलता है कि इस निरकुश औद्योगिक और भौतिक प्रगति ने मनुष्य को दूसरी दिशा मे ढकेल दिया है। मनुष्य भटक गया है। परिणाम सुखद नही आया है। मनुष्य स्वय अपनी ही प्रवृत्ति का ग्रास बनता जा रहा है, लक्ष्य बनता जा रहा है। आज यदि

राज नेता और उद्योगपति अपने-अपने स्वार्थो को गौण कर सकें और यह तथ्य समझ सकें कि प्रवृत्ति की सीमा होनी चाहिए और साथ-साथ निवृत्ति का मूल्यांकन होना चाहिए, तो मैं मानता हू कि मनुष्य की चेतना सही दिशा मे प्रवाहित होने लगेगी, स्वस्थ रहेगी और सही दिशा मे विकसित होगी।

आज का सघर्ष चेतना और पदार्थ का सघर्ष है। आज पदार्थ प्रमुख होता जा रहा है, चेतना उसके आवरण मे छिपती जा रही है, जबकि होना यह चाहिए था कि चेतना विकसित रहे और पदार्थ उसका अनुगामी रहे। यदि यह नही होता है तो कम से कम दोनो का सतुलन अवश्य ही बना रहना चाहिए। किन्तु आज उल्टा हो रहा है। उसके दु खद परिणाम आज भी विश्व भोग ही रहा है।

इसलिए हम कायगुप्ति के मूल्य को समझें। उसका बहुत बडा मूल्य है। साधना का भी बहुत बडा मूल्य है।

लोग शिविर मे आते है, दस दिन के लिए, बीस दिन के लिए और अधिक लम्बा हो तो तीस दिन के लिए। उनको लगता होगा कि निकम्मे बैठे हैं। कोई काम नही करना पडता। समय निकम्मा बीतता है। शिविर निठल्लापन सिखाता है—यह अनुभव होता होगा। जो बहुत काम करने वाले लोग हैं, प्रवृत्ति मे अतिरिक्त विश्वास करने वाले लोग हैं, उनको तो लगता होगा कि शिविर मे दिन निकम्मा बीतता है। इससे निठल्ला समाज बनेगा। मैं समझता हू कि यह चिन्तन यथार्थ नही है। ऐसा चिन्तन नही होना चाहिए। प्रवृत्तिमय जीवन तो हम बिता ही रहे हैं, पर निवृत्ति को भी हम समझें, निवृत्ति का मूल्यांकन करें और प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का सतुलन स्थापित करें—यह आवश्यक है। इस दिशा मे हमारी गति हो तो शिविर की बहुत बडी उपयोगिता है। यदि शिविर मे अकर्म का वास्तविक अभ्यास कर सकें और उसकी यथार्थता का मूल्यांकन कर सकें तो मैं इसकी बहुत बडी सार्थकता मानता हू, व्यर्थता का अनुभव नही करता। हमारे जीवन का विकास अकर्म के क्षणो मे होता है। जो आदमी निरन्तर व्यस्त रहता है वह ज्ञान की बडी उपलब्धि नही कर सकता। यद्यपि शारीरिक दृष्टि से प्रवृत्ति की यह व्यवस्था है कि दिन मे जागो तो रात को सोओ। जितना काम करो, उतना विश्राम भी करो। आदमी इन नियमो को भी तोडता जा रहा है। जो सोने का समय है, उसका भी अतिक्रमण करता जा रहा है। पुराने जमाने मे इस प्रकार के अतिक्रमण करने वाले को निशाचर कहा जाता था। जो रात मे काम करता है, रात मे घूमता है, चलता-फिरता है और रात मे खाता है, उसे निशाचर कहा जाता है। निशाचर यानी राक्षस। इनका परिभ्रमण रात मे ही होता है। आज का आदमी भी निशाचर बन गया है। वह रात मे खाता-पीता है, रात मे काम करता है, रात मे ही आता-जाता है। जीवन का सारा क्रम ही बदल गया है, किन्तु शारीरिकव्यवस्था की दृष्टिसे, स्नायविकव्यवस्था की दृष्टि से और आपेक्षिक

विश्राम की दृष्टि मे और निवृत्ति मे होने वाली प्रवृत्ति की समीचीनता की दृष्टि मे विचार किया जाए तो हम इसे अस्वीकार नही करेंगे कि प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का सन्तुलन होना चाहिए, कर्म के साथ अकर्म का सन्तुलन होना चाहिए। कर्म इतना नही होना चाहिए कि जिससे अकर्म लुप्त हो जाये तथा कर्म का दोष इतना हावी हो जाये कि वह मानवीय चेतना को आवृत कर दे, ढाक दे। आचाराग सूत्र मे कहा गया है—'अकम्मे जाणइ'—जो अकर्म होता है वह जानता-देखता है। आपने पढा होगा कि वैज्ञानिको को वडी उपलब्धिया उन क्षणो मे हुई है जबकि वे निश्चित और निष्क्रिय वैठे थे। काम करते-करते बहुत कम लोगो को वडी उपलब्धिया मिली है। इन्ट्यूशन—आतरिक वोध, आतरिक शक्ति—यह जो विकसित हुआ है, कोई वडी वात सूझी है, तो वह उन्ही क्षणो मे सूझी है, जब आदमी अकर्म और निश्चित वैठा हो। निष्क्रियता स्वय मे वहुत वडी उपलब्धि है। निष्क्रियता का अर्थ है वाहर से निकम्मा और भीतर से सक्रिय। निष्क्रियता का अर्थ निठल्लापन नही है। एक आदमी वाहर से सक्रिय और भीतर से निष्क्रिय होता है। एक आदमी वाहर से निष्क्रिय और भीतर से सक्रिय होता है। हम चेतना-जगत् मे सक्रिय और वाह्य जगत् मे निष्क्रिय रहने वाले आदमी को निठल्ला मान लेते है, यह वहुत वडी भूल है। निठल्ला वह होता है जो वाहर से भी निष्क्रिय और भीतर से भी निष्क्रिय है। वह मूर्छा मे है, ज्ञान मे है, प्रमाद मे है। वह निकम्मा है, निठल्ला है। किन्तु जो व्यक्ति वाहर से निष्क्रिय होकर वैठा है और भीतर की लौ जल रही है, भीतर मे आग जल रही है, चेतना का प्रज्वलन हो रहा है वह निकम्मा और निठल्ला नही है। किन्तु वह सक्रिय है और वहुत वडी शक्ति को जागृत कर रहा है। यह शक्ति पदार्थ-जगत् मे भी वहुत उपयोगी है। गीता मे कहा है—

'कर्मण्यकर्म य पश्येत्, अकर्मणि च कर्म य।
स वुद्धिमान् मनुष्येपु, स युक्त कृत्स्न कर्मकृत्॥

—जो कर्म मे अकर्म को देखता है और अकर्म मे कर्म को देखता है, वह युक्त होता है, सम्पूर्ण कर्मो को करने वाला होता है।

अकर्म मे कर्म को देखने की वात हमने भुला दी। अकर्म मे भी वहुत वडा कर्म होता है। अकर्म मे जो कर्म फलित होता है, वह वास्तव मे वहुत निर्दोप कर्म होता है। कर्म मे जो कर्म फलित होता है, उसके साथ वहुत सारे दोप आते है। अकर्म के इस महत्त्व को हम समझें। काया की गुप्ति, काया का शिथिलीकरण, काया का विसर्जन—इसे हम समझें। विधि की चर्चा आज मैं नही कर रहा हू। विधि प्रयोग के द्वारा समझाई जा रही है। प्रयोग के साथ उसकी और चर्चा भी की जा सकती है कि किस प्रकार सिर मे पैर तक, प्रत्येक अवयव को आप स्थिर करें। और इतना स्थिर करें कि उसमे चचलता न रहे, प्रकपन न रहे। समूचा शरीर

स्थिर हो जाए। स्थिरता के लिए यदि एक बार तनाव भी पैदा करना पडे तो आप करें। इससे शिथिलन बहुत जल्दी प्राप्त हो सकता है।

आप भूमि पर लेटकर पैर फैला दें। हाथ ऊपर ले जाए। फिर हाथ-पैरो को जितना तान सकें, उतना तान लें। एकबार इतना तनाव पैदा कर दें कि वह चरम स्थिति तक पहुच जाए। तनाव को छोड दें, पूरे शिथिल हो जाएगे। शिथिल होने की यह एक प्रक्रिया है।

शिथिलीकरण की यह दूसरी प्रक्रिया है। पैर से लेकर सिर तक, एक-एक अवयव पर सकल्प करते चले जाए कि वह अवयव शिथिल हो रहा है, यह अवयव शिथिल हो रहा है। फिर सिर से पैर तक उसे दोहराए। इस प्रकार केवल दो-चार मिनिट शिथिलीकरण के सकल्प मे लगाए। शरीर शिथिल हो जाएगा। यह नही होता कि लेटने मात्र से शरीर शिथिल हो जाए। सकल्प करना होता है, सजेशन्स देने होते है। यह शिथिलीकरण की दूसरी विधि है, प्रक्रिया है।

साधना की दृष्टि से शिथिलीकरण की प्रक्रिया बहुत अपेक्षित है। इसका बहुत बडा मूल्य है और मैं चाहता हू कि प्रत्येक साधक इस मूल्य का अनुभव करे।

६

न बोलने का मूल्य

हम बोलने से परिचित है। बोलने का क्या मूल्य है—इसे भली भाति जानते है। हमारा सारा व्यवहार बोलने से चलता है। किन्तु न बोलने का भी अपना मूल्य है। जितना बोलने का मूल्य है उतना ही न बोलने का मूल्य है और एक अवस्था मे शायद बोलने की अपेक्षा न बोलने का मूल्य अधिक है। उस मूल्य को हमे समझना है। जो प्राणी विकसित होते हैं उन्हे बोलने की अपेक्षा नही होती। देवताओ के पर्याप्तिया पाच होती है। उनके भाषापर्याप्ति और मनपर्याप्ति एक ही होती है, दो नही होती। सामान्य मनुष्य मे, सामान्य प्राणियो मे छह पर्याप्तिया होती है, किन्तु देवताओ मे पाच ही होती है। माना जाता है कि चक्रवर्ती मे भी पाच ही पर्याप्तिया होती हैं। जो मन से अपनी बात कह सकता है उसे बोलने की जरूरत नही होती है। बोलने की ज़रूरत उसे होती है या तब होती है जब हम अपनी बात मन से नही कह सकते। जब व्यक्ति मन से कही हुई बात नही समझ सकता तब हमे बोलकर बात कहनी होती है। किन्तु जब मन से बात हो सकती है तब भाषा व्यर्थ हो जाती है। उसकी कोई सार्थकता नही होती। बोलने की कोई अपेक्षा नही होती। मनुष्य जैसे-जैसे ज्ञान की भूमिका मे आगे बढ़ता है, उच्च ज्ञानी होता है, वैसे-वैसे बोलने की अपेक्षा कम हो जाती है। तभी तो यह प्रश्न उठता कि तीर्थंकर बोलते क्यो है? केवली क्यो बोलते है? जब वे कृतकृत्य हो गए, जब उनका सारा कार्य सम्पन्न हो गया, सब कुछ सिद्ध हो गया, फिर उन्हे बोलने की जरूरत क्या है? वे क्यो बोलते है? वे बातचीत क्यो करते है? वे धर्मकथा क्यो करते है? वे उपदेश क्यो देते है? कोई आवश्यकता नही है बोलने की, उपदेश देने की। प्राचीन व्याख्याकारो ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा कि तीर्थंकर या केवली कृतकृत्य है। उन्हे बोलने की कोई जरूरत नही है। किन्तु तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का उदय है इसलिए वे बोलते है। उन्होने अपने ढग से ठीक सोचा होगा और समाधान की यह भाषा प्रस्तुत की होगी। इसका दूसरा भी समाधान हो सकता है। वह यह है कि ज्ञानी मनुष्य को भी

अज्ञानी मनुष्य के लिए बोलना पडता है। जब व्यक्ति को परम ज्ञान उपलब्ध होता है वह परम ज्ञानी बनता है, उसके मन मे एक करुणा जागती है कि मैंने जो जाना है, मैंने जो देखा है, मैंने जो अनुभव किया है, उसे दूसरो को भी बताऊ। उसके मन मे परम करुणा, परम अनुकपा, परम सौहार्द और मैत्री की भावना जागृत होती है। उस भावना मे वे उस मनुष्य को कुछ बताना चाहते है जो नही जानता, जिसने उस परम रस का आस्वाद ही नही किया है, जिसने परम ज्ञान को प्राप्त नही किया है। वे एक इशारा करना चाहते हैं, एक इगित करना चाहते हैं और कुछ देना चाहते है, इसलिए उनकी करुणा फूट पडती है और वे बोलते हैं। यदि दो केवलज्ञानी मिल जाए तो उन्ह बोलने की कोई जरूरत नही होती। भाषा का प्रयोग नही होता। वहा आत्मा से आत्मा की बात होगी। वहा भाषा व्यर्थ है। उसका कोई उपयोग नही है। दो विशिष्ट ज्ञानी मिलेंगे तो बातचीत की कोई जरूरत नही होगी। बातचीत की जरूरत होगी दो अज्ञानी मनुष्यो को। एक ज्ञानी और एक अज्ञानी होगा तो बातचीत की थोडी जरूरत होगी। दो ज्ञानी मिलेंगे तो बातचीत की जरूरत समाप्त हो जाएगी। कोई बोलेगा नही। वह भी गूगा और वह भी गूगा। दोनो गूगे की तरह एक-दूसरे को देखते रहेंगे, किन्तु बोलेंगे नही।

एक घटना है। फरीद यात्रा कर रहा था उसके साथ काफी शिष्य थे। जब वह काशी के पास से गुजर रहा था तब शिष्यों ने कहा—बहुत सुन्दर अवसर है। पास मे ही कबीर का आश्रम है। वहा चलें। दो दिन विश्राम करें। विश्राम भी होगा और दो ज्ञानी पुरुष मिलेंगे तो बातचीत भी होगी। हमे जानने को मिलेगा, विशेष सुनने को मिलेगा। शिष्यो ने फरीद से अनुरोध किया। फरीद ने अनुरोध स्वीकार कर लिया।

उधर कबीर के शिष्यो को पता चला कि फरीद काशी से गुजर रहा है। साथ मे शिष्य भी है। उनके मन मे भी भावना जागी। उन्होंने कबीर से कहा — फरीद इधर से गुजर रहा है। उसे यहा रोक लें। आप दोनो की बातचीत होगी। दो ज्ञानी मिलेंगे। कबीर मिलेगा, फरीद मिलेगा। दोनो ज्ञानी हैं। अच्छा वार्तालाप होगा। हमे सुनने को मिलेगा, जानने को मिलेगा। बहुत भला होगा। कबीर ने कहा - बहुत अच्छा। कबीर अपने शिष्यो को साथ लेकर चल पडे। फरीद आ ही रहा था। कबीर और फरीद—दोनो गले मिले। कबीर ने फरीद से ठहरने को कहा। फरीद ने बात मान ली। दोनो आए। आश्रम मे ठहर गए। आश्रम कबीर का है। वहा कबीर भी है और फरीद भी है। दोनो के शिष्य भी हैं। दोनो के शिष्यो के मन मे बहुत उत्कठा है। एक ओर फरीद और उसके शिष्य बैठे है। दूसरी ओर कबीर और उसके शिष्य बैठे हैं। सभी शिष्य दोनो की बात सुनने के लिए उत्सुक हैं। शिष्य सोच रहे हैं कि कौन पहले बोलेगा—कबीर

था फरीद ? सभी प्रतीक्षा मे बैठे हैं। एक घटा बीता। दो घटे बीते। सभी मौन है। दोनो ज्ञानी भी मौन है। फरीद कबीर की ओर झाक रहा है और कबीर फरीद की ओर झाक रहा है। दोनो की आखें मिल रही है। पर वाणी का ताला नहीं खुल रहा है। मौन, मौन और सर्वत्र मौन। कोई नही बोल रहा है। न कबीर बोल रहा है और न फरीद बोल रहा है। शिष्य प्रतीक्षा करते-करते थक गए। ऐसे तो समय जल्दी बीत जाता है, किन्तु प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते है, आदमी प्रतीक्षा करते-करते थक जाता है। प्रतीक्षा के क्षण वैसे ही लम्बे होते हैं, फिर मन मे गहरी आकाक्षा और उत्कठा होती है, तो वे क्षण और अधिक लम्बे लगने लगते है। एक-एक क्षण एक-एक घटा जितना लम्बा लगना है। सभी शिष्य प्रतीक्षा करते-करते थक गए, ऊब गए। सोचा—क्या फरीद गूगा है ? अरे, क्या कबीर भी गूगा हो गया ? दोनो मौन है। कोई नही बोल रहा है। आखिर हो क्या गया है ? कुछ समय और बीता। कबीर उठ खडे हुए। फरीद भी उठे। दोनो वहा से चले गए। अपने-अपने काम मे लग गए। भोजन का समय आया। भोजन किया। विश्राम किया। मध्याह्न का समय हुआ। दोनो फिर मिले। दोनो बैठे है। एक-दूसरे को देख रहे है। दोनो की आखें मिल रही है। दोनो मौन है। शिष्य प्रतीक्षा मे बैठे है। पूरा दिन बीत गया। सूर्यास्त हो गया। सभा विसर्जित हो गई शिष्यो ने सोचा—शायद रात को बोलेंगे। रात मे मिले। फिर मौन ही मौन। शिष्य उकता गए। दिन उगा। फिर दोनो मिले। मौन। कोई बातचीत नही। रात मे मिले। फिर वही मौन। शिष्यो का मन ऊब गया। सब सो गए। तीसरा दिन उगा। फरीद प्रस्थान के लिए तैयार हुआ। कबीर पहुचाने गया। दोनो मौन चल रहे थे। आखिर एक सीमा आयी। दोनो फिर गले मिले। फरीद आगे चला गया। कबीर अपने आश्रम की ओर लौट आया। आश्रम पहुचते ही कबीर के शिष्यो ने कहा—यह क्या, आपने हमे धोखे मे क्यो रखा, आपको नही बोलना था तो पहले ही बता देते। हम इतनी प्रतीक्षा नही करते। हमने अडतालीस घटे प्रतीक्षा मे बिताए। हमारी कितनी उत्कठा थी ? कितनी आकाक्षा थी ? कितनी भावना थी ? हम सोचते थे—दो ज्ञानी मिलेंगे। एक ओर फरीद होगा, दूसरी ओर कबीर। दोनो की बातें होगी। हम सुनेंगे। ज्ञान बढेगा।

कबीर ने कहा—किससे बात करता ? किससे बोलता ? सामने फरीद बैठा था। फरीद जैसे ज्ञानी से क्या बात करता जो मन की बात समझता है उसके सामने बोलकर क्या मैं अपनी नादानी प्रकट करता ? क्या मैं अपनी नासमझी और बेवकूफी प्रकट करता। मैं किससे बात करता ! तुम ही बताओ। यदि सामने कोई अज्ञानी होता तो मैं अवश्य ही उससे बात करता। पर वह तो महाज्ञानी था मैं क्या बात करता ? वह मेरे मन की सारी बातें जानता है।

फरीद के शिष्यों ने भी फरीद से यही पूछा था और फरीद ने यही कहा—मैं किससे बात करता! कबीर जैसा ज्ञानी व्यक्ति सामने था, वह मेरे मन की सारी बातें जानता है। फिर मैं क्या बोलता? जो मैं कहना चाहता, वह सब कुछ जानता था। ऐसी स्थिति में उसके सामने कुछ बोलकर मैं अपनी मूर्खता ही प्रकट करता। बात करने का मेरे सामने कोई प्रश्न ही नही था। बात वहा होती है जहा सामने कोई अज्ञानी होता है। दो अज्ञानी होते है तो बात कभी समाप्त ही नही होती। बहुत लबी हो जाती है। दो पडित मिलते हैं तो शास्त्रार्थ कभी समाप्त नही होता। विवाद कभी समाप्त ही नही होता ऐसी परिस्थिति को ध्यान मे रखकर ही भगवान् महावीर ने कहा था—यदि कोई पडित मिल जाए, कोई अर्थ-शास्त्री मिल जाए तो उसे पहले समझाओ। फिर समझाओ। और यदि समझाने पर भी न माने तो वहा वागगुप्ति कर लो वचन की गुप्ति कर लो। अर्थात् मौन हो जाओ। बिलकुल मौन हो जाओ। यह सबसे सुन्दर समाधान है।

बादशाह ने बीरबल से पूछा—'मूर्ख से पल्ला पडे तो क्या करना चाहिए?' बीरबल ने कहा—'जहापनाह, मौन हो जाना चाहिए।' मौन रहना सबसे अच्छा समाधान है। विवाद को समाप्त करने का इससे बडा उपाय नही हो सकता।

महावीर ने भी यही कहा कि यदि कोई पडित मिल जाए, निरा भाषाशास्त्री मिल जाए, केवल तर्क के बल पर ही विवाद को बढाना चाहे, शास्त्रार्थ करना चाहे तो मौन हो जाओ, वागगुप्ति कर लो। यही उसका समाधान है।

दो ज्ञानी बात नही करते। भाषा का प्रयोग वहा होता है जहा एक बहुत समझने वाला है और दूसरा कम समझने वाला है। जहा दोनो ज्ञानी हैं, बराबर समझने वाले हैं वहा भाषा का प्रयोग व्यर्थ है।

मौन के लिए बहुत बडा अवकाश है कि हमारा ज्ञान बढे। ज्ञान तब बढेगा जब भाषा का व्यापार कम होगा। जितना भाषा का प्रयोग अधिक होगा, हम अधिक बोलेंगे तो समुचित ही हमारे अन्तर्ज्ञान मे बाधा आएगी। चचलता बाधा उत्पन्न करती है। भाषा का पहला काम है चचलता उत्पन्न करना। पूज्यपाद ने लिखा है—जनेभ्यो वाक् तत स्पद—जब सम्पर्क होता है तब वाक् होती है। अकेले मे तो कोई वाक् नही होती। अकेले मे कोई बोलता नही। अकेले मे बोलने की कोई जरूरत नही होती। जब दूसरा कोई होता है, सम्पर्क होता है तब वाक् होती है। वाणी के बाद होती है—चचलता। बोलने से पहले चचलता और बोलने के बाद चचलता। जब हम बोलते है तो सबसे पहले मन को चचल करना पडता है। मन को चचल किए बिना कोई आदमी बात नही करता। क्योंकि जो कुछ वह कहना चाहता है, पहले वह सोचता है, फिर बोलता है। बोलने का मतलब है कि पहले मन को चचल करो, फिर बोलो। बोलने से पहले भी चचलता और बोलने के बाद भी चचलता। बोलना स्वय चचलता है।

बोलने के बाद, उसका फिर जो चिन्तन होता है वह स्वय चचलता उत्पन्न करता है। बोलने मे पहले चचलता, बोलते समय चचलता और बोलने के बाद भी चचलता। यह सारा चचलता का व्यवहार है और व्यवहार अन्तर्ज्ञान मे बाधा उपस्थित करता है। जो भी अन्तर्ज्ञान की साधना करने वाले साधक हुए है, उन्होंने कम-से-कम भाषा का प्रयोग किया है। वे अधिक समय मौन रहे है।'

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भगवन् ! वचन की गुप्ति अर्थात् मौन के द्वारा जीव क्या प्राप्त करता है ?' भगवान् ने उत्तर दिया - 'वचनगुप्ति से निर्विचारता प्राप्त होती है। 'निव्वियारत्त,—यह प्राकृत भाषा का शब्द है। इसके दो सस्कृत रूपान्तरण हो सकते हैं—निर्विचारत्व या निर्विकारत्व अर्थात् निर्विचारता या निर्विकारता। वचनगुप्ति के द्वारा निर्विचारता या निर्विकारता प्राप्त होती है। विकृति अर्थात् परिणति। निर्विकृति अर्थात् स्थिरता जहा कोई परिणति नही है। किन्तु स्थिरता है। भाषा से होने वाली विकृति समाप्त हो जाती है।

वचनगुप्ति का एक परिणाम है—निर्विचारता। हम ज्यादा इसीलिए सोचते हैं कि हम बोलें, दूसरो को कहे। या जब बोलने की बात हमारे मन मे आती है तब हम सोचते है। जब हम मौन कर लेते है तब निर्विचारता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वचनगुप्ति का बहुत बडा लाभ है—निर्विचारता। नही बोलने का एक मूल्य है निर्विचारता। विचार की स्थिति समाप्त हो जाती है।

नही बोलने का दूसरा मूल्य है—विवाद-मुक्ति। विवाद से छुटकारा मिल जाता है। मौन हो जाओ, विवाद अपने आप समाप्त हो जाएगे। हमेशा विवाद या लडाई होती है बोलने के कारण। एक बोलता है और यदि दूसरा मौन हो जाता है तो लडाई समाप्त हो जाती है। 'अतृणे पतितो वह्नि, स्वयमेव विनश्यति' - आग जल रही है। उसे खाने के लिए घास नही मिला, भोजन नही मिला, तो वह स्वय बुझ जाएगी, जलेगी नही। वैसे ही दो व्यक्ति बोलते चले जाते है तो लडाई की आग भभकती है, बुझती नही, शात नही होती। लडाई की आग को ईंधन मिलता जाता है, भोजन मिलता जाता है और वह जलती रहती है। एक बोलता है और दूसरा यदि मौन हो जाता है, नही बोलता है तो आग को घास नही मिलती, वह अपने आप शात हो जाती है, बुझ जाती है। मौन का दूसरा लाभ है—विवाद-मुक्ति।

मौन का तीसरा लाभ है—अह-मुक्ति। नही बोलने से अहकार समाप्त हो जाता है। बोलने से अहकार बढता है। 'मैं अच्छा बोलता हू'—यह अह है। 'भाषा पर मेरा प्रभुत्व है'—यह भी अह है। इनसे अह को बढावा मिलता है। भाषाओ का जितना ज्ञान होता है, उतना ही अह बढता है। भगवान् महावीर ने इसीलिए कहा - न चित्ता तायए भासा, कओ विज्जाणुसासन—भाषा हमे त्राण नही

देती। नाना प्रकार की भाषाएं त्राण नहीं बनती। मैं संस्कृत जानता हूं, हिन्दी जानता हूं, प्राकृत जानता हूं, अंग्रेजी जानता हूं, फ्रेंच जानता हूं, - इस प्रकार भाषाओं का अहं बढ़ता है। भाषा बोलने का माध्यम है, विचार को व्यक्त करने का माध्यम है, वह हमारे अहंकार का माध्यम बन जाती है।

स्वामी रामतीर्थ अमेरिका गए। अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष उनसे मिलने आए। आते ही उन्होंने पूछा—'स्वामीजी! आप अपने को बादशाह कहते हैं, यह कैसे? आपके पास तो कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह थोडा ही है। फिर आप बादशाह कैसे हुए, यह समझ में नहीं आता। रामतीर्थ ने कहा—'मेरे पास कुछ नहीं है इसीलिए तो मैं बादशाह हूं। जो पकडता है वह गरीब होता है। जो गरीब होता है वह सब चीजों को बटोरना चाहता है, इकट्ठा करना चाहता है। मैं गरीब नहीं हूं, बादशाह हूं। मुझे किसी की जरूरत नहीं। सारी दुनिया मेरी है। मैं क्या बटोरूं, कहां से बटोरूं और किसको बटोरूं? समूची दुनिया ही मेरी है। गरीब बटोरने का प्रयत्न करता है। आप सब बटोरने वाले हैं, गरीब हैं, दरिद्र हैं। सच्चा बादशाह तो मैं हूं, जो कुछ भी नहीं बटोरता। मेरे पास कुछ भी नहीं है, इसीलिए मैं बादशाह हूं।'

सचमुच बात बहुत ही मर्म की थी। उस मर्म ने राष्ट्राध्यक्ष के हृदय को बींध डाला। स्वामी को भी संतोष मिला कि एक अकिंचन व्यक्ति की बात काम कर गई। वे भारत लौटे। उन्होंने सोचा—मैंने जो कुछ कहा, जो कुछ अनुभव किया भारत के लोगों को भी बताऊं। भारत में उन्होंने काशी को चुना, क्योंकि काशी पंडितों की नगरी है। पंडित उस बात को अधिक समझ सकेंगे, उसको अधिक मूल्य देंगे। वे काशी पहुंचे। सभा आयोजित हुई। काफी लोग आए। बडे-बडे पंडित, दिग्गज विद्वान् आए। रामतीर्थ ने संस्मरण सुनाए। संस्मरण सुनने के बाद एक विद्वान् उठा और बोला—'महाराज! आप संस्कृत जानते हैं?' रामतीर्थ ने कहा - 'मैं संस्कृत नहीं जानता।' पंडित बोला—'तो फिर आप ज्ञान की क्या बात करते हैं? जो संस्कृत नहीं जानता, वह ब्रह्मज्ञान को क्या समझेगा? वह ब्रह्मज्ञान की बात क्या करेगा? कैसे करेगा? उसे अधिकार ही नहीं है कि वह ब्रह्मज्ञान की बात करे।'

बात सारी समाप्त हो गई, मानो संस्कृत ने ही ब्रह्मज्ञान पर अधिकार कर लिया है। ब्रह्मज्ञान पर भाषा का ही अधिकार है। जो ब्रह्मज्ञान आत्मा की निर्मलता, आत्मा की पवित्रता और आत्मा की विशुद्धि से प्रसूत होता है जो ब्रह्मज्ञान अन्तरात्मा की पवित्रता से उत्पन्न होता है, उसे भाषा में कैद कर लिया, यह कितनी बडी विडम्बना है। जो संस्कृत जानता है वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। जो संस्कृत नहीं जानता उसे ब्रह्मज्ञान का अधिकार प्राप्त नहीं होता। अन्तर् ज्ञान को आत्मा से सहज उत्पन्न होने वाले ज्ञान को भाषा में बांधकर हमने अपने अहं

को बढाने का अच्छा रास्ता ढूढ लिया। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—'न चित्ता तायए भासा' नाना प्रकार की भाषा आपको त्राण नही दे सकती, दु खो से नही बचा सकती, आत्मिक ज्ञान को उत्पन्न नही कर सकती। 'कओ विज्जाणु-सासन'—यह विद्याओ का अनुशासन, जो सारा-का-सारा बोलने के माध्यम से और भाषा के माध्यम से होता है, वह भी आपकी सुरक्षा नही कर सकता। आपकी अपनी सुरक्षा अपने ज्ञान मे है, अपने आप मे है। यह ज्ञान बोलने से प्राप्त नही होता किन्तु नही बोलने से अवश्य ही प्राप्त होता है। उस ज्ञान को स्वय बोलने की जरूरत नही, किसी भाषा की जरूरत नही।

दुनिया मे अनेक आत्मज्ञानी लोग हुए है। अग्रेजी भापा जानने वाले भी आत्मज्ञानी हुए है, फ्रेंच जानने वाले भी आत्मज्ञानी हुए है, हिन्दी जानते वाले भी आत्मज्ञानी हुए है, सस्कृत और प्राकृत जानने वाले भी आत्मज्ञानी हुए है, और ऐसे भी लोग आत्मज्ञानी हुए है जो किसी भी भापा को पूरी नही जानते, पूरी नही समझते। ऐसे लोग भी आत्मज्ञानी हुए है जो अपने विचारो को प्रकट करना नही जानते, भाषण देना नही जानते, अपनी बात पूरी कहना नही जानते। आत्मज्ञान का भापा के साथ कोई सम्बन्ध नही है। भाषा बाहर से आती है और आत्मज्ञान का स्रोत भीतर से फूटता है। भाषा बोलने का एक साधन मात्र है, व्यवहार का माध्यम है, उस भाषा को भी अपने अहकार का साधन बना लिया। मैं समझता हू कि न बोलने का एक बहुत बडा लाभ है - अहमुक्ति। अहकार से हम मुक्त हो जाते है, छूट जाते है और जिस माध्यम से हमने अहकार बढाया, उससे बच जाते है।

मैं यह मानता हू कि सामान्य आदमी को बोलना पडता है, बोले बिना उसका व्यवहार नही चलता। बोले बिना उसके जीवन की चर्या नही चलती। बोलना पडता है, यह एक बात है और बोलना आवश्यक है, बोलने को हमने अनिवार्य मान लिया, बोलने को हमने प्राथमिकता दे दी—यह दूसरी बात है। इन दोनो मे बहुत बडा अन्तर है। क्योकि जब हमने बोलने को प्राथमिकता दे दी, बोलने को अनिवार्य मान लिया तो हमारी मानसिक क्षमता भी कम हो गई। मानसिक क्षमता क्षीण हो गई। जो बात मन के द्वारा कही जा सकती थी उसे कहने मे हम असमर्थ हो गए। जो मन की शक्ति थी उसमे बहुत बडा अन्तर आ गया।

आज के पेरासा इकोलॉजिस्ट टेलीपैथी का प्रयोग करते हैं। टेलीपैथी का अर्थ है—विचार-सप्रेषण। एक आदमी हज़ार कोस की दूरी पर है। उससे बात करनी है, कैसे हो सकती है ? आज तो टेलीफोन और वायरलेस का साधन है। घर बैठा आदमी हजारो कोसो पर रहने वाले अपने व्यक्तियो से बात कर लेता है। प्राचीन काल मे ये साधन नही थे, तो वे दूर-स्थित व्यक्तियो से बात कैसे करते ! वे टेलीपैथी, विचार-सप्रेषण के द्वारा बातचीत कर लेते। प्राचीन काल

मे टेलीपैथी शब्द नही था यह अंग्रेजी का शब्द है। उस समय प्रचलित शब्द था—विचार-सम्प्रेषण। इसका अर्थ है—यहां बैठे-बैठे अपने विचारों को हजारों कोस दूर भेज देना। जैसे एक योगी है। उसका शिष्य पांच हजार मील की दूरी पर है। योगी उसे कुछ बताना चाहता है, उससे बातचीत करना चाहता है। अब वह कैसे बात करे? आधुनिक साधन तो थे नही उस समय। किन्तु उस समय विचार-सम्प्रेषण की साधना की जाती थी। इस साधना मे निष्णात व्यक्ति ध्यान की मुद्रा मे बैठता और अपने विचारों की तरंगों को निर्दिष्ट दिशा मे सम्प्रेषित करता। विचार की तरंगें शक्तिशाली होकर वहां पहुंच जाती, जहां साधक उन्हें पहुंचाना चाहता। वहां के व्यक्ति का दिमाग रिसीवर का काम करता। वह उन तरंगों को पकड़ लेता और उनके माध्यम मे जान लेता कि कौन क्या कहना चाहता है। फिर यदि उसे उत्तर देना होता तो वह स्वयं ध्यानस्थ होता, ध्यान करता बैठता और विचारों की तरंगों को गुरु या इष्ट व्यक्ति के पास पहुंचा देता। विचार जान लिये जाते। यह प्रक्रिया थी बातचीत करने की। यह माध्यम था विचार-सम्प्रेषण का। इसके लिए मानसिक क्षमता के विकास की जरूरत होती थी। साधक मानसिक क्षमता को बढ़ाने का प्रयत्न करते थे।

हमने बोलने की बहुत आदत डालकर मानसिक क्षमता को कमजोर किया है, गंवाया है। आज मानसिक क्षमता को विकसित करने का कोई प्रयत्न नही हो रहा है। इसके भी दो कारण हैं। एक तो हमने बोलने को प्राथमिकता दे दी। बोलने का कुछ काम पत्राचार मे करने लगे। आज तो संचार के इतने साधन विकसित हो चुके हैं कि उसके लिए मानसिक क्षमता की कोई जरूरत ही महसूस नही होती। बोलने की जरूरत तब ज्यादा महसूस होती है जब मानसिक क्षमता मे हमारा विश्वास उठ जाता है। यदि हम न बोलकर अपनी मानसिक क्षमता को विकसित करें तो ऐसा भी हो सकता है कि बिना कहे भी बात समझ मे आ जाती है। गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशया:—जिस गुरु की आत्म-शक्ति प्रबल होती है, वह मौन बैठता है। शिष्य आते हैं नाना प्रकार के संदेह लेकर। गुरु के पास बैठते हैं। गुरु की सन्निधि प्राप्त करते हैं। उनके सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, उनका समाधान हो जाता है। उनको अपने-अपने प्रश्नों का उत्तर प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वहां मन की भाषा चल रही है। मन अपना काम करता है, संदेह मिट जाता है। काम समाप्त हो जाता है। दिगम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते नहीं। श्वेताम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते हैं। मैं [illegible] चर्चा मे नही जाऊंगा। दिगम्बर कहते हैं—तीर्थंकर बोलते नही। केवल ध्वनि निकलती है। इसमें मुझे वैज्ञानिकता लगती है। बहुत वैज्ञानिक बात है यह। वे बोलते नही किन्तु जो कहना चाहते हैं वह सब कुछ स्वतः पहुंच जाता है। वहां बोली ध्वनि होती है, भाषा नही होती। किन्तु जितने लोग बैठे होते हैं

वे उस ध्वनि को अपनी-अपनी भाषा के रूप मे समझ लेते है । श्वेताम्बर मानते हैं कि तीर्थंकर बोलते हैं, एक भाषा मे । हिन्दी जानने वाले उसे हिन्दी मे समझ लेते हैं, सस्कृत जानने वाले सस्कृत मे और प्राकृत जानने वाले प्राकृत मे समझ लेते हैं । हिन्दी जानने वाले समझते है कि वे हिन्दी मे बोल रहे है । सस्कृत जानने वाले समझते है कि वे सस्कृत मे बोल रहे है । प्राकृत जानने वाले सझझते हैं कि वे प्राकृत मे बोल रहे है । आदमी जानता है कि वे आदमी की भाषा मे बोल रहे है और पशु समझते है कि वे पशु की भाषा मे बोल रहे हैं । उनकी ध्वनि या वाणी को आदमी समझ जाता है, पशु भी समझ जाता है और देवता भी समझ जाता है । यह कैसे होता है ? क्या कोई अनुवादक बैठा है वहा ? नही, कोई अनुवादक नही है । यह स्वाभाविक परिणति है । इसे इस रूप मे प्रस्तुत किया जाए कि वह ध्वनि है और वह ध्वनि विभिन्न भाषाओ मे बदल जाती है । और श्रोता अपनी-अपनी भाषा मे उसे पकड लेते है । वक्ता को बोलने की आवश्यकता नही होती । वह जो कहना चाहता है वह ध्वनि के माध्यम से कह देता है। मनोवर्गणा के पुद्गल इतने शक्तिशाली होते है कि वे विभिन्न भाषाओ मे बदल जाते है और अपना काम कर देते है ।

नही बोलने का एक और मूल्य मैं प्रस्तुत करूगा । वह है हमारा अनिर्वचनीयता का सिद्धात। भारत के लगभग सभी दर्शनो ने इस शब्द का प्रयोग किया है । वेदान्त मे कहा गया है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय है । ब्रह्म कहा नही जा सकता । उसकी व्याख्या नही की जा सकती । बौद्ध दर्शन मे अनिर्वचनीयता का बहुत प्रयोग हुआ है । बुद्ध ने पूछा—परलोक क्या है ? बुद्ध ने कहा—अनिर्वचनीय, उसे कहा नही जा सकता । आत्मा क्या है ? पुनर्जन्म है या नही ? बुद्ध ने कहा—अनिर्वचनीय है, बताया नही जा सकता । कहा नही जा सकता । जितने महत्त्वपूर्ण प्रश्न थे, सबको अनिर्वचनीय कहा । कहा कि उनकी व्याख्या नही की जा सकती। महावीर ने भी कहा—पूर्ण सत्य अव्यक्त है, कहा नही जा सकता । क्योकि वस्तु अनन्तधर्मा है । उसमे अनन्त धर्म है । अनन्त धर्मो को हम कैसे कह सकते है ? हम अपनी वाणी के द्वारा एक क्षण मे एक धर्म का प्रतिपादन कर सकते हैं, शेष अनन्त धर्म दब जाते है । उस स्थिति मे हम समग्र वस्तु का प्रतिपादन कैसे कर सकते है ? इसलिए कह दिया—वस्तु अवक्तव्य है । समग्र वस्तु को नही कहा जा सकता । एक धर्म ही कहा जा सकता है । एक धर्म की ही व्याख्या दी जा सकती है । अनन्त धर्म अवक्तव्य है । अखण्ड सत्य अवक्तव्य है । सम्पूर्ण सत्य अवक्तव्य है । यह बहुत अच्छा हुआ । हम भ्राति से बच गए । हम असत्य से बच गए। अनन्तधर्मा वस्तु को जानने वाला भी उसे कह नही सकता । और जब वह कहता है तब एक भ्राति पैदा होती है । चाहे कोई केवलज्ञानी कहे, सर्वज्ञ कहे, परमात्मा कहे या कोई भी कहे । वह जानता है

पूर्ण, पर जो कुछ कहेगा वह अपूर्ण ही होगा। वह अपूर्ण बात कहेगा। फिर हम उसे टुकड़े-टुकड़े कर लेंगे। उसे अनेक टुकड़ों में बांट देंगे। हम एक बात को पकड़ लेंगे और आग्रह शुरू हो जाएगा। फिर यह होगा कि हमने जो पकड़ा है वह तो सत्य है और तुम जो कह रहे हो वह असत्य है। इस प्रकार से सत्य और असत्य की छीना झपटी शुरू हो जाती है। विवाद खड़ा हो जाता है। एक-दूसरे का खंडन-मंडन प्रारम्भ हो जाता है। खंडन-मंडन जैसा कुछ है नहीं। विवाद जैसा कुछ है नहीं। कोई भी जो कह रहा है वह एक अंश को कह रहा है। हम अंश को पूर्ण मान लेते हैं और पूर्ण मान लेते हैं वहां सचमुच विवाद खड़ा हो जाता है। वाक्-युद्ध शुरू हो जाता है। सैद्धान्तिक लड़ाइयां प्रारम्भ हो जाती हैं। लड़ाई का एक ही कारण है कि अपूर्ण को कहना नहीं चाहिए था और वह कह दिया गया। यदि आदमी मौन रहता, शब्द भी मौन होता, ज्ञानी भी मौन रहता और यह कह देता कि मैं जानता हूं पर कह नहीं सकता, तो लड़ाइयां कम होतीं। पर उन ज्ञानी व्यक्तियों ने अनुकंपावश थोड़ा बहुत कह दिया। पूरा कहा नहीं जा सकता था, थोड़ा कहा, इसीलिए लड़ाइयां प्रारम्भ हो गईं। पूरा कहा जाता तो लड़ाइयां नहीं होतीं।

पांच बच्चे हैं। पांच लड्डू हैं। एक-एक लड्डू सबको दे दिया। बराबर मिला सबको। कोई लड़ाई नहीं होगी। बच्चे पांच हैं और लड्डू एक है। आपने उसके पांच टुकड़े कर, एक-एक टुकड़ा दे दिया। लड़ाई शुरू हो जाएगी। बच्चे कहने लगेंगे—इसको अधिक दे दिया, मुझे कम दिया। उसको वह दे दिया, मुझे वह नहीं मिला। जहां मांग ज्यादा है और वस्तु कम, वहां विवाद होता है, लड़ाई होती है।

इसी प्रकार हमारी मांग तो अनन्त को जानने की है, संपूर्ण सत्य को जानने की है अखंड सत्य को जानने की है, वह हमारी मांग पूरी नहीं होती। हमें जानने को मिलता है थोड़ा-सा अंश, अनन्त का एक खंड। हम उस अंश को पकड़कर उस खंड को लेकर अखंड के लिए लड़ने लग जाते हैं। यह लड़ाई कभी समाप्त नहीं होती। अच्छा तो यह होता कि कोई भी आदमी बोलता ही नहीं। कम से कम सत्य के बारे में कभी कुछ नहीं बोलता, केवल व्यवहार की संपूर्ति के लिए बोलता तो लड़ाई नहीं होती। सत्य के विषय में न बोलना ही असत्य से बचने का अच्छा उपाय है। किन्तु ऐसा हो नहीं सका। उन ज्ञानी पुरुषों ने तो अनुकंपा की, दया की कि अज्ञानी लोग पूरा न जान सकें तो कम से कम थोड़ा बहुत जान लें। यह अनुकंपा भारी पड़ गयी। इसने विवाद का रास्ता खोल दिया। आज यह स्थिति पैदा हो गई है कि आदमी सत्य को जाने या न जाने, वह उसके लिए विवाद करने को तैयार है।

नहीं बोलने का एक बहुत बड़ा मूल्य है—शब्द की सुरक्षा। नहीं बोलने से

सत्य की पूरी सुरक्षा होती है। अवक्तव्य, अनिर्वचनीय, अव्याकृत—ये शब्द सत्य की सुरक्षा करते है। एक कहता है – अस्ति अर्थात् है। दूसरा कहता है -- नास्ति अर्थात् नही है। दोनो की दो दिशाए है। विवाद की स्थिति आ जाती है। महावीर ने कहा जो कहता है अस्ति, वह भी सही नहीं है और जो कहता है नास्ति, वह भी सही नही है। दोनो गलत है। दोनो सही तब हो सकते हैं जब दोनो अपने-अपने कथन के साथ अपेक्षा जोड देते है और कहते हैं कि इस दृष्टि से, इस अपेक्षा से यह है और इस अपेक्षा से यह नही है—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति। जब स्यादस्ति कहने से भी काम नही चलता और स्यान्नास्ति कहने से भी काम नही चलता तब स्याद् अवक्तव्य कहना होता है। यह मानकर चलो कि सत्य कहा नही जा सकता, सपूर्ण सत्य कहा नही जा सकता। सत्य की प्रकृति ही ऐसी है, सत्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कहा नही जा सकता। हम जो कहते है वह सत्य का एक अशमात्र होता है। हम अशमात्र का कथन करके पूरे सत्य के प्रति शायद अन्याय ही करते है, एक दृष्टि से। इस बात को मानकर ही तुम कहो कि पूरा सत्य कहा नही जा सकता। यह गूगे का गुड है। यह स्वाद का वर्णन नही कर सकता।

मैं समझता हू कि न बोलना, मौन रहना, सत्य की सुरक्षा का सशक्त और प्रबल साधन है। मैंने मौन के कुछेक मूल्य प्रस्तुत किए है। हम इन मूल्यो को समझें। केवल बोलने के मूल्य को ही न समझे। किन्तु न बोलने का जो महान मूल्य है, उसे भी समझें और बोलने और न बोलने मे सतुलन स्थापित करें। वाक्-समिति को समझें तो साथ-साथ वाक्गुप्ति को भी समझें। दोनो को समझकर ही हम साधना को समझ सकते है और अपने आन्तरिक ज्ञान को प्रकट करने मे सफल हो सकते हैं।

वाधती है। वह असीम की ओर जाने नही देती। हमारी बुद्धि की एक सीमा है। मन की भी एक सीमा है। वे असीम की ओर नही ले जा सकते। बुद्धि से हम वही जानते है जो मन से जान लिया गया है। मन से हम वही जानते हैं जो इन्द्रियो से जान लिया गया है। इन्द्रिया उसी को जानती है जो कि स्थूल हैं। शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श—ये जो स्थूल है, उन्हे इन्द्रिया जानती है। इन्ही के आधार पर, इन्द्रियो द्वारा गृही विषयो के आधार पर, मन थोडा आगे वढता है। उसी कच्ची सामग्री, रॉ-मेटीरियल को लेकर वह कुछ थोडा निर्माण करता है, वुद्धि फिर उसमे थोडा जोड देती है, थोडा विवेक करती है, निर्णय करती है। वस हमारी सीमा समाप्त। हमारे ग्रहण की सीमा समाप्त। और वह भी तो कोरा ज्ञान नही है। कोरा ज्ञान हम कब करते है? कोरा ज्ञान करना हम जानते ही नही, क्योकि इन्द्रिया, मन और बुद्धि की सीमा मे शुद्ध जैसा कुछ है ही नही। सव कुछ मिश्रण है। मिलावट है। जैसे ही विषय पकड मे आता है, मिश्रण शुरू हो जाता है। उसमे राग का पानी आ मिलता है। उसमे द्वेष का पानी आ मिलता है। कई प्रकार की गदगिया मिल जाती हैं। कही प्रियता का प्रभाव जुड जाता है तो कही अप्रियता का भाव जुड जाता है। कही ईर्ष्या जुड जाती है तो कही घृणा जुड जाती है। बिना जुडे कुछ भी नही रहता। बिना मिले कुछ भी नही रहता। शुद्ध जैसा कुछ नही है। सब मिलावट ही मिलावट है। इस चिन्तन की सीमा मे हम चिन्तन का वहुत मूल्य आकते है, किन्तु जितना आकते है, उतना मूल्य उसका नही है। हम उसका मूल्य इसलिए आकते हैं कि हमने अचिन्तन का मूल्य समझा ही नही। न सोचने और न विचारने का मूल्य हम नही जानते इसलिए सोचने और विचारने को अधिक मूल्य दे देते है। उन्हे अधिक महत्व दे देते हैं। जिस दिन हमने गहराई मे डुबकी ले ली और न सोचने का, न विचारने का, अचिन्तन का मूल्य समझ लिया, महत्त्व आक लिया तो बहुत महत्त्वपूर्ण घटना घटित होगी। इन्द्रिय, मन और वुद्धि की सीमा को तोडकर, पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को तोडकर आगे चले गए अन्तरिक्ष मे, तो विचित्र अनुभव होगा भारहीनता का। वहा भार नही है। वहा तनाव नही है। वहा समय का भी वधन नही है। समय की गति भी वहा धीमी हो जाती है। उस स्थिति मे हम चले जाते है। उस स्थिति मे हमे पता चलता है कि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से वधे हुए आदमी मे और उस गुरुत्वाकर्षण से मुक्त आदमी मे कितना वडा अन्तर होता है।

हम अपने जीवन मे अचिन्तन के क्षणो को उपलब्ध करें। तभी हमे पता चलेगा कि विचार की स्थिति मे और निर्विचार की स्थिति मे कितना अन्तर है? चिन्तन के क्षणो मे और अचिन्तन के क्षणो मे कितना अन्तर है? चिन्तन के गुरुत्वाकर्षण की सीमा को तोडे विना, अचिन्तन का महत्त्व नही समझा जा सकता।

है जो शब्द और रूप से ऊपर उठ चुके है, जो इस वलय को तोडकर बाहर जा चुके हैं। जो लोग शब्दो और रूपो के जाल मे फसे रहे, उन व्यक्तियो ने कभी आत्मा को नही जाना, कभी नही पहचाना। वे इसकी स्थापना भी नही कर सकते और उत्थापना भी नही कर सकते।

बहुत ही जटिल बात है। हमारे सामने जो है वह सारा का सारा साकार है। जो अनाकार है वह हमे दिखाई नही देता। जो मूर्त है वह हमारे सामने है। जो अमूर्त है वह हमे दिखाई नही देता। कैसे जाने कि कोई अमूर्त है ? अनाकार है ? अखड चेतना है ? आत्मा है ? यह कैसे जानें ? क्या हमारे पास कोई उपाय है ? उपाय है। इस दुनिया मे निरुपाय कुछ भी नही होता। निरुपाय कुछ है ही नही। दही मे घी होता है। आदमी ने उपाय निकाला। छाछ अलग हो जाती है, मक्खन अलग हो जाता है। फूल मे सुगन्ध है। आदमी ने उपाय निकाला। उससे सुगन्ध अलग हो जाती है और फूल अलग रह जाता है। इत्र बनता है। सुगधित पदार्थ बनते है। आदमी अलग करना जानता है। आदमी जानता है कि आत्मा को शरीर से अलग किया जा सकता है। शरीर को चेतना से अलग किया जा सकता है। इस नश्वर से अनश्वर या परमतत्त्व को अलग किया जा सकता हैं। इसका उपाय है। उपाय बतलाया है। स्वय को देखने का उपाय है। आपका मुह आपको दिखाई नही देता। उपाय निकाला। दर्पण सामने है। प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। दर्पण मे आप मुह को नही देखते, उसके प्रतिबिम्ब को देखते है। आदमी न दर्पण को देखता है और न मुह को। वह प्रतिबिम्ब को देखता है। प्रतिबिम्ब उसे विश्वास दे देता है कि तुम्हारा मुह ऐसा है। बिम्ब के द्वारा अपने मुह को पहचान लेता है। हम प्रतिबिम्ब के द्वारा आत्मा को जान सकते है। हम आकाश को नही देख सकते क्योकि आकाश अमूर्त है। पर उसे देखने का भी एक उपाय है। जो आदमी छाया-पुरुष की साधना करता है वह सूर्य की ओर खडा होकर अपनी छाया को देखता है। देखते-देखते ऐसा अभ्यास हो जाता है कि कुछ समय के बाद ज्योही वह अपनी छाया पर ध्यान केन्द्रित करता है, फिर आख मूद लेता है, फिर आकाश को ओर देखता है तो अपना ठीक आकार आकाश मे दिखाई देने लग जाता है। छाया-पुरुष का एक ऐसा दर्पण बन जाता है कि हम उसमे प्रतिबिम्ब के द्वारा आकाश को भी देख सकते हैं।

आत्मा को भी देखा जा सकता है। उसको देखने का उपाय है अचिंतन, चिंतन से मुक्त होना, शब्द से मुक्त होना और रूप से मुक्त होना। क्या यह सभव है ? हा, सभव है। सभव की साधना प्रेक्षा ध्यान मे कराई जाती है। आपको निर्देश दिया जाता है, सुझाव दिया जाता है कि देखें और जानें। स्पष्ट भाव से देखें और जानें। न राग जोडें और न द्वेष जोडें। न प्रियता जोडें और न अप्रियता जोडें। जो जैसा है, उसे वैसा ही देखें। देखने की क्रिया और जानने

और वही ध्यान का आधार होता है। सारे कारक एक हो जाते है। मारे कारक समाप्त हो जाते हैं। भेद समाप्त हो जाता है और अभेद प्राप्त हो जाता है।

निर्विचारता की स्थिति मे केवल सामायिक होती है। मामायिक का मतलव है समय मे होना। समय का एक अर्थ है—आत्मा। आत्मा मे होना ही सामायिक है। जहा होने की स्थिति है, वहा वनने की स्थिति ममाप्त हो जाती है।

भगवान महावीर से पूछा गया -"भते ! के समाइए? के मामाउयस्म अट्ठे"—सामायिक क्या है? सामायिक का क्या अर्थ है?

भगवान ने कहा—'आया खलु सामाइए। आया मामाउयस्म अट्ठे।'

—गौतम! आत्मा सामायिक है। आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।

सामायिक का अर्थ है - आत्मा मे होना, अपने मे होना। जहा अपने मे होने की वात है वहा ध्यान करने की वात नीचे रह जाती है। सामायिक मे हम किसी का ध्यान नही करते, केवल अपने अस्तित्व मे होते है। अपने अस्तित्व मे होना ही सामायिक है। और यही है निर्विचारता की स्थिति। जव तक हम अपनी आत्मा मे नही होते तव तक निर्विचारता की कल्पना भी नही कर सकते, निर्विचार नही हो सकते। प्रकारान्तर से कोई न कोई विचार हमे घेरे रहेगा और विचारो का द्वन्द्व चलता रहेगा। जो आत्मा मे होता है, वह जानने-देखने की क्रिया करता है, और कुछ भी नही करता, उस स्थिति मे सामायिक होता है और उसी स्थिति मे निर्विचारता आती है। वहुत अच्छा तो है कि निर्विचार ध्यान की अपेक्षा हम सामायिक ही कहे और शव्द का यह चुनाव वहुत अच्छा है। भगवान् ने यह शव्द दिया है।

एक व्यक्ति मुनि के पाम आया और वोला—'ससार मे वहुत सारे दु ख हैं। इन दु खो से छुटकारा कैसे मिले? आप उपाय वताए।' मुनि ने कहा 'देखो, कठिन प्रश्न है। पूछ ही लिया तो उत्तर देना पडेगा, अन्यथा मै उत्तर नही देता। वडा जटिल सवाल है। एक उपाय वताए देता हू। जाओ, तुम उस आदमी का अगरखा ले जाओ जिसने जीवन मे कभी दु ख का स्पर्श न किया हो। उसका अगरखा पहन लो, तुम्हारा दु ख छूट जाएगा।'

उसने कहा—'वहुत सीधा उपाय वताया आपने! मैं घूमूगा और अगरखा प्राप्त करूगा। ऐसा आदमी मिल ही जाएगा जिसने कभी दु ख का अनुभव न किया हो।

वह घर से चला। सबसे पहले निकट के घर मे गया। गृहस्वामी से वोला — 'तुम्हारा अगरखा लेने आया हू अगरखा देने से पहले मुझे तुम यह वताओ कि तुम्हारे जीवन मे कभी दु ख तो नही आया?' गृहस्वामी ने कहा - 'इस दुनिया मे जीना और दु ख का न होना—कैसी बात करते हो? कौन आदमी ऐसा होगा इस दुनिया मे जो जीता है और दु ख का अनुभव नही करता! मैं तो बहुत दु खी

बता दू कि निर्विचार ऐसे हुआ जा सकता है तो यह सच पचेगा नही । समझ मे भी नही आएगा । पल्ले कुछ भी नही पडेगा । अभी तो आपको अगरखे की खोज करनी है । घूमना है, घूमना है, भटकना है । घर-घर मे अलख जगानी है । गाव-गाव और घर-घर मे जाना है । सबको देखना है । सब कुछ देख लेंगे, चिन्तन की पूरी प्रक्रिया को देख लेंगे, विचारो की पूरी यात्रा कर लेंगे, विचारो की पूरी परिक्रमा कर लेंगे, फिर यह बात समझ मे आ जाएगी कि निर्विचारता का भी मूल्य है और इस प्रकार निर्विचार हुआ जा सकता है । यह जब तक नही होगा, यानी चिन्तन की पूरी यात्रा नही होगी, विचारो की पूरी परिक्रमा सम्पन्न नही होगी तब तक अचिन्तन की बात, न सोचने की बात समझ मे नही आएगी और उसका मूल्य भी आप नही आक पाएगे ।

इस दुनिया मे जीने वाला—शरीर, प्राण, मन और बुद्धि की सीमा मे जीने वाला कोई भी व्यक्ति निर्विचार नही हो सकता । जैसे मोह, माया और ममता की सीमा मे जीने वाला कोई भी व्यक्ति दु ख से मुक्त नही हो सकता, वैसे ही बुद्धि और शरीर की परिधि के बीच मे जीने वाला कोई भी व्यक्ति विचार से मुक्त नही हो सकता । यह बहुत बडी सचाई है । यह तभी समझ मे आएगी जब हम भी अगरखे की खोज मे गाव-गाव मे भटक लेंगे, विचारो की पूरी यात्रा कर लेंगे और चिन्तन के पूरे सपर्कों को समझ लेंगे । यह बात तभी समझ मे आ सकेगी, तभी इस सचाई को जान सकेंगे, पहचान सकेंगे, पचा सकेंगे ।

अचिन्तन और निर्विचारता की बात बडी आकर्षक लगती है क्योकि हम निरन्तर चिन्तन मे जी रहे है और चिन्तन मे जीने का अनुभव कर रहे हैं । किन्तु जब हमारे सामने अचिन्तन की बात आती है, नही सोचने की बात आती है, विचार-शून्य होने की बात आती है तब सहज ही आकर्षण पैदा होता है और मन होता है कि वैसा जीवन जिया जाए । नयी बात है । क्या यह सम्भव है ? क्या ऐसा हो सकता है कि आदमी बिना चिन्तन और विचार-शून्यता का जीवन जी सके ? विचार का इतना तीव्र प्रवाह और इतनी लबी शृखला है कि कही भी उनका ताता टूटता नही है । एक के बाद एक विचार आता जाता है । कही वह रुकता नही । निरन्तर गतिशील रहता है । उसका कही अन्त ही नही आता । ऐसी स्थिति मे क्या यह सम्भव है कि हम निर्विचारता की बात सोच सकें और ऐसा जीवन जी सकें ? यह प्रश्न सहज है । ऐसी जिज्ञासा होती है और आकर्षण भी पैदा होता है । इसी के आधार पर हम उस दिशा मे प्रयत्नशील हो जाते हैं ।

चिन्तन की अपेक्षा अचिन्तन का बहुत बडा मूल्य है । यह बहुत अर्थवान बात है । हम यह जानते हैं कि अधिक सोचना, अधिक चिन्तन करना शक्ति को क्षीण करना है । हर कर्म या प्रवृत्ति शक्ति को क्षीण करती है । शरीर का कर्म, वाणी

देखने की क्षमता प्राप्त कर लेते है। इस स्थिति मे निर्विचारता की बात समझ मे आ सकती है ।

मैंने पहले कहा था—जो देखता है वह सोचता नही और जो सोचता है वह देखता नही। देखना और सोचना—दोनो साथ-साथ नही चल सकते। जो जानता है वह विचारता नही है और जो विचराता है वह जानता नही है । सोचना, विचारना चिन्तन करना—यह सारी यात्रिक प्रक्रिया है, मस्तिष्क की क्रिया है। यह मस्तिष्क के माध्यम से होती है ।

देखना और जानना, ये यात्रिक क्रियाए नही है । यह अखड चेतना की क्रिया है जो स्वभाव से स्फूर्त होती है। इसका उत्स, उद्गम-स्थल है अखड चेनना, आत्मा । यह यात्रिक क्रिया नही है। यह मस्तिष्क की क्रिया नही है यह मनो-दैहिक क्रिया भी नही है । इसलिए हम अखड चेतना से सम्पर्क करें, डुबकी ले । इसमे खतरा हो सकता है । जिसमे भी खतरा मोल लेने की क्षमता आ जाती है, जो मरने का साहस जुटा लेता है, वही आगे बढ सकता है । जो भी आदमी अपने उक्ष्य की ओर बढना चाहता है, उसे सबसे पहले मरने की तैयारी करनी होती है। मरने की तैयारी के बिना अचिन्तन की बात नही आ सकती ।

कुछ लोग घबरा जाते हैं । ध्यान की गहराई मे जाते है, विचित्र प्रकार के अनुभवो से गुजरते हैं। किंतु घबराकर ध्यान छोड देते है । पूछने पर कहते है—ध्यान की गहराई मे गए । ऐसा लगा कि हार्ट बद हो गया है । घबराकर ध्यान ही छोड दिया । ऐसे लोग अचिन्तन मे डुबकी नही लगा सकते ।

आचार्य भिक्षु महान साधक थे । उनके सामने एक लक्ष्य था। उन्होने सबसे पहले मरने की तैयारी की। श्रीमज्जयाचार्य ने लिखा—'मरण धार सुध मग लह्यो।' आचार्य भिक्षु ने मरने की तैयारी कर शुद्ध मार्ग प्राप्त किया । मरने की सोचे बिना किसी को शुद्ध मार्ग मिलता ही नही। सारे मार्ग भटकाने वाले मिलते हैं। पहुचाने वाला मार्ग उसी व्यक्ति को मिलता है जिसने मरने की पूरी तैयारी कर ली है। इतना साहस बटोर लिया है कि उसमे जीने की कोई आकाक्षा नही है और मरने का कोई भय नही है। वही व्यक्ति इस निर्विचारता की स्थिति मे पहुच सकता है और वही चेतना की अतल गहराई मे डुबकी लगा सकता है। उसी व्यक्ति को अखड चेतना के समुद्र मे गोता लगाने का अधिकार है। इसलिए हम पूरी तैयारी करें और पूरी तैयारी के साथ 'न सोचने, की भूमिका मे जाए, अचिन्तन की भूमिका मे जाए तथा शब्दो, रूपो और आकृतियो की सीमा को तोडकर उस स्थिति मे चले जाए जहा कोई भी शब्द प्रभावित नही करता ।

ध्यान मे शब्द प्रभावित करता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ध्यान मे खडे थे। एक आदमी आया। उसने एक बात कह दी कि राजर्षि राज्य को छोडकर मुनि बन गए। राज्य का भार लडके को सौंप दिया। वह छोटा था। छोटे कधो पर राज्य

लाडनूं शिविर

(२ मार्च, १९७६ से ११ मार्च, १९७६)

राजलदेसर शिविर

(१ जनवरी, १९७७ से ४ जनवरी, १९७७)

का पथ खुल जाता है, विद्युत् तरगें प्रबल हो जाती है। लोहकार धोकनी धोकता है। अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। दीर्घश्वास का भी यही काम है। इसमे यह क्षमता है कि वह सुषुम्ना के पथ को खोल देता है और उसमे प्राणधारा को प्रवाहित कर देता है। प्राणधारा उसमे प्रवाहित होती है और वह मस्तिष्क के केन्द्र मे पहुचकर ज्ञानकेन्द्र को पुष्ट करती है। दीर्घश्वास के अभ्यास का यही प्रयोजन है। यहा होने वाली हमारी प्रत्येक क्रिया का कोई-न-कोई आध्यात्मिक प्रयोजन अवश्य है और उसी से प्रेरित होकर हम यह सब कर रहे हैं।

जो भी साधक पूरी एकाग्रता, निष्ठा और तन्मयता से दीर्घश्वास का प्रयोग करता है, उसको पहला अनुभव यह होगा कि उसके पृष्ठरज्जु के तार झनझनाने लगेंगे। उनमे कपन पैदा होगा। थोडी-सी गहराई मे जाकर यदि वह अनुभव करेगा तो उसे लगेगा कि पीछे कुछ सरसरा रहा है।

दूसरी बात है—जब सुषुम्ना का पथ खुलता है, तब एक विचित्र प्रकार की शाति और तन्यमता का अनुभव होता है और सारे शरीर मे शीतलता व्याप्त हो जाती है। ऐसा लगता है कि जैसे कोई गर्मी से उत्पीडित थका-मादा पथिक सघन छाया मे जाकर बैठ गया हो।

तीसरी बात है—दीर्घ श्वास का अभ्यास जब परिपक्व हो जाता है तब अभ्यास के दस-पन्द्रह मिनिट बाद ही एक प्रकार से निर्विचार की स्थिति पैदा हो जाती है। सारे सकल्प-विकल्प बद हो जाते है।

यह सारा क्यो होता है ? यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर है कि सुषुम्ना मे प्राणधारा का प्रवेश होने के कारण यह सारा घटित होता है। यदि हमारा श्वास दाए मार्ग से प्रवाहित होगा तब भी चचलता आएगी। जैसे ही हमारा श्वास सुषुम्ना मे, मध्य मार्ग के प्रवाहित होने लगेगा, सारी चचलता अपने आप समाप्त हो जाएगी। यह चचलता की समाप्ति का एक प्रबल हेतु है। यदि हम शरीर-शास्त्रीय दृष्टि से इसका महत्त्व नही आकते हैं तो योग-साधना की दृष्टि से या आध्यात्मिक दृष्टि से भी हम इससे लाभान्वित नही हो सकते। इसीलिए शरीर का पूरा-पूरा ज्ञान करना एक योगी या साधक के लिए उतना ही ज़रूरी है जितना एक शरीरशास्त्री के लिए है।

अब हम दूसरे चैतन्य-केन्द्रो पर विचार करें।

मस्तिष्क मे थोडा आगे आज्ञाचक्र का स्थान है। यह भी चैतन्य का बहुत बडा केन्द्र है। इसकी बहुत क्षमताए हैं। कुछ शरीरशास्त्रियो ने तथा परा-मनोवैज्ञानिको ने इसे एक प्रकार से सर्वज्ञता का केन्द्र कहा है। इसी को आज्ञाचक्र या तृतीय नेत्र भी कहा जाता है। यह मस्तिष्क और तालू के नीचे, भृकुटी के बीच गहरे मे आगे जाकर है। पश्चिम के साधको ने 'थर्ड आई' के नाम से इसकी बहुत चर्चाए की हैं और इस पर अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं। यह भी

ध्यान-काल मे ऊर्जा का अधिक व्यय होता है। मन एकाग्र करने मे बहुत प्रयत्न करना होता है। जहा प्रयत्न की प्रबलता होती है वहा ऊर्जा का व्यय बढ जाता है। बिना प्रयत्न किये हम निर्विचार नही हो सकते। यदि हम प्रयत्न मे सफल हो जाते है, ऊर्जा का भरपूर उपयोग कर लेते है तो लक्ष्य-प्राप्ति की सम्भावना बढ जाती है।

तीसरा चैतन्य केन्द्र है—कठ। योग की भाषा मे इसे विशुद्धिचक्र कहते है। इसको यदि विकसित किया जाए तो वासनाओ पर नियन्त्रण पाया जा सकता है। नियन्त्रण नही, मैं भूल कर रहा हू। नियन्त्रण पाना कोई बडी बात नही है। बडी बात है उनका निर्मलीकरण, उदात्तीकरण। विशुद्धिचक्र के विकास से हमारी वृत्तिया सहजरूप मे शान्त हो जाती है।

चौथा चैतन्य केन्द्र है—नाभिचक्र। वह अग्नि का स्थान है। बहुत ऊष्मा है, तेजस्विता है। जहा गर्मी होती है वहा हर चीज मे उभार आता है। उस चक्र पर यदि ध्यान एकाग्र किया जाता है तो वृत्तियो मे भी उभार आता है। वासना मे उभार आता है। तेजस्विता मे हर वस्तु प्रबल हो जाती है।

विशुद्धिचक्र और नाभिचक्र—दोनो का परस्पर सम्बन्ध है। कोई व्यक्ति नाभिचक्र को जागृत करता है पर विशुद्धिचक्र को यदि जागृत नही करता है तो कठिनाई पैदा होती है। दोनो चक्रो को साथ-साथ जागृत करना होता है। यदि ऐसा होता है तो तेजस्विता बढती है, शक्ति का सचय होता है, वृत्तिया शान्त होती है।

एक बहुत बडा चैतन्य केन्द्र है—हृदय। मस्तिष्क का स्थान पहला है और इसका दूसरा। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बहुत बडा पुराना विवाद है कि आत्मा मस्तिष्क मे है या हृदय मे। आयुर्वेद के ग्रन्थो मे लिखा है—'हृदय चेतनाधिष्ठान'— हृदय चेतना का अधिष्ठान है। 'चैत्य पुरुष', हृदय पुरुष—ये शब्द हृदय के लिए व्यवहृत होते रहे है। 'थारै घट मे राम विराजै'— यह घट राम का वास-स्थान है। राम, आत्मा, प्रभु का स्थान है घट यानी हृदय। हृदय महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन की दिशा मे भी हृदय का प्रमुख स्थान है। हृदय है तो जीवन है। हृदय नही है तो जीवन भी नही है। हृदय की धडकन बन्द होते ही जीवन समाप्त हो जाता है। शरीर-तन्त्र का सचालक है रक्त। 'रक्त जीवन'— रक्त ही जीवन है। रक्त का सचालक है हृदय। हृदय मे रक्त प्रवाहित होता है, फेफडे मे उसकी शुद्धि होती है और फिर वहा से उसका प्रसार सारे शरीर मे हो जाता है। रक्त जीवन है और उसको शरीरतत्र मे प्रसारित करने वाला है हृदय। इसीलिए इसका महत्त्व है। यह हमारा भावपक्ष भी है। यदि ज्ञानपक्ष मस्तिष्क है तो भावपक्ष हृदय है।

हृदय चेतना का बहुत बडा केन्द्र है। साधना की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण

कर सकता है।

किसी भी केन्द्र पर मन एकाग्र होते ही नीचे संकुचन प्रारभ हो जाता है। संकुचन एकाग्रता के बिन्दु की सूचना देता है। साधना की दृष्टि से यह माना गया है कि किसी भी साधना मे साधक जाए, नीचे के स्नायुओ का सकोच, सकुचन अवश्य होना चाहिए। स्नायु जितने सकुचित रहेगे, उतना ही ऊपर की ओर विकास होगा। उर्ध्वीकरण होगा, उदात्तीकरण होगा। विद्युत् की जो धारा नीचे की ओर प्रवाहित हो रही थी, उसे रोककर हमने ऊपर की ओर कर दिया। यह साधना है। यह एक प्रकार से विद्युत की धारा को बदलने का, उसकी गति को मोडने का उपक्रम है, इसीलिए इसे मूलबध कहते है। मूल जितना मजबूत होगा, ऊपर के सब अवयव दृढ होगे। वृक्ष का मूल यदि दृढ और स्वस्थ है तो पत्ते, फल और फूल आते ही रहेगे। उनको कोई भी नही रोक पाएगा। यदि मूल विकृत है, अस्वस्थ है, तो वृक्ष अधिक काल तक जीवित नही रह सकेगा, धराशायी हो जाएगा।

साधना की दृष्टि मे यह मूल स्थान है। यह स्थान यदि स्वस्थ है तो सारा विकास सहज-सरल हो जाएगा। यदि हमने इसे ठीक से समझ लिया, पकड लिया तो ऊपर के केन्द्रो का विकास करना हमारे लिए सुगम हो जाएगा। उन केन्द्रो को विद्युत् धारा का उपयुक्त सिंचन मिलेगा, पोषण मिलेगा, इसीलिए इस स्थान पर ध्यान केन्द्रित करना बहुत जरूरी है।

अब हम स्थूल शरीर से हटकर सूक्ष्म शरीर की चर्चा करे। सूक्ष्म शरीर का बहुत बडा संबध है साधना मे। जो दृश्य शरीर है, स्थूल शरीर है, वही पर्याप्त नही है। सूक्ष्म शरीर भी हमारे साथ जुडा हुआ है। हमारी वृत्ति, हमारी आकाक्षा हमारी वासना, हमारे संस्कार—ये सारे स्थूल शरीर मे प्रकट होते है, जागृत मन मे प्रकट होते है। ये कहा से आए ? उनका स्रोत क्या है ? हमे इसकी खोज करनी है। स्रोत को ढूंढ निकालना है। इस स्थूल शरीर मे उनका स्रोत नही है तो फिर वे कहा से आ रहे है ? किस माध्यम से आ रहे है ? माध्यम की हम पहले चर्चा कर चुके है। उनका माध्यम है मस्तिष्क। ये सारे मस्तिष्क के सहारे उतर रहे है पर उनका मूल उत्पत्ति-स्थल कहा है, यह प्रश्न अवशेष रहता है।

उनका स्थान है—सूक्ष्म शरीर। हम उसे देख नही पाते। बहुत आवरण है। हम केवल स्थूल शरीर को ही देख पाते है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह सूक्ष्म शरीर को देखने का प्रयत्न करे। सूक्ष्म शरीर को देखा जा सकता है, उसका अनुभव किया जा सकता है। अपने स्वयं के सूक्ष्म शरीर को देखा जा सकता है और दूसरे के सूक्ष्म शरीर को भी देखा जा सकता है। अपने शरीर के 'ओरा' या आभामंडल को देखा जा सकता है और दूसरे के प्रभामंडल को भी देखा जा सकता है।

९

प्रेक्षा का प्रयोग

दो तत्त्व काम कर रहे हैं—देखना और जागना। हम देखते रहे और जागते रहे। बहुत गहरे मे जाए तो देखना और जागना दो नही है, एक ही हैं। ये दोनो प्रेक्षा-ध्यान मे काम कर रहे हैं। जागना अर्थात् अप्रमत्त रहना। यह वहुत वडी बात है। 'सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी'—सोते हुए लोगो के बीच मे जागृत रहना वहुत महत्त्व-पूर्ण है। हम और थोडे गहरे मे जाए तो ऐसा मानना चाहिए कि सोयी हुई प्रवृत्तियो के बीच मे जागृत रहे। अपनी सोयी हुई प्रवृत्तिया है, सोयी हुई चेतना है, उनमे भी जागृत रहे। यानी चेतना की एक लौ ऐसी जला दे जिसे हवा का कोई भी झोंका बुझा न सके। हवा चल रही है, आधी आ रही है, तूफान उठ रहा है, बवंडर आ रहा है, उस ज्योति को, उसकी लौ को कोई भी न बुझा सके, ऐसी ज्योति हम भीतर जला दे। यही साधना है। यही साधना का फलित है। ऐसी ज्योति को भीतर प्रज्वलित कर देना, जिसे विश्व की कोई भी शक्ति बुझा न सके। फिर बाहर कुछ भी होता रहे, यह ज्योति अखडरूप से जलती रहेगी। वह कभी खडित नहीं होगी। उसकी भी एक साधना है। वह है प्रेक्षा का अभ्यास, देखने का अभ्यास। साधना केवल जानने की नही होती, करने की होती है। केकल जान लेना ही पर्याप्त नहीं होता, करना भी जरूरी होता है। कुछ करे। प्रयोग करें। प्रयोग के लिए, जागृत रहने के लिए कुछ बाते जरूरी है।

शरीर को अपने अस्तित्व से भिन्न देखना है तो एक प्रयोग करना होगा। हम अभ्यास करते हैं तो मृत्यु को देखते हैं। मृत्यु को देखना है, शरीर को अपने अस्तित्व से भिन्न देखना है तो उसके लिए प्रयोग आवश्यक है। यह है जागृति का प्रयोग, अप्रमाद का प्रयोग।

आहार इसलिए करते हैं कि भूख लगती है। भूख लगती है शरीर को। मुझे नहीं लगती। भूख किसी दूसरी चीज को लगती है। प्राण शक्ति है, शरीर है तो भूख लगती है। चेतना को भूख नहीं लगती। शरीर को भूख लगे और चेतना देखती रहे कि किसे भूख लगी है और किसे नहीं? चेतना की वह स्थिति अभिव्यक्त हो

इसे स्पष्टता से समझ लेना, यह है तप का एक प्रयोग। इस बात को जो आदमी समझ लेता है वह आहार-विजय कर लेता है। वह जैन शासन के मर्म को समझ लेता है।

दूसरी बात है निद्रा-विजय की। जो निद्रा पर विजय नही पाता, वह जैन शासन को नही समझता। शरीर है, इसलिए यह सभव नही है कि हर व्यक्ति नीद पर विजय पा ले। कुछ ही व्यक्ति, अपवाद रूप मे, ऐसे होते है जो नीद न ले या बहुत ही कम नीद लें। सब नीद लेते है। जो बडे-बडे तपस्वी हुए है उन्होने भी नीद ली है। फिर यह कैसे हो सकता है कि नीद को नही जीतने वाला जैन शासन को नही समझ सकता? इसे हम ठीक से समझे।

आचाराग सूत्र मे एक वाक्य है—'सुत्तेसु जागरमाणे'—सोए हुए लोगो के बीच मे जागृत रहने वाला अथवा सोते हुए जागृत रहने वाला। तीन प्रकार के लोग होते है—सुप्त, जागृत और सुप्त-जागृत। सुप्त—सोया हुआ, जागृत—जगा हुआ और सुप्त-जागृत—सोते हुए भी जागता हुआ। मुनि को ऐसा होना चाहिए कि वह सोता हुआ भी जागता रहे। वह सो रहा है, नीद ले रहा है, फिर यह अनुभव कर रहा है कि मै जागृत हू, जाग रहा हू। एक क्षण के लिए भी ऐसा अनुभव नही होता कि मै सो रहा हू। प्रतिक्षण यह अनुभव बना रहता है कि मैं जाग रहा हू। यह बहुत बडी साधना है। जो व्यक्ति यह साधना कर लेता है कि छह घटे सोते हुए भी निरतर, प्रतिक्षण यह अनुभव हो कि मैं जाग रहा हू वह बहुत बडी उपलब्धि का अधिकारी हो जाता है। अर्थात् स्थूल चेतना सोएगी, शरीर सोएगा, किन्तु जो ज्योति गहराई मे प्रज्वलित कर दी, वह निरतर जागृत रहेगी और यह अनुभव होता रहेगा कि मै जाग रहा हू।

'सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी'—सोते हुए भी प्रतिबुद्ध होकर जिए, जागृत होकर जिए। जिसने यह साधना कर ली, वह जैन शासन के मर्म को समझ सकता है, निद्रा-विजयी हो सकता है। इसका भी प्रयोग होना चाहिए, अभ्यास होना चाहिए। प्रयोग और अभ्यास के बिना नीद पर विजय नही पायी जा सकती। हम प्रतिदिन सोते समय सकल्प करे कि मैं जागृत नीद लूगा। नीद मे अप्रमत्त रहूगा, होश मे रहूगा कि मैं जाग रहा हू। एक दिन मे कुछ निष्पत्ति नही आएगी। दो-चार दिनो मे भी कुछ नही होगा। लम्बा प्रयोग करना होगा। लम्बा अभ्यास करना होगा। आप दूसरे के पास इस प्रयोग की चर्चा न करें। अन्यथा वह कहेगा कि कैसा पागल है। नीद लेते हुए भी जागते रहने की बात पागलपन नही तो क्या है? आप यह प्रयोग करते चले जाइए। हो सकता है, आपको सफलता मिलने मे दो महीने, चार महीने, या छह महीने या पूरा वर्ष भी लग जाए। एक दिन ऐसा आएगा कि आप स्वय अनुभव करेंगे कि सोते हुए भी आप पूर्णरूप से जागृत है। नीद लेते हुए भी आप पूर्णरूप से जागृत है। नीद लेते हुए भी जाग रहे है। मैं नही

कह सकता कि छह घटो की पूरी नीद मे जागृत रहने की स्थिति रहेगी। किन्तु यह कह मकता हू कि कुछ क्षण ऐसे बीतेंगे कि आप नीद मे भी यह अनुभव करेंगे कि आप जाग रहे है।

मै चर्चा कर रहा हू जागृत रहने की। पर उस स्थल की, उस सन्धि-स्थल की वात है जहा चेतन और अचेतन का सगम हुआ है। हम समझना चाहेगे कि चेतन और अचेतन का वह सन्धि-स्थल कौन-सा है? वह विन्दु कौन-सा है जहा दोनो मिलते हैं? इसे आहार के द्वारा समझाया जा सकता है। चेतन को भूख नही लगती। चेतन आहार नही करता, भोजन नही करता। आहार प्राणशक्ति का कार्य है। इधर चेतना है, उधर शरीर है और एक ऐसी प्राण की धारा वहती है जिसे भूख लगती है, जो खाती है।

आख देखती है। इन्द्रिया अपना काम करती हैं। इन्द्रियो मे ज्ञान नहो है। जानने की शक्ति नही है। चेतना के आख नही है। चेतना को आख की कोई ज़रूरत भी नही है। यदि चेतना को आख की ज़रूरत होती तो फिर अशरीर विलकुल अन्धा होता, कुछ नही देख पाता। चेतना को इन्द्रियो की ज़रूरत नही है और इन्द्रियो मे जानने की क्षमता नही है। एक ऐसा सन्धि-स्थल है जहा चेतना और इन्द्रिय की प्राणधारा का विन्दु मिल रहा है, सगम हो रहा है, उसे हम पकडें। इन्द्रियो के विन्दु और चेतना के विन्दु के सधि-स्थल को पकडें। श्वास और प्रश्वास के सगम-स्थल को पकडे। चेतना को श्वास की जरूरत नही है। चेतना ऐसा दीप नही है कि उसमे तेल डाला जाए तो वह जले और तेल न डाला जाए तो वह न जले, वुझ जाए। वह तो अखड ज्योति है। वह अपने आप जलती है। उसके लिए श्वास आवश्यक नही है। किन्तु श्वास की प्राणधारा और चेतना का जो सगम-स्थल है, सधि-स्थल है, मिलन-विन्दु है, उस विन्दु को हम पकडें। ये सारे विन्दु हमारी जागृति के विन्दु हो सकते है। यदि इन पर प्रयोग किए जाए तो ये जागृति के वहुत वडे प्रयोग होंगे और इन प्रयोगो के द्वारा ही हम उस सूत्र को सार्थक कर सकेंगे या उसका अर्थ समझ सकेंगे कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है। अन्यथा यह हमारी रटन मात्र रहेगी। हम चेतना की भिन्नता और शरीर की भिन्नता को तभी समझ सकेंगे जव हम उनके मिलन-विन्दुओ को पकड पाएगे।

ये सारे मिलन-विन्दु हैं—

भाषा। चेतना वोलती नही और जो बोलती है वह चेतना से भिन्न है। जहा भाषा और चेतना का सगम होता है, वह विन्दु महत्त्वपूर्ण है। भाषा मे जो शक्ति आती है वह चेतना से आती है। दोनो के सगम-स्थल को हम समझें, मिलन-विन्दु को पकडें।

मन। चेतना को सकल्प-विकल्प की ज़रूरत नही होती। उसमे इच्छा भी नही

होती। उसमे सकल्प भी नही होता। यह सारा मन का काम है। चेतना को मन की जरूरत नही है। किन्तु चेतना के बिना मन निकम्मा हो जाता है। उसमे क्षमता नही होती कि वह सकलन कर सके, इच्छा कर सके, कल्पना कर सके। सकल्प कर सके। उसका भी एक मिलन-विन्दु है।

आहार, श्वास, इन्द्रिय, भाषा और मन —इन पाचो के मिलन-विन्दुओ को हम पकडे। नीद और जागृति—दोनो के बिन्दुओ को पकडें और नीद लेते हुए भी जागृत रह सके। इस दिशा मे भी हमारा प्रयत्न चले।

मैंने पाच-छह दिशाए आपके समक्ष प्रस्तुत की है। इन दिशाओ मे हमारा प्रयोग चले तो एक दिन ऐसा आ सकता है, एक क्षण ऐसा आ सकता है कि हम यह अनुभव करने मे समर्थ हो जाएगे कि चेतना अलग है, शरीर अलग है। मैं पृथक् हू और शरीर पृथक् है। अन्यथा आत्मा और शरीर के भिन्नत्व की बात, आत्मा और देह के पार्थक्य की बात, मात्र हमारी मान्यता, मात्र हमारी धारणा या रटन रहेगी। उसका तात्पर्य हमारी समझ मे नही आएगा। उसका रटन लगाते हुए भी हम सही अर्थ को नही पाएगे।

यह सारी जागृति की साधना है। अप्रमत्त रहने की साधना है। भगवान् महावीर ने कहा—सदा अप्रमत्त रहो। अप्रमत्त वही रह सकता है जिसकी चेतना सदा प्रज्वलित रहती है। जब चेतना पर कोई आवरण आ जाता है, मूर्च्छा आ जाती है, तब चेतना अप्रमत्त नही रह सकती।

एक सूफी सत हुई है—राबिया। वह रोती भी थी और हसती भी थी। दोनो साथ-साथ चलते थे। लोग कहते थे बडी अजीब बात है। कोई आदमी हसता है तो रोता नही। कोई रोता है तो हसता नही। कोई भी आदमी एक साथ दोनो—रोना और हसना नही करता। वह रोता है तब रोता है और हसता है तब हसता है। यह राबिया हसती भी है और रोती भी है। प्रश्न हुआ कि दोनो एक साथ क्यो? राबिया से पूछा। उसने कहा— तुम मुझे नही समझ सकते। मैं दोनो साथ-साथ कर रही हू, पर पागल नही हू। मैं देखती हू कि यह परमात्मा सब जगह फैला हुआ है, यह सत्य सब जगह फैला हुआ है। उसे देखती हू तो हसती हू। कितना सुन्दर और रहस्यपूर्ण है यह जगत्। तुम लोगो को देखती हू तो रोती हू कि इतना साफ-साफ दिखाई दे रहा है, फिर भी तुम नही देख रहे हो। जो इतना स्पष्ट दिखाई दे रहा है, फिर भी तुम लोग अन्धे होकर उसे नही देख रहे हो तो मुझे रुलाई आ जाती है।

हमारी भी यही स्थिति हो रही है। चेतना और उससे भिन्न शरीर —ये दोनो साफ-साफ है, चेतना स्पष्ट है, उसका अस्तित्व स्पष्ट है, उसका कार्य स्पष्ट है और शरीर भी स्पष्ट है, प्रत्यक्ष है, फिर भी हम उस पार्थक्य के बिन्दु को पकड नही पा रहे है। मैं कहता हू कि मिलन-बिन्दु को पकडो, मोड को पकडो। कितनी

स्थूल वात है। फिर भी पकड नही पा रहे हैं। समझ मे नही आ रहा है कि मिलन-विन्दु कहा है ? छोर कहा है ? यह स्थूल तथ्य भी हमारी समझ मे नही आ रहा है। हम चेतन आत्मा और अचेतन शरीर के सगम-स्थल को पकड सके, सधि-स्थल को पकड सकें, मिलन-बिन्दु को पकड सकें तो उनको अलग करने मे भी हम सफल हो जाएगे।

जो मृत्यु को नही देखता, वह मरने से बहुत घबराता है। जव कोई कहता है कि तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी, सचमुच उसी क्षण से उसकी मौत होने लग जाती है, मौत उतरने लग जाती है। जब यह लगता है कि मौत आ रही है तो सारा शरीर अकड जाएगा। शरीर कडा हो जाता है। कडा क्यो होता है ? मौत आती है इसलिए नही, किन्तु मौत का भय उसे कडा कर देता है। तनाव ला देता है। मौत की प्रक्रिया यह है—शरीर को ढीला छोड दो, शिथिल कर दो और इतने तैयार हो जाओ कि हमारी चेतना, हमारी आत्मा शरीर से अलग हो तो भी ऐसा लगे कि कुछ हुआ ही नही है। शरीर तो शिथिल पडा है। हम तो पहले ही मरने की तैयारी मे लग गए। शिथिल होने का मतलब ही है—मृत्यु की तैयारी। तनाव विसर्जित करने का मतलब ही है—मृत्यु की तैयारी। जो आदमी सदा मृत्यु की तैयारी रखता है, उसके न अकडन होती है, न तनाव होता है, न भय होता है। कुछ भी नही होता। इसीलिए जैन आचार्यों ने मृत्यु पर बहुत कुछ लिखा है। मृत्यु विषयक एक ग्रन्थ है—'मृत्यु महोत्सव'। मृत्यु एक महोत्सव है। जो महोत्सव है, उससे तुम घवराओ, यह कैसे ! मगल गीत, राग, आनन्द, आनन्दपूर्ण आलाप—यह तो हो सकता है महोत्सव मे। किन्तु भय की तो कोई बात नही हो सकती। मृत्यु महोत्सव है। उससे फिर भय कैसा ?

जगदीश काश्यप वहुत बडे वौद्ध विद्वान् थे। उनका अभी-अभी देहावसान हुआ है। एक बार उन्होंने एक पत्र द्वारा हमसे कहा—"मैं अन्तिम समय मे जैन पद्धति की समाधि मृत्यु से मरना चाहता हू। इसलिए आप मुझे वह सारी पद्धति लिखकर भेजें। क्योकि मृत्यु की तैयारी का विवरण जितना जैन साधना पद्धति मे किया गया है, उतना शायद अन्यत्र दुर्लभ है।"

जैन साधना मे मृत्यु की तैयारी बारह वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो जाती है। बारह वर्ष पहले मृत्यु की तैयारी ! यानी मौत एक ऐसी घटना है जिसकी तैयरी के लिए बारह वर्ष चाहिए। बात सही है।

आपने देखा होगा, छोटे-मोटे ऑपरेशन के पूर्व भी बहुत बडी तैयारी की आवश्यकता होती है। ऑपरेशन होना है एक अवयव का, किन्तु डॉक्टर को बहुत बडी तैयारी करनी होती है। एक ऑपरेशन के लिए कितने डॉक्टर, कितनी नर्सें, कितने उपकरण, कितने यत्र, कितनी औषधिया—तैयार रखनी होती हैं ! क्योकि एक अवयव के ऑपरेशन के मध्य दूसरे अवयव पर असर हो सकता है। उसे ठीक

रखने के लिए भी तैयारी रखनी होती है।

मौत समूचे शरीर का ऑपरेशन है। समूचे शरीर से पूरी चेतना को निकालना है, बिलकुल अलग कर देना है, कितना बडा ऑपरेशन है यह। इतने बडे ऑपरेशन के लिए बारह वर्ष की तैयारी अपेक्षित होती है। इसे सलेखना कहा जाता है। सलेखना का काल है—बारह वर्ष का। बारह वर्ष पहले ऐसी तैयारी कर लेते है कि जिसमे पूरी-की-पूरी साधना पद्धति फलित हो जाती है। बारह वर्ष के बाद अनशन करना होता है और फिर समाधि-मृत्यु। कितनी बडी तैयारी है! कितना सुन्दर क्रम है! इसके विषय मे इतना क्यो लिखा! इतना क्यो बताया! कारण क्या है! हम कारण को समझें। कारण यही है कि मृत्यु सबसे बडी मूर्च्छा है। मृत्यु सबसे बडी बेहोशी है। बेहोशी के क्षण मे हमारी ज्योति बुझे नही, हम मूर्च्छित न हो, हम जागृत रह सके। मृत्यु के क्षण मे जो जागृत रहता है, वह सदा के लिए जागृत रहता है। जो व्यक्ति मृत्यु के क्षण मे जागृत रह सकता है, वह सदा के लिए अप्रमत्त हो जाता है, सदा के लिए जागृत हो जाता है। उस तरह की जागृति के क्षण के लिए हमारी सारी तैयारी चलती है।

ऑपरेशन के समय मरीज को बेहोश करने के लिए क्लोरोफार्म सुघाया जाता था। आजकल दूसरे साधन प्रयुक्त हो रहे है। मरीज को बिजली के झटके देकर मूर्च्छित कर दिया जाता है, ताकि वह ऑपरेशन के भयकर दर्द को सह सके। उसे दर्द का भान न हो। विद्युत् के झटको से उसकी चेतना शून्य हो जाती है, शान्त हो जाती है और बडे से बडा ऑपरेशन सुगमता से सम्पन्न हो जाता है।

ऑपरेशन मे भी मूर्च्छा की स्थिति लानी पडती है, इसलिए कि उसे कष्ट न हो। तो शायद प्रकृति ने यह मान्य किया कि मृत्यु जैसा बडा ऑपरेशन हो और मूर्च्छा न हो तो आदमी मृत्यु के झटके को कैसे सहेगा! इसीलिए मृत्यु से पूर्व कोई दो घटा पहले, कोई चार घटा पहले, कोई दो दिन पहले, कोई चार दिन पहले बेहोशी मे चल जाता है कि अब ऑपरेशन होने वाला है समूचे शरीर का, मौत आने वाली है। केवल वही व्यक्ति बेहोशी मे नही जाता जो जागृति की साधना कर चुका है।

ऑपरेशन से पूर्व सबको बेहोश करना होता है। पर जो व्यक्ति जागृति की साधना कर चुका है, उसे किसी मूर्च्छाकार औषधि की ज़रूरत नही, इजेक्शन की ज़रूरत नही, बिजली के झटके की भी जरूरत नही होती।

हमने देखा है। एक बहुत बडे श्रावक थे। उनका नाम था चादमलजी बैद। वे सरदारशहर के थे। बडे आध्यात्मिक व्यक्ति थे। उनके 'अदीठ' का ऑपरेशन था। वे ध्यान की मुद्रा मे बैठ गए और डॉक्टरो से कहा, "आपको जो करना है,

वह करें। जितना करना है, उतना करें। मैं बैठा हू।' डॉक्टरों ने कहा—'यह कैसे सभव है ? इतना वडा ऑपरेशन है। बिना अचेत किए, बिना मूर्च्छा लाए, यह कैसे होगा ? आप उस कष्ट को कैसे सहेगे ?' उन्होने कहा—'मैं ध्यान मे बैठ जाता हू। आप चिन्ता न करें। जो करना है, करें।' वैसा ही किया। वे ध्यान मे बैठे रहे और ऑपरेशन कर दिया गया।

मैंने स्वय देखा है। जोधपुर मे श्रीकालूगणी का चातुर्मास था। मुनि कुदनमलजी के मसे का ऑपरेशन होना था। वे सो गए। मुनि चौथमलजी (उनके वडे भाई) और मुनि सोहनलाल जी मसे को काटने लगे। मुनि कुदनमलजी ने कहा—'सन्तो! देखना, पूरा ध्यान रखना। काम अधूरा न रह जाए। जितना काटना हो, पूरा का पूरा काट देना।' यह एक स्थिति है। मूर्च्छित हुए विना, जागृत रहते हुए, उस कष्ट को झेल लेना तभी सभव होता है जव भीतर मे कुछ जाग जाए।

काशी के नरेश की वात है। उनका ऑपरेशन होना था। डॉक्टरो ने वेहोशी के लिए सुघनी सुघानी चाही। नरेश ने मनाही कर दी। उन्होने कहा—'मुझे गीता ला दो। मैं गीता पढता रहूगा और आप अपना काम करते रहना।' वे गीता पढने लग जाते तव ऐसी दुनिया मे चले जाते कि फिर शरीर मे क्या घटित हो रहा है उन्हे कोई भान नही रहता। हम भीतर मे ऐसी ज्योति जला देते है कि उसके जलने के वाद फिर शरीर मे क्या घटित होता है, कुछ भी ज्ञात नही होता। जो घटित होता है, वह होता है। ये जागृति के क्षण हमारे जीवन मे आ जाते है, फिर हम मूर्च्छित नही होते। 'मृत्यु-विजय' की यह वहुत वडी साधना है। जो आदमी मृत्यु के क्षण मे मूर्च्छित नही होता, जो जागते-जागते मौत का वरण करता है, वह सचमुच कुछ पा लेता है।

हमारे सघ की एक घटना है। एक मुनि थे। वे वडे तपस्वी थे। उन्होंने छब्बीस वर्षों तक मास-मास की तपस्या की, प्रतिवर्ष मासखमण करते थे। वे तेरापथ के चौथे गणी श्रीमज्जयाचार्य के वडे भाई मुनि भीमराजजी के साथ थे। मुनि भीमराजजी का देहावसान हो गया। लोग दाह-सस्कार के लिए ले गए। तपस्वी मुनि ने अन्य मुनियो को वुलाकर कहा—'देखो, मैं जिनके साथ वर्षों तक रहा, वे आज चल बसे। वे ही चले गए तो मुझे यहा क्यो रहना चाहिए। सतो, सभालो ये पुस्तक-पन्ने। मैं तो जा रहा हू।' इतना कहकर वे स्वर्गस्थ हो गए। उन्होने मृत्यु का वरण कर लिया। लोग दाह-सस्कार कर लौटे ही नहीं थे कि एक मुनि और चल वसे। यह है इच्छा-मृत्यु, सकल्प-मृत्यु। यह मृत्यु वैसे व्यक्ति की होती है जो जागृत अवस्था मे मरता है, पूर्ण जागरूकता मे मरता है।

एक वहुत वडा साधक हुआ है। उसने कहा—लोग वेहोशी मे मरते हैं। मैं

बेहोशी मे नही मरूगा। मै चलते-चलते मरूगा। एकदिन उसने देखा कि मौत आ रही है। मृत्यु का क्षण जब निकट आया तब वह घूमने लगा। घूमते-घूमते उसकी मृत्यु हो गयी। बहुत सारे लोग बेहोशी मे मरते है, सोते हुए मरते है। ऐसे लोग कम होते है जो बैठे हुए, खडे हुए, चलते हुए मरते हो, जागृतअवस्था मे मरते हो। आचार्य भिक्षु की मृत्यु पद्मासन की मुद्रा मे हुई। वे पूर्ण जागृत थे। प्रमाद मे नही थे। वे 'सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी' थे। वे सुप्त अवस्था मे भी जागृत रहने वाले व्यक्ति थे। मृत्यु के समय जागृत वही व्यक्ति रह सकता है जिसने जागृति और सुषुप्ति के बिन्दु को पकड लिया है।

हमारा साधना का अभ्यास चल रहा है। उस साधना के अभ्यास मे हमने देखने का सकल्प किया और जागृत रहने का सकल्प किया। हम देखे और जागृत रहे। देखने और जागने का सकल्प है। यह देखने और जागने का सकल्प ही एक दिन उस ज्योति को जगा देगा, फिर चाहे कोई बीमारी आए, फिर मृत्यु आ जाए वह ज्योति बुझेगी नही। उसे कभी बेहोशी नही आएगी, कभी प्रमाद नही आएगा और जागृति कभी खडित नही होगी। उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए ही हमारा यह प्रयत्न है। किन्तु आप ध्यान रखे, ज्योति जलने से पूर्व ही आप सो न जाए। यह एक समस्या है। इस समस्या के प्रति हमारी जागरूकता नही होगी तो हम उस स्थिति को प्राप्त नही कर सकेंगे। इसके लिए बहुत दौड-धूप करने की आवश्यकता नही है, भटकने की जरूरत नही, किसी के पास जाने की जरूरत नही है। उसे स्वय करना है। हम आत्मा को स्वय देखे। हम सत्य की खोज स्वय करे। यही मार्ग है।

बताने वाला आपको आत्मा दिखा नही सकता। आप स्वय प्रयत्न करेंगे तो ही आत्मा का साक्षात् कर सकेंगे। आप दुनिया के किसी कोने मे चले जाए, कोई भी आपको सत्य नही दे सकेगा। सत्य की खोज आपको ही करनी होगी। दूसरा व्यक्ति कुछ संकेत कर सकता है, इशारा कर सकता है, रास्ता दिखा सकता है, पर प्रयत्न आपको ही करना होगा, चलना आपको ही पडेगा। यह आपके प्रयत्न पर निर्भर है, आपकी निष्ठा पर निर्भर है, आपकी एकाग्रता और तन्मयता पर निर्भर है। यह उस पर निर्भर है, कि आप मूर्च्छा को कितना तोडते है, उस बिन्दु को कितना समझते है और जागृति की लौ को कितना प्रज्वलित करते है और इस लौ को उस बिन्दु पर ले जाते है जहा वह निरंतर प्रज्वलित रहे, बुझे नही। इस स्थिति मे ही यह बात सार्थक हो सकती है—'भारण्ड-पक्खी व चरऽप्पमत्तो'—भारण्ड पक्षी की भांति सदा जागरूक रहो। आत्मा की रक्षा करनी है, अपने आपको बचाना है तो जागरूक रहो।

आचार्य भिक्षु की वाणी के संदर्भ मे हमने जिस सचाई को समझा है, जिस सचाई को स्वीकार किया है, अभ्यास किया है, उस सचाई को याद रखें और

अभ्यास की इस धारा को सतत प्रवहमान रखें। मुझे विश्वास है कि हम एक दिन उस ज्योति को प्रज्वलित कर सकेंगे, जिस ज्योति को न बीमारी का झोंका बुझा पाएगा और न मृत्यु का भयकर ववडर और तूफान ही उसे नष्ट कर पाएगा।

१०

अनुप्रेक्षा

हम अभी प्रेक्षा ध्यान का प्रयोग कर रहे थे। इस प्रेक्षा ध्यान की पद्धति मे हमने तीनो तत्त्वो का आलम्बन लिया। वे तीन तत्त्व है—श्वास, ध्वनि और शरीर। श्वास सहज है और स्वाभाविक है। ध्वनि काल्पनिक है, कृत है। शरीर सहज है, स्वाभाविक है। हमने स्वाभाविक का ही आलम्बन नही लिया है, कृत का और कल्पना का भी आलम्बन लिया है। मैं सोचता हू कि वह आवश्यक भी है। इसे अनावश्यक नही कहा जा सकता। इन तीनो आलम्बनो के विषय मे हमने समय-समय पर चर्चा की है और हम जो कर रहे है उसे समझने का प्रयत्न किया है। आज हम ध्वनि के विषय मे चर्चा करेंगे। मैं इस चर्चा का प्रारम्भ एक छोटी-सी कहानी मे करना चाहूगा।

एक आदमी तालाव के किनारे घूमने जाया करता था। यह उसका प्रतिदिन का काम था। पानी मे उसका प्रतिविम्ब पडता। तालाब मे मछलिया थी। एक मछली ने पानी मे पडे आदमी के प्रतिविम्ब को देखा। उसने देखा—सिर नीचे है, पैर ऊपर है। एक दिन देखा, दो दिन देखा, दस दिन देखा। उसकी धारणा दृढ हो गई। उसने जान लिया कि आदमी वह होता है जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होते है। एक दिन वह आदमी तालाव के किनारे घूम रहा था। मछली पानी की सतह पर आयी। उसने आदमी को देखा तो उल्टा दीखा। आदमी का सिर ऊपर है और पैर नीचे। उसने सोचा—आदमी सभवत शीर्षासन कर रहा है। अन्यथा आदमी ऐसा नही हो सकता। आदमी वह होता है जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होते है। आज मैं देख रही हू कि इसका सिर ऊपर है और पैर नीचे, तो अवश्य ही यह कोई उल्टी क्रिया कर रहा है, विपरीत क्रिया कर रहा है, शीर्षासन कर रहा है। उसकी धारणा मजवूत हो गई।

यह हालत केवल मछली की ही नही है, हम सबकी यही हालत है। सिर ऊपर है, उसे हम नीचे देख रहे है और पैर नीचे है उन्हे हम ऊपर देख रहे है। हमने यह धारणा बना रखी है कि जिसके पैर ऊपर होते है और सिर नीचे होना

है वह आदमी है और जिसका सिर ऊपर होता है और पैर नीचे होते हैं, वह आदमी नही है। वह वनावटी है। न जाने इस प्रकार की कितनी ही धारणाए हमने बना रखी हैं। उन सारी मिथ्या धारणाओ, मिथ्या कल्पनाओ को तोडने के लिए प्रेक्षा ध्यान-पद्धति मे अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है। दो शब्द है। एक है प्रेक्षा और एक है अनुप्रेक्षा। मैं बहुत दिनो से सोचता था कि प्रेक्षा के पीछे 'अनु' का प्रयोग क्यो किया गया है? इस पर सोचते-सोचते जो एक बात सूझी वह यह है—जो सचाई है, उसे देखना अनुप्रेक्षा है। सचाई को देखो। उसे अपनी धारणा से मत देखो। मछली ने धारणा बना ली कि आदमी वह होता है जिसका सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं। इसी धारणा मे वह आदमी को देखती थी। यह अनुप्रेक्षा नही है। अपनी धारणा से मत देखो। सस्कार की दृष्टि से मत देखो। काल्पनिक दृष्टि से मत देखो। केवल सचाई से देखो। वास्तविकता को देखो। यथार्थ को देखो। जो सत्य है, जो घटना घटित हो रही है, उसी को देखो। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—'सत्य प्र ति अनुप्रेक्षा' अर्थात् सत्य के प्रति अनुप्रेक्षा, यथार्थ के प्रति अनुप्रेक्षा, वस्तु के प्रति अनुप्रेक्षा। उधारी धारणा से काम मत लो किन्तु जो घटना है, जो वास्तविकता है, जो सचाई है, उसी को देखो। इस प्रकार अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है कि हम अपनी धारणाओ को एक बार निकाल दें। अपनी पूर्व मान्यताओ को छोड दें और फिर जो सचाई है, यथार्थ है, उसको देखें। प्रेक्षा ध्यान पद्धति से इस अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है। यह इसलिए किया जाता है कि हम रूढियो को, सस्कारो को, धारणाओ को छोडकर, वास्तव मे सचाई को देखना सीख सकें। यह सबसे बडी कठिनाई है कि मनुष्य सचाई को नही देखता। वह सबसे पहले अपनी धारणाओ का चश्मा लगा लेता है और बाद मे देखता है। यदि वह ठीक नही जचता है तो वह उसे तोडने-मोडने का प्रयत्न करता है।

अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त, यथार्थ मे सत्य के दर्शन का सिद्धान्त है, सत्य के लिए समपित हो जाने का सिद्धान्त है। सत्य के लिए पूर्णरूपेण समर्पित हो जाओ। अपनी किसी भी धारणा को महत्त्व मत दो। जो सचाई है उसे ग्रहण करो, स्वीकार करो। यह है अनुप्रेक्षा।

सचाई यह है कि सारा ससार प्रकम्पनो का ससार है। कपन, कपन और कपन। प्रकृति मे इतना तीव्र आन्दोलन हो रहा है कि हमे आश्चर्यचकित रह जाना पडता है। इतना वडा आन्दोलन है कि यदि हम प्रकम्पनो को देखने लग जाए, सुनने लग जाए तो हमारे इस शारीरिक अस्तित्व को ही खतरा हो जाए। यह तो अच्छा है कि हमारे कान के पर्दे ऐसे बने हुए है कि वे सारे प्रकम्पनो को पकडते नही, वहुत थोडे-से प्रकम्पनो को पकडते हैं। यदि वे सारे प्रकम्पनो को पकडने लग जाए तो आदमी एक ही दिन मे समाप्त हो जाए। वह जी ही नही सकता। इतने भयकर शब्द हैं, इतनी भयकर ध्वनिया है कि हम उन्हे सुन नही मकते, सह नही

सकते। हम मुश्किल से कुछ ही डेसीवल ध्वनि को स्वीकार करते हैं, सुनते हैं। दुनिया मे बहुत सारी ध्वनिया होती हैं। हम उन्हे बरदाश्त ही नहीं कर सकते। हम चिन्तन करते है तो प्रकम्पन की एक धारा छोड देते है। हम बोलते है तो प्रकम्पन की एक धारा छोड देते है। हम चलते है तो प्रकम्पन की एक धारा छोड देते है। आज जो जीवित है, वे ही नही छोडते किन्तु इस दुनिया मे जो लोग हुए है, हज़ारो-हजारो वर्ष पहले हुए है, उन्होने इतने प्रकपनो का जाल बिछा रखा है, हमारे गुरुत्वाकर्पण की सतह पर पुराने लोगो के प्रकपनो का इतना बडा जाल बिछा हुआ है कि आज उसका लेखा-जोखा करना भी कठिन है। किन्तु आज का विज्ञान ऐसा नही है कि वह किसी बडी चीज का लेखा-जोखा न कर सके। विज्ञान सभी गूढ रहस्यो को अनावृत करने मे लगा हुआ है।

आज के कुछ वैज्ञानिक उन प्रकपनो को पकडने मे अनवरत प्रयत्नशील है। वे जानते है कि इस गुरुत्वाकर्षण की सतह पर हजारो-हजारो वर्प पहले के लोगो के चिन्तनो के प्रकपन जमे हुए है। उन लोगो ने जो बोला, उस बोली के प्रकपन आज भी जमे हुए है। वे वैज्ञानिक ऐसा उपाय ढूढ रहे है, ऐसा यत्र बनाने मे सलग्न है, जिसके माध्यम से उन सारे प्रकपनो को पकड सके, उनके चिन्तनो और विचारो को समझ सकें, पढ सकें। इस माध्यम से वे यह परखना चाहते है कि महावीर की, बुद्ध की, क्राइस्ट की वाणी आज जगत् मे उपलब्ध है, वह सही है या नही, जैसी उपलब्ध है वैसी ही है या नही। वे जानना चाहते है कि वाणी के प्रकम्पन यह साक्षी देते है कि महावीर ने, बुद्ध ने, क्राइस्ट ने यही कहा था। इस विधि से यह जान लिया जा सकता है कि काल की इस लबी अवधि मे उनके भक्तो ने उस वाणी मे क्या-क्या जोडा, क्या-क्या निकाला? क्या मूल है और क्या मिश्रण है? वे परीक्षा करना चाहते है, जाच करना चाहते हैं। यह प्रयत्न चल रहा है। यह केवल कल्पना की उडान नही है। यह तथ्य है, यथार्थ है। आज विज्ञान इतना आगे बढ चुका है कि उसके लिए कुछ भी काल्पनिक नही रहा। वह आज हमारी कल्पनाओ को साकार किए चल रहा है। उसके पास सूक्ष्मतम उपकरण है, साधन है।

प्रकपन केवल हम ही पैदा नही कर रहे है, सारी दुनिया के वायुमडल को केवल हम ही आदोलित नही कर रहे है, पहले से ही वह आदोलित है, प्रकपित है। हमारे प्रकपन उनमे ही समाविष्ट होते जा रहे हैं। वायुमडल मे जमते जा रहे है।

बहुत पुरानी बात है। मैं एक प्राचीन ग्रन्थ 'विशेषावश्यक भाष्य' पढ रहा था। उसमे एक स्थान पर मैंने पढा कि हमारा जो नि श्वास निकलता है, वह सर्वत्र फैलता है। पास मे तालाब है तो वह नि श्वास-वायु उस तालाब मे जाती है और पानी के जीवो को पीडा पहुचाती है, उन्हे क्षुब्ध करती है। हम जब कपडा फाडते है तब सूक्ष्म रोए हवा के माध्यम से सर्वत्र फैल जाते है और-और जीवो की घात करते हैं। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि सचित्त वनस्पति पर अनिमेष ध्यान नही

करना चाहिए क्योकि अनिमेष ध्यान की धारा के साथ हमारी जो चुबकीय विद्युत् बाहर निकलती है, वह सजीव पौधो के जीवो को पीडित करती है, उन्हे पीडा पहुचाती है। इसलिए यह निषेध किया गया है कि सचित्त वस्तु पर ध्यान नही करना चाहिए। अचित्त वस्तु पर ध्यान करना चाहिए। जैन आगमो मे उल्लेख है कि मुनि को शुद्ध पृथ्वी पर नही बैठना चाहिए। क्योकि बैठने वाले के पुतो की गर्मी, शरीर की गर्मी से पृथ्वी के जीवो को पीडा पहुचती है। इसलिए मुनि को कोरी भूमि पर नही बैठना चाहिए। कितना सूक्ष्म विवेक है! कपडा फाडते समय निकलने वाले रोओ से प्राणियो का आघात होता है, यह बात समझ मे आने वाली नही थी। किन्तु जब विज्ञान की उपलब्धियो, खोजो और अन्वेषणो के सदर्भ मे उन्हे समझने का प्रयत्न किया तो लगा कि हमारे प्राचीन आचार्यों ने जो लिखा है वह सचमुच अपने अतीन्द्रिय ज्ञान की क्षमता से लिखा है। उन्होने देखा था, साक्षात् किया था, अनुभव किया था और उसी के आधार पर लिखा था। किन्तु मनुष्य की यह सदा कठिनाई रही है। एक आदमी तीसरी मजिल पर खडा है और दूसरा आदमी चौराहे पर खडा है। तीसरी मजिल पर खडा व्यक्ति नीचे खडे व्यक्ति से कह रहा है—'अरे, बस आ रही है, गाडी आ रही है, अमुक आदमी आ रहा है।' नीचे वाला कहता है—'तुम झूठ कह रहे हो। कहा है बस, गाडी या आदमी? कुछ भी तो दिखाई नही देता। तुम झूठ कह रहे हो!' दोनो सही है। ऊपर वाला भी सही है और नीचे वाला भी सही है। झूठा वह भी नही है और झूठा यह भी नही है। यह केवल भूमिका-भेद है। तीसरी मजिल पर खडे आदमी को दूर से आती हुई बस भी दिखाई देती है, गाडी भी दिखाई देती है और आदमी भी दिखाई देता है। किन्तु नीचे धरातल पर खडे आदमी को दूर से आती हुई न बस दिखाई देती है, न गाडी दिखाई देती है और न आदमी दिखाई देता है। दोनो का ज्ञान सही है। केवल भूमिका का भेद है दोनो मे। जो कहता है—दिखाई दे रहा है, उसकी बात मे भी सचाई है और जो कहता है—कुछ भी दिखाई नही दे रहा है, उसकी बात मे भी सचाई है। झूठ दोनो नही हैं। केवल भूमिका-भेद है।

हमारे मे भी भूमिका का भेद होता है। जिन लोगो ने अतीन्द्रिय ज्ञान की गहराइयो मे जाकर, चेतना के अन्तस्तल मे जाकर जिन सत्यो की उद्घोषणा की थी, जिन तथ्यो को अभिव्यक्ति दी थी और जिन रहस्यो का उद्घाटन किया था, जिन सत्यो को अनावृत किया था, उन सत्यो को हम नकार सकते हैं और कह सकते हैं कि ऐसा नही है। क्योकि जिस भूमिका पर स्थित होकर ये उद्घोषणाए की गई थी, सत्य उद्घाटित किए गए थे, उस भूमिका तक हमारी पहुच नही है। वह भूमिका बहुत ऊची है। हम अभी नीचे धरातल पर खडे हैं। धरातल पर खडा आदमी उन सत्यो को नकार सकता है, नकारता है। यह उसका दोष नही है। उसे बुरा नही माना जा सकता। क्योकि वह आदमी जिस भूमिका पर है, जिस धरातल

पर है, उस धरातल पर खडे व्यक्ति का निर्णय वही हो सकता है, इससे भिन्न नही हो सकता। और जो आदमी ऊची भूमिका पर है उसका निर्णय भी वही हो सकता है जिसकी उद्घोषणा उसने की है। उसका निर्णय भिन्न नही हो सकता। यदि मेरे सामने की खिडकिया खुली है और मै खडा हू तो मै बाहर के सारे दृश्य देख सकता हू और कह सकता हू कि मुझे पहाडी दिखाई दे रही है, पेड दिखाई दे रहा है, मदिर का ध्वज दिखाई दे रहा है, बालू का टीला दिखाई दे रहा है। यह कथन यथार्थ होगा, वास्तविक होगा। किन्तु जो आदमी बैठा है, खिडकी की निचाई मे है, उसे न पहाडी दिखाई दे रही है, न पेड दिखाई दे रहा है, न मदिर का ध्वज दिखाई दे रहा है और न बालू का टीला दिखाई दे रहा है। वह कहेगा—कुछ भी नही है। वह अस्वीकार करेगा। इस नकारने मे उसका कोई दोष नही है।

इस भूमिका-भेद को समझकर यदि हम चलें तो यह समझ मे आ जाएगा कि सूक्ष्म जगत् और स्थूल जगत् की जो भिन्न-भिन्न मान्यताए और धारणाए है, वे अकारण नही है। उनके पीछे कारणो की लबी शृखला है। उन कारणो को हम समझे और अनुप्रेक्षा के लिए अपने आपको समर्पित कर दे। हम प्रेक्षाध्यान के प्रयोग के द्वारा, अभ्यास के द्वारा अपना एक ऐसा सस्कार निर्मित कर लें कि हम सत्य के लिए समर्पित है। धारणा को बीच मे न लाए। उसे हस्तक्षेप न करने दे। जो जैसा है, जो जैसा घटित हो रहा है, जो जैसा सामने आ रहा है, उसे उसी रूप मे स्वीकार करे तो हमारा साधना-मार्ग प्रशस्त होगा, स्पष्ट होगा। साधना मे सबसे बडी बाधा आती है असत्य की, मिथ्या धारणाओ की, मिथ्या कल्पनाओ की। इन्हे एक बार तोडना है। किन्तु पुरानी धारणा को तोडने के लिए नयी धारणा का निर्माण करना होगा, पुराने सस्कार को तोडने के लिए नये सस्कार का निर्माण करना होगा और पुरानी कल्पना को तोडने के लिए नयी कल्पना का निर्माण करना होगा। प्रश्न हो सकता है कि जब तोडना ही है तो फिर नये का निर्माण क्यो? यह बहुत ही स्वाभाविक प्रश्न है। किन्तु हम इस बात को मानकर चले कि अन्तत हमे सारी धारणाओ को तोड देना है, सारी कल्पनाओ और सारे सस्कारो को तोड देना है। किन्तु तोडने की प्रक्रिया इतनी सीधी और सरल नही है। इसके बीच मे इतने व्यूह आते है कि उनसे भी हमे निपटना पडता है। एक सस्कार को तोडने के लिए दूसरे नये सस्कार का निर्माण करना ही पडता है। क्रोध के सस्कार को तोडने के लिए क्षमा के सस्कार का निर्माण करना होता है। लोभ के सस्कार को तोडने के लिए सतोष के सस्कार का निर्माण करना होता है। एक सस्कार को तोडने के लिए दूसरे सस्कार का निर्माण करना होता है।

अनुप्रेक्षा मे ध्वनि का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि हम एक सस्कार को तोडकर दूसरे सस्कार का निर्माण कर सके। इस स्थिति मे हमे ध्वनि के महत्त्व का भी अकन करना है। ध्वनि प्रकपन है। जैसे ही हम बोलते है वैसे ही ध्वनि की

तरगें उत्पन्न होती हैं। वे तरगें वायुमडल मे फैल जाती हैं। ऊपर-नीचे, दाए-वाए—चारो ओर वे ध्वनि के प्रकपन फैल जाते हैं। वे प्रकपन दूसरी वस्तुओ से टकराते हैं, दूसरो को प्रभावित करते हैं और दूसरो पर अपना असर छोडते हैं। हम भी ऐसे ही प्रभावित होते हैं।

यह सक्रमण का जगत् है। यहा कोई भी व्यक्ति अपने आपको सक्रमण से वचा नही सकता। रूस मे क्राति हुई। लोग कहते हैं कि लेनिन ने क्राति की, उसके साथियो ने क्राति की। किन्तु अब रूस के वैज्ञानिक कुछ नयी बातें कह रहे हैं। वे कहते हैं—न लेनिन ने क्राति की और न उसके साथियो ने। सूर्य मे विस्फोट हुआ और यहा क्राति घटित हो गयी। इस क्राति का मूल कारण सूर्य का विस्फोट है, न कि मनुष्य। मनुष्य क्राति का कारण नही है। सूर्य पर जव-जब विस्फोट होते है, तव-तव मनुष्य का मस्तिष्क वहुत प्रभावित होता है। जिस वर्ष सूर्य मे भयकर विस्फोट होते हैं उस वर्ष सारी पृथ्वी पर भयकर वीमारिया, भयकर तूफान और भयकर भूकम्प आते हैं। परस्पर भयकर युद्ध और सघर्ष होते हैं। इस प्रकार ये सारे सघर्ष, ये सारे तूफान, ये सारी वीमारिया, ये क्रान्तिया सूर्य का विस्फोट कराता है, न कि मनुष्य उन्हे करता है। हम अनेक चीजो से प्रभावित होते है। कही कुछ घटित होता है और हम प्रभावित हो जाते हैं। हम दूसरो को प्रभावित करते है और स्वय दूसरो से प्रभावित होते हैं।

सक्रमण के इस जगत् मे कोई भी सक्रमण से बच नही सकता। कही कोई सुरक्षा का ऐसा कवच नही है कि मनुष्य उस सक्रमण से, उस प्रभाव से अपने आपको बचा सके और अपने आपको सुरक्षित रख सके।

ध्वनि एक कवच का काम भी करती है। हम दूसर से कम प्रभावित हो, इसके लिए ध्वनि का कवच वना सकते हैं। रोज पश्चिम रात्रि का समय आता है और हमारी अनित्य अनुप्रेक्षा का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। सब लोग बैठते हैं और सकल्प होता है कि अनित्य अनुप्रेक्षा करनी है। सब शान्त और जागृत। सब शान्त और सचेत। अनित्य अनुप्रेक्षा प्रारम्भ होती है।

हमारा पहला सूत्र होता है—'इम सरीर अणिच्च'—यह शरीर अनित्य है। इस सूत्र की ध्वनि के साथ हम अनित्य अनुप्रेक्षा का प्रारम्भ करते हैं।

हमारा दूसरा सूत्र होता है—'इम सरीर चयावचयधम्मय'—यह शरीर चय-अपचयधर्मा है। इसका चय होता है, अपचय होता है। यह पुष्ट होता है, क्षीण होना है।

हमारा तीसरा सूत्र होता है—'इम सरीर विपरिणामधम्मय'—यह शरीर विपरिणामधर्मा है। इसमे विविध परिणमन होते है, नाना प्रकार के परिवर्तन होते हैं। कभी सर्दी से परिवर्तन होता है, कभी गर्मी से परिवर्तन होता है। कभी भोजन से परिवर्तन होता है, कभी दूसरे के सतापी पुद्गलो से परिवर्तन

होता है। कभी बीमारी मे परिवर्तन होता है तो कभी हमारी स्वय की भावना से भी परिवर्तन हो जाता है। इन विविध परिवर्तनो का हम ध्वनि के माध्यम से अनुभव कर सकते है, देख सकते है, साक्षात् कर सकते है। ध्वनि के साथ सकल्प का विकास भी आवश्यक है।

सुना होगा, हिमालय के वर्फ पर साधक नग्न होकर बैठा है। चारो ओर बर्फ ही वर्फ है। वह गर्मी का प्रयोग प्रारम्भ करता है। एक घटा बीतता है, दो घटे बीतते है और साधक के शरीर से पसीना चूने लगता है। वर्फ पर पसीना चूने लग जाता है। यह प्राकृतिक घटना नही है। यदि प्राकृतिक घटना होती तो एक ही आदमी के शरीर से पसीना नही चूता, वहा जितने आदमी होगे, सबके शरीर से पसीना चूएगा। पर एक ही आदमी के शरीर से पसीना चूता है और दूसरे सब सर्दी मे ठिठुरते है। यह प्राकृतिक घटना नही है, ध्वनि का प्रयोग है, सकल्प का प्रयोग है और भावना का प्रयोग है। यह भावनात्मक परिवर्तन है, प्राकृतिक परिवर्तन नही है।

गर्मी के दिन है। भयकर गर्मी पड रही है। लूए चल रही है। साधक सर्दी की भावना करता है, सर्दी का सकल्प करता है और उसके शरीर मे सर्दी व्याप्त हो जाती है। वह ठिठुरने लगता है। वह कवल ओढता है, फिर भी ठिठुरन समाप्त नही होती। यह प्राकृतिक परिवर्तन नही है, भावनात्मक परिवर्तन है।

एक आदमी आज भी जीवित है जो प्रति शुक्रवार को क्रॉस पर चढता है। उसके दोनो हाथो मे घाव हो जाते है। रक्त वहने लग जाता है। हृदय से भी रक्त वहने लगता है। शुक्रवार को ऐसा होता है ही। यह भावनात्मक परिवर्तन है। वह व्यक्ति ईसा मसीह का सकल्प करता है और ऐसा घटित हो जाता है।

पैर मे विवाई फटती है, पीडा होती है। अभी विवाई फटने का मौसम तो नही है किन्तु आप भावनात्मक प्रयोग करे। विवाई फटे या न फटे, दर्द प्रारम्भ हो जाएगा। यदि भावना से दर्द हो सकता है तो भावना से दर्द मिट भी सकता है। दोनो वाते घटित हो सकती है।

शरीर विपरिणामधर्मा है। इसमे विविध परिणमन होते है। हम देखे कि शरीर मे विविध परिणमन किन कारणो से, किस प्रकार से हो रहे है।

हमारा चौथा सूत्र है—'इम सरीर जरामरणधम्मय'— यह शरीर जरा-मरणधर्मा है। इसमे जरा घटित होती है, मृत्यु घटित होती है। हम मृत्यु का अनुभव करे। हम शरीर को इतना ढीला छोड दे कि ऐसा लगे, मानो मृत्यु का अनुभव हो रहा है। ऐसा होता है। मृत्यु का अनुभव होने लगता है। यह प्राकृतिक परिवर्तन नही है। मृत्यु घटित नही हो रही है। यह भावनात्मक परिवर्तन है। भावनात्मक परिवर्तन के द्वारा, भावना की अत्यन्त तीव्रता और सघनता के द्वारा हम उस स्थिति का अनुभव कर सकते है जो स्थिति बहुत समय के वाद घटित होने

वाली है ।

यह है अनित्यता की अनुप्रेक्षा । जो घटित हो रहे हैं, जो घटित कर रहे हैं, उसे हम देखते है । इसमे ध्वनि का वहुत वडा योग है । इसीलिए हमने ध्वनि का आलवन स्वीकार किया है, कल्पना का आलवन स्वीकार किया है । हम एक सीमा तक ध्वनि और कल्पना के आलवन की उपेक्षा नही कर सकते । आलवन हमे लेना ही होता है ।

अर्हं के जप मे लोग ध्वनि के साथ अर्हं की भावना करते हैं, फिर सूक्ष्म ध्वनि के साथ अर्हं की भावना करते हैं, फिर अर्हं की मानसिक भावना करते हैं । प्रत्येक स्तर पर अलग-अलग अनुभूति होती है ।

मैंने एक दिन कहा था कि इस तीव्र ध्वनि को वद कर दें । एक वार उस प्रयोग को स्थगित कर दें, किन्तु कुछेक लोगो ने कहा—यह प्रयोग तो चलना ही चाहिए क्योकि यह प्रिय लगता है, एकाग्रता सधती है, यह स्वाभाविक बात है । हम इस मानव स्वभाव को न भूलें कि दीर्घ या स्थूल आलवन को छोडकर, सूक्ष्म आलवन की ओर हम सहसा हर किसी व्यक्ति को नही ले जा सकते । प्रेक्षा ध्यान की पद्धति मे इस वास्तविकता को ध्यान मे रखा गया है कि साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर चले । स्थूल को देखते रहो, सूक्ष्म की वात पकड मे नही आएगी । वहुत सारे लोग यह शिकायत करते हैं कि सहज श्वास पकड मे नही आ रहा है, प्रकपन पकड मे नही आ रहे हैं । यह ठीक वात है । प्रारभ मे ऐसा नही होगा । हमे यह ध्यान मे रखना है कि हम जिस व्यक्ति को साधना के लिए प्रेरित कर रहे है उसमे साधनाकाल मे ऊव न आए । निराशा न आए । यदि उसमे निराशा आएगी तो वह साधना कर नही सकेगा । यदि वह ऊव जाएगा तो सभव है साधना ही छूट जाए और वह फिर कभी उसमे प्रविष्ट होने का नाम ही न ले । इसलिए वहुत आवश्यक है कि साधना करने वाले व्यक्ति मे ऊव न आए, उसमे आकर्षण वना रहे और साधना के प्रति अनुराग क्रमश पुष्ट होता चला जाए । इसलिए प्रारभ मे मैं स्थूल आलवन को आवश्यक मानता हू । यद्यपि यह आवश्यक है कि हम स्थूल पर रुकें नही । हमे सूक्ष्म तक पहुचना है । किन्तु क्या आप कल्पना कर सकते है कि साधारण आदमी सहसा स्थूल को छोडकर सूक्ष्म मे चला जाए ? ऐसे लोग विरल होते हैं जो सीधे सूक्ष्म तक पहुच जाए ।

एक साधक गुरु के पास आकर वोला—'मैं साधना करना चाहता हू । आप मार्गदर्शन करे । आप वताए कि मैं क्या करू ?' गुरु ने सुना । उसको झिडकते हुए कहा—'मुझे पूछने आए हो कि क्या करू ? क्या तुम्हे दिखाई नही देता ? क्या आखें नही है तुम्हारे ? क्या तुम्हे सुनाई नही देता ? क्या कान नही हैं तुम्हारे ?' साधक ने कहा—'आखें हैं । मुझे दिखाई देता है । कान हैं । मैं सुन सकता हू ।' गुरु वोले—'फिर मुझे क्या पूछते हो ? सामने क्या देख रहे हो ?' 'पहाडी दिखाई

दे रही है।' 'क्या सुनते हो ?' 'निर्झर का शब्द सुनाई दे रहा है।' 'तो चले जाओ, पहाडी को देखो और निर्झर की ध्वनि को सुनो। यही साधना है।'

साधक चला गया। वह पहाडी को देखता रहा। ध्वनि को सुनता रहा। देखते-सुनते वह अन्तिम बिदु पर पहुच गया।

मूल बात है—देखना। अब चाहे हम शरीर को देखें, चाहे हम पहाडी को देखे, चाहे किसी फोटो को देखे। मूल मत्र है—देखने का अभ्यास करना। देखो और जानो। और कुछ भी मत करो। केवल देखो। देखने के साथ और कुछ भी मत जोडो। केवल जानो। जानने के साथ और कुछ भी मत जोडो। मूल है—जानना और देखना। अब चाहे हम शरीर को देखें, श्वास को देखें, दीवार को देखें, क्या अन्तर आएगा ? कुछ भी नही। देखना देखना है।

जैन आगम कहते हैं कि मुनि भूमि को देखता हुआ चले। यह पूरी की पूरी ध्यान की प्रक्रिया है। यह गमन-योग है। हम इस बात को पकडे, किन्तु बहुत बडा सत्य इसके पीछे छिपा हुआ है। एक व्यक्ति और कोई साधना नही करता, केवल चलते समय यदि देखकर चलता है तो ध्यान की बहुत बडी साधना हो जाती है। यह साधना उसे बहुत आगे तक ले जाती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे उल्लेख है कि साधक चलते समय गमनमय बन जाए। उसका सारा शरीर-तत्र, 'बस मैं चल रहा हू', यानि गति बन जाए। जो आदमी गमनयोग का अभ्यास कर रहा है, देखकर चल रहा है, उस समय उसे आदमी नही कहना चाहिए, उसे गति कहना चाहिए। उसे गमन कहना चाहिए। केवल गमन। न कि आदमी। वह गमन होगा। एवभूतनय की दृष्टि से देखा जाए, शुद्ध नय की दृष्टि से पूछा जाए कि उस आदमी को तुम क्या कहोगे ? आदमी कहोगे ? नही, बिलकुल नही। वह आदमी कहा है, वह तो गति है। कोरा चल रहा है। और कुछ नही है। न वहा इन्द्रिय का प्रयोग है और न मन का प्रयोग है। न वहा पाच इन्द्रियो का विषय है और न पाच प्रकार का स्वाध्याय है। न वाचना है, न पृच्छना है, न कोई प्रश्न है, न कोई पुनरावृत्ति है, न कोई अनुप्रेक्षा है और न कोई धर्मकथा है। न आख का प्रयोग है और न कान का प्रयोग है। न देखना और न सुनना। जिस व्यक्ति मे किसी भी इन्द्रिय का प्रयोग नही है, मन और मस्तिष्क का प्रयोग नही है, भाषा का प्रयोग नही है, फिर तो वह केवल गति रहा। शेष कुछ भी नही बचा। गति ही शेष रहती है। भाषा समाप्त, मन समाप्त, इन्द्रियो के विषय समाप्त। शेष क्या बचा ? केवल गति, केवल गति। उसे और कुछ दिखाई नही देता। केवल भूमि ही भूमि दीख रही है। यह गमनयोग है।

मैं कह रहा था कि हमे एक आलबन लेना है। आप यह न माने कि केवल श्वास का ही आलबन है। ऐसा मानेगे तो अनुप्रेक्षा नही होगी। यथार्थ की घटना नही होगी। श्वास का भी एक आलबन है। यदि आप केवल गमन को ही आलबन

वना ने तो यह वहुत वडा आलवन वन सकता है। हरिभद्र सूरी ने कहा है—'सव्वोऽवि धम्मवावारो मोक्खेण जोयणाओ जोओ'—मुक्ति देने वाला, दु खमुक्ति करने वाला सारा धर्म का व्यापार योग है। यह वहुत गहरी बात है। उन्होंने वहुत वडे सत्य का उद्घाटन किया है। हम किसी को भी आलवन वना लें, आखिर वह हमारे लिए आलवन बन जाएगा।

मैं एक दूसरे आलवन की चर्चा करू। एक आदमी कुछ भी नही करता। न ध्यान करता है, न स्वाध्याय करता है न और कुछ करता है। यदि वह केवल वात को पकड लेता है कि मैं केवल रोटी ही खाऊगा, और कुछ नही करूगा—मैं समझता हू कि उसे ध्यान का इतना लाभ मिल जाएगा जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकेंगे। वह सोचता है—मैं केवल खाऊगा, और कुछ भी नही करूगा। केवल खाना भी वहु वडी साधना है।

११

रूपान्तरण की प्रक्रिया

एक ग्रामीण शहर मे आकर एक होटल मे ठहरा। रात हुई। बत्ती जल रही थी। सोने का समय आया। उसने सोचा—दीए (बत्ती) को बुझा दू। वह बल्ब के पास गया। फूक मारी। दीया बुझा नही। दो मिनट बाद और तेज फूक मारी। दीया नही बुझा। दो-चार बार फूक मारी। दीया जलता ही रहा। हैरान होकर प्रकाश मे ही सो गया। प्रभात हुआ। होटल का बैरा आया। ग्रामीण ने बैरे को कहा, "अरे! तुम्हारे यहा ये कैसे दीए। फूक मारने पर बुझते ही नही। ये निकम्मे दीए है। मुझे सारी रात प्रकाश मे ही काटनी पडी।" बैरा बोला—"महाशय! यह दीया नही है, बिजली है। यह फूक से नही बुझती।" वह स्विच के पास गया, बटन दबाया और बिजली बद हो गयी।

ग्रामीण को पता नही था कि बिजली कैसे बुझती है, कैसे जलती है? वह केवल यही जानता था कि जो प्रकाश देता है, वह दीया है और वह फूक मारने से बुझ जाता है।

जब तक हम नही जानते, तब तक न दीया जलाया जा सकता है और न बुझाया जा सकता है। कुछ भी नही हो सकता।

इसी प्रकार जाने बिना हम रूपान्तरित भी कैसे हो सकते हैं? हमारे पास कोई दूसरा उपाय नही कि हम बदल जाए, रूपान्तरित हो जाए।

दूसरी बात है—जानने के बाद अभ्यास करना। हमने यह विधि जान ली कि ऐसे एक नथुने से श्वास लिया जाता है, साथ मे मन का सकल्प चलता है। भीतर तक पहुचता है। यह भी जान लिया कि फिर दूसरे नथुने से श्वास निकाला जाता है, साथ-साथ मन का सकल्प भी चलता है, मन भी साथ-साथ चलता है। पूरा क्रम हमने जान लिया, समझ लिया। पर करते समय प्रमाद छा गया। सक्रियता नही रही। अप्रमाद नही रहा। जागरूकता नही रही। कर्मण्यता नही रही। जानने मात्र से कुछ नही होगा। अभ्यास करना होगा। जैसे हमने जाना है, पूरी जागरूकता के साथ उस अभ्यास को दोहराना होगा। उस अभ्यास को बार-

बार दोहराएगे, तभी हमारा काम सपन्न होगा, अभ्यास सफल होगा। इसीलिए महावीर ने कहा—'विज्जा चरण पमोक्खो'—ज्ञान और आचरण, दोनो मिलकर ही दु ख से मुक्ति दिला सकते है। दु ख की मुक्ति नही हो सकती जाने विना और दु ख की मुक्ति नही हो सकती किए विना। जानना ज़रूरी है तो करना भी ज़रूरी है। अप्रमाद इसीलिए कि हम करें। अप्रमाद इसीलिए कि हम अभ्यास को दोह-राए। पूरी जागरूकता के साथ दोहराए। इसीलिए अप्रमाद ज़रूरी है। जानना इसीलिए ज़रूरी है कि हम विजली के सामने जाकर फूक न मारें। जहा फूक मारनी हो वहा फूक मारें और जहा वटन दवाना हो, वहा वटन दवाए। जो जैसे करना हो, वैसे करें। वे दोनो वातें ठीक होगी तो प्रकाश हो जाएगा, दरवाज़े खुल जाएगे, खिडकिया खुल जाएगी। अन्यथा कुछ भी नही होगा। न प्रकाश होगा, न दरवाज़े खुलेंगे और न खिडकिया खुलेंगी।

यह तव हो सकता है, जव हमारे मन मे गहरी आकाक्षा उत्पन्न हो जाए। गहरी अभीप्सा उत्पन्न हो जाए कि यह करना मेरे लिए नितान्त आवश्यक है। यह करके मैं स्वय धन्य हो रहा हू, उपकृत हो रहा हू, लाभान्वित हो रहा हू। इतनी गहरी आकाक्षा, अभीप्सा उत्पन्न हो तभी यह हो सकता है। गहरी आकाक्षा के लिए स्व-निरीक्षण वहुत अपेक्षित है। गहरी आकाक्षा होती हैं तो उसके पीछे आत्मा का निरीक्षण होता है।

हम दोहराते जा रहे हैं, पहले दिन से ही दोहराते जा रहे हैं—आत्मा द्वारा आत्मा को देखो। इसका तात्पर्य है कि स्व-दशन की भावना उत्पन्न हो, अपने आपको देखने की भावना उत्पन्न हो। अपने आपको हम देखेंगे तो गहरी आकाक्षा उत्पन्न होगी। आत्मा का दर्शन, अपने अस्तित्व का दर्शन और गहरी आकाक्षा—ये जव होते हैं तो हमारे दृष्टिकोण का परिवर्तन होता है। जीवन वदलता है, उससे पहले दृष्टि वदलती है। दृष्टि वदलती है तो जीवन वदल जाता है। दुनिया मे जो है, वह है। अच्छा है तो अच्छा है, वुरा है तो वुरा है। जो है, उसमे हम कोई अदल-वदल नही कर सकते। यह सब चलेगा दुनिया मे। आज तक उसे कोई नही वदल सका, मिटा नही सका और कोई नया वना नही सका। जो है, वैसे चलता है, चलता रहेगा। जो आदमी अपनी दृष्टि को वदल लेता है, उसके लिए दुनिया वदल जाती है। जो अपनी दृष्टि को नही वदलता, उसके लिए दुनिया कभी नही वदलती।

एक गुरु थे। उनके दो शिष्य थे। वे उनकी परीक्षा करना चाहते थे। एक शिष्य को वुलाकर पूछा—'वताओ जगत् जैसा है? तुम्हे जगत् कैसा लग रहा है?' उसने कहा—'वहुत वुरा है यह जगत्। सर्वत्र अधकार ही अधकार है। आप देखें, दिन एक होता है और रातें दो। दो रातो के वीच एक दिन। पहले रात थी। अधेरा ही अधेरा। फिर दिन आया। उजाला हुआ। प्रकाश हुआ। पर फिर रात

आ गयी। अधेरा छा गया। एक वार उजाला, दो वार अधेरा। अधेरा अधिक, प्रकाश कम। यह है जगत्।'

आचार्य ने दूसरे शिष्य से भी यही प्रश्न पूछा। उमने कहा—'गुरुदेव ! जगत् अच्छा है। प्रकाश ही प्रकाश है। रात वीती। उजाला हुआ। सर्वत्र प्रकाश फैल गया। प्रकाश आता है तो अधकार चूर-चूर हो जाता है। वह सवकी मूदी हुई आखो को खोल देता है, यथार्थ को प्रकट कर देता है। जो अधकार मे आवृत था, उसे क्षण भर मे अभिव्यक्ति दे देता है, अनावृत कर देता है। कितना सुन्दर और लुभावना है यह जगत् कि जिसमे ऐसा प्रकाश है। मैने देखा—दिन आया। वीता। रात आयी। वीती। फिर दिन आ गया। इस प्रकार दो दिनो के वीच एक रात। प्रकाश अधिक, अधकार कम। दो वार उजाला, एक वार अधेरा।'

प्रश्न एक था, उत्तर देने वाले दो थे। उत्तर दो प्रकार मे दिए गए। एक ने कहा—दो रातो के वीच एक दिन होता है। दूसरे ने कहा—दो दिनो के वीच एक रात होती है। रात दोनो के लिए समान थी। दिन दोनो के लिए समान थे। न दिन मे अन्तर और न रात मे अन्तर। केवल दृष्टिकोण मे अन्तर था, देखने के तरीके मे अन्तर था। एक ने प्रकाश की चमक ज्यादा देखी, उसका मूल्याकन किया। एक ने अधकार अधिक देखा। वह उसी मे उलझ गया। उसे लगा कि जगत् मे अधकार के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। वह प्रकाश की चमक नही देख पाया, उसका मूल्याकन नही कर पाया।

यह सारा दृष्टिकोण का ही परिवर्तन है। यदि हमारी दृष्टि विश्व के सौदर्य को, सचाई को देखने मे लग जाती है, तो हमे सर्वत्र यथार्थ ही यथार्थ दिखाई देगा, सौंदर्य ही दिखाई देगा। यदि हमारी दृष्टि सारे विश्व मे दु ख ही दु ख देखने लगती है तो हमारे आसपास दु ख नाचने लगेगा। सव कुछ दु खमय लगेगा।

हम पश्चिम रात्रि मे अनित्य अनुप्रेक्षा का अभ्यास करते है, अनुभव करते है। शरीर अनित्य है, इस सचाई मे भी आनन्द का अनुभव होता है। शरीर चया-पचयधर्मा है, कभी उसका चय होता है और कभी अपचय होता है। कभी यह पुष्ट होता है और कभी यह क्षीण होता है। शरीर क्षीण होता है, इसमे भी सचाई का बोध होता है। यह शरीर विपरिणामधर्मा है, विविध परिवर्तनो मे से गुजरता है। कभी इस पर सर्दी का प्रभाव होता है, तो कभी गर्मी का तो कभी आधी-तूफान का। कभी यह बीमारी की यातना झेलता है, तो कभी परिस्थितियो से पीडित होता है। कभी कुछ, कभी कुछ घटित होता है। अनेक-अनेक परिवर्तनो मे से यह गुजरता है। वीमारी हमे प्रिय नही होती, किन्तु बीमारी की सचाई का अनुभव करना हमे सचमुच प्रिय होगा। बीमारी है—यह सचाई हमे सचमुच सत्य की ओर ले जाती है, यथार्थ की ओर ले जाती है।

यह शरीर है। इसमे मृत्यु घटित होती है। इसमे बुढापा आता है, आदमी

मर जाता है। मृत्यु का अनुभव करना भी बहुत बड़ा आनन्द है। ... अनुप्रेक्षा के द्वारा हम जीते-जी मरना सीख लेते है। और जो आदमी ... लेता है, वह सारी कठिनाइयो का पार पा जाता है। दुनिया मे ... मौत का। यह अन्तिम बात है।

आज तक के दुनिया के शासको ने दण्ड का विकास किया है। ... के दण्ड उपयोग मे लाए जाते हैं—बाधना, जेल मे डाल देना, हाथो मे ... और पैरो मे बेडिया डालना, मारना, पीटना। उनके पास भी अन्तिम ... फासी की सजा। मौत की सजा। यह अन्तिम दण्ड है।

जो आदमी जीते-जी मरना सीख लेता है, मृत्यु का साक्षात्कार ... मृत्यु का अनुभव कर लेता है, अपने शरीर को शिथिल बनाकर ... मृतवत् करना सीख जाता है—सचमुच वह आदमी सारी समस्याओं का, ... प्रकार के भयो का और सारी कठिनाइयो का पार पा लेता है।

हम अनित्य की अनुप्रेक्षा करते है। उस अनुप्रेक्षा मे से ही ... है, आनन्द को निकालते हैं और अपने भीतर की गहराइयो मे जाने का प्रयत्न ... हैं, उसकी साधना करते हैं। यह सारा दृष्टिकोण का ही परिवर्तन है। ... किसी को कहा जाए कि तुम मृत्यु का अनुभव करो तो वह सोचेगा कि ... की बात कह रहा है? जीने की बात करे तो वह अच्छी भी लग सकती है, किन्तु यह तो मौत की बात कह रहा है। बुरी बात है। जीने की बात अच्छी लगती है। मौत की बात बुरी लगती है। लोग इसे अपशकुन मान लेते है। बुरा मान ... । किन्तु साधक ऐसा नही मान सकते। वे मौत की बात को अच्छा मानते है। ... लिए इसे अपने अभ्यास का अग बनाकर साधना चलाते है। सचमुच यह दृष्टि का ही तो परिवर्तन है।

दृष्टि बदलती है तो सारी बातें बदल जाती है। साधना का पहला सूत्र है—दृष्टि का परिवर्तन। रूपान्तरण का पहला सूत्र है—दृष्टि का परिवर्तन। हम जो कुछ रूपान्तरित होते हैं, वह दृष्टि-परिवर्तन के द्वारा ही होते है। दृष्टि के परिवर्तित होते ही भीतर के सारे तत्त्वो मे रूपान्तरण प्रारम्भ हो जाता है। रूपान्तरण की प्रक्रिया चालू हो जाती है। तब बहुत सारी बातें जो दुनिया को उल्टी लगती हैं, वे सारी बातें हमे सही लगने लग जाती है। दुनिया को जो बात सही लगती है, वे साधक को उल्टी लगने लग जाती हैं।

एक साधक ने कन्फ्यूशियस से पूछा—मैं मन पर सयम कैसे कर सकता हू? कन्फ्यूशियस बहुत बडा साधक था, योगी था, महान् दार्शनिक था, महान् तत्त्ववेत्ता था। उसने कहा—मैं इसका सीधा-सा उपाय बताता हू, छोटा-सा सूत्र देता हू। क्या तुम कानो से सुनते हो? साधक ने कहा—हा। कन्फ्यूशियस बोला—मैं नही मान सकता कि तुम कानो से सुनते हो। तुम मन से सुनते हो। एक काम करो,

है, आख मे नही है, जीभ मे नही है। जो जैसा है, वैसा ही मुझे दिखाई दे रहा है। इसमे न कोई प्रियता है और न कोई अप्रियता है। न कोई राग है और न कोई द्वेष है। जो जैसा है, वैसा सम्स्थान, आकृति और वर्ण मेरी आखो के सामने आ रहा है और आखे उसे पकड रही हैं। अब मन मे किसी के प्रति प्रियता का भाव आता है और किसी के प्रति अप्रियता का भाव आता है, तो इसमे बेचारी आखो का क्या दोष है ? उनका कोई दोष नही है। ये तो मात्र नालिया हैं। इनमे चाहे गदा पानी बहा ले जाओ। चाहे निर्मल पानी बहा ले जाओ। कुछ भी बहाकर ले जाओ। ये तो मात्र माध्यम है। इनका कोई दोष नही है। प्रियता का भाव या अप्रियता का भाव, राग या द्वेष—यह सारा आ रहा है मन के द्वारा, सस्कार के द्वारा और धारणा के द्वारा। जिस प्रकार की धारणा जिस व्यक्ति के प्रति हमारे मन मे जमी हुई है, जैसे आख से उसे देखा, उस देखने के पीछे-पीछे सूक्ष्म रूप मे धारणा की तरगे, मन की तरगें जुड जाती हैं। फिर आख का काम नही रहता। फिर हम आख से नही देखते, सस्कार से देखते हैं, धारणा से देखते हैं, मन से देखते हैं।

यह बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है प्रतिसलीनता का, सयम का, कि इन्द्रियो से केवल इन्द्रियो का काम लो, दूसरा काम मत लो। यह है सयम का सूत्र।

मैं रूपान्तरण के सूत्रो की चर्चा कर रहा हू। हम सचमुच बदलना चाहते है। हर आदमी बदलना चाहता है, इसमे कोई सदेह नही है, जिसे क्रोध आता है, वह अपने स्वभाव को बदलना चाहता है। जिसमे दूसरो की निन्दा करने की आदत है, यह उस आदत को बदलना चाहता है। जो खाने मे लोलुप है, वह भी अपनी आदत बदलना चाहता है। वह यह मन से चाहे या लाचारी से, पर चाहता है बदलना।

पर तथ्य यह है कि आदत बदलती नही, स्वभाव बदलता नही, बहुत कम अदमी अपने आपको बदल पाते हैं। वे जानते है कि अमुक बुराई है। वे मानते हैं कि यह बुराई है। प्रयत्न करते है कि उसे छोडा जाए, बदला जाए, परन्तु वे उसे छोड नही सकते, उसे बदल नही पाते। क्यो ? ऐसा क्यो होता है ? यह बहुत बडा प्रश्न है। इसका उत्तर गहराइयो मे उतरकर देना होता है। मैं मानता हू कि साधना की अन्यान्य सफलताओ मे यह भी एक महत्त्वपूर्ण सफलता है कि हम इस प्रश्न का उत्तर पा सके। आदमी बदलना चाहता है, फिर भी क्यो नही बदल पाता ? इस प्रश्न का उत्तर साधना की भूमिका के अतिरिक्त कही भी प्राप्त नही हो सकता। एक मात्र साधना की भूमिका से ही हम इस प्रश्न का समाधान दे सकते है।

हम श्वास का प्रयोग कर रहे हैं। श्वास को भीतर ले जाने के प्रयत्न के साथ-साथ मन को भीतर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा क्यो कर रहे हैं ? हम एकाग्रता का अभ्यास क्यो कर रहे हैं ? हम विचार-शून्यता का अभ्यास क्यो कर रहे है ? यह हमे समझना होगा। हम करते जा रहे हैं, आखिर क्यो ?

हमारे दो शरीर है—स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर। हमारी चेतना के अनेक स्तर है। एक है मन की चेतना अर्थात् चेतना का मानसिक स्तर और एक है अध्यवसाय का स्तर। मन एक है, अध्यवसाय असख्य। अध्यवसाय अर्थात् सूक्ष्म चेतना। सूक्ष्म चेतना के असख्य स्तर है। वे बहुत गहरे है। हमारे स्थूल मन को लगा कि यह अच्छा नही है, हमारे जागृत मन को लगा कि यह अच्छा नही है, तत्काल हम प्रभावित हो गए और हमने सोच लिया कि इसे छोड देना चाहिए। मन मे छोडने का सकल्प कर लिया। समझ लीजिए कि चाय को छोडने का सकल्प कर लिया। जैसे ही दिन उगा, नाश्ते का समय आया और चाय सिर पर सवार हो गई। यह सिर पर सवार होकर बोलने लगी। अकुलाहट बढी। छोडने का मन था, पर सामने चाय आयी तो सोचा—चलो, आज तो ले लें, कल छोड देंगे। एक दिन मे क्या फर्क पडता है। कल आया तो फिर यही प्रश्न और वही मन का समाधान। यह क्रम चलता रहता है।

राजा घूमने के लिए निकला। बगीचे मे पहुचा। मत्री ने सावधान करते हुए कहा— महाराज ! आप आम के पेड के नीचे न बैठें। आपको न आम खाना है और न उसकी छाया मे ही बैठना है। वैद्य ने कहा है कि आप आम खाएगे तो जी नही सकेंगे, मर जाएगे। आप यदि आम को हाथ मे लेंगे तो समझ लीजिए कि आप मृत्यु को हाथ मे ले रहे हैं। आपके लिए आम का अर्थ है—मृत्यु।

राजा ने मन ही मन सोचा—कैसे होते है वैद्य ! इतनी कडाई ! इतना निषेध ! आम की छाया सघन होती है। उसके नीचे बैठने मे क्या दोष है ? खाने मे दोष की सभावना हो सकती है, बैठने मात्र से नही। राजा गया। आम के वृक्ष के नीचे बैठा। पके हुए आमो की मीठी सुगन्ध से मन भर गया। मुह मे पानी आ गया। इतने मे ही हवा का एक झोका आया। पका हुआ आम वृक्ष से टूटा और राजा की गोद मे आ गिरा। राजा ने उसे छुआ। हाथ मे उठाया। सूघा। मन-मोहक वर्ण, मीठी सुगध। मत्री ने कहा—महाराज ! यह क्या कर रहे हैं ? मौत को बुला रहे है ? दूर फेंक दीजिए इस आम को। राजा ने हसते हुए कहा—तुम तो बडे अविश्वासी हो। देखने और सूघने मे हानि ही क्या है ? मैं इसे खाऊगा नही। राजा बार-बार उसे सूघता रहा। मीठी सुगध मन को भा गई। सूघते-सूघते राजा आम को चूसने लगा। बडा मीठा रस। मत्री ने हाथ पकड लिया। राजा बोला—मत्री ! वैद्य लोग यो ही डराते हैं, भला एक आम चूस लेने मात्र से आदमी कैसे मर जाता है, मैं छककर तो खा नही रहा हू। तुम चिंता मत करो। मत्री निषेध करता ही रहा, राजा ने पूरा आम चूस डाला। कुछ ही दिनो मे राजा बीमारी मे ग्रस्त होकर मर गया।

आदमी जानता हुआ भी छोड क्यो नही पाता ? हाथ से गिरे हुए काच के गिलास की भाति सकल्प टूट जाता है, चूर-चूर हो जाता है। इसका मतलब

है कि यह सारा का सारा सकल्प हमारी स्थूल चेतना के स्तर पर जागृत मन के स्तर पर होता है। सकल्प करता है, जागृत मन और बुराई आ रही है किसी दूसरे विन्दु से। वीमारी है कही और हम इलाज कही अन्यत्र कर रहे हैं।

एक आदमी की आख दुखने लगी। वैद्य के पास गया। वैद्य ने कहा—'यह वर्तिका है। इसे घिसकर आख मे आज देना।' दो दिन वाद वैद्य रोगी के घर पहुचा। उसने देखा कि वह रोगी वर्तिका को घिसकर पीठ पर मल रहा है। वैद्य ने पूछा—क्या कर रहे हो? यह दवा तो आख के लिए है। तुम इसे पीठ पर कैसे लगा रहे हो? उसने कहा—क्या करू? पहले दिन तो आख मे ही आजी थी, किन्तु वह वहुत जली। तव मैंने सोचा—चलो, आख मे न सही, पीठ पर ही मल लें। क्या फर्क पडता है।

हम लोग भी सचमुच ऐसे ही हैं। वीमारी कही है और दवा कही लगा रहे हैं। रोग कही हैं और चिकित्सा कही कर रहे हैं। वीमारी तो है सूक्ष्म चेतना मे, वीमारी है कर्म शरीर मे, वीमारी है वासना शरीर मे और इलाज करना चाहते हैं स्थल मन मे, जागृत मन मे, स्थूल शरीर मे। इस मन का यह काम ही नही है। जहा से सारी आकाक्षाए, सारी अतृप्तिया, सारी वासनाए आ रही हैं, उनका जो स्रोत है, वह है अध्यवसाय। अध्यवसाय मलिन होता है, अध्यवसाय निर्मल होता है। अध्यवसाय की मलिनता और अध्यवसाय की निर्मलता के आधार पर भीतर मे सारा चलता है। हम केवल उपचार कर रहे है स्थूल मन का, जागृत मन का। जीवन भर उपचार करते चले जाते हैं, पर वीमारी कभी मिटती नही। हम सोच लेते है, इतना प्रयत्न करने पर भी यह मिटा नही। हम लोग ठीक उसी ग्रामीण जैसे हैं, जो फूक मारकर विजली को वुझाना चाहता है। विजली नही वुझेगी। रोग नही मिटेगा।

हम श्वास के साथ-साथ मन को भी भीतर ले जा रहे हैं, इसलिए कि अवचेतन मन के द्वार को खोल सकें। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के वीच मे जो दीवार है, उसे तोड सकें और इनके वीच मे एक ऐसा दरवाजा वना सकें कि हम सीधे स्थूल मन मे से सूक्ष्म मन मे चले जाए, स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर मे चले जाए। यदि हम वीच के दरवाजे को खोल सकें, वीच की दीवार को तोड सकें तो यह साधना की वहुत वडी उपलब्धि होगी।

इस दरवाजे को खोलने का जो साधना है, वह है एकाग्रता। दूरी को समाप्त करने का जो साधन है, वह है एकाग्रता। हम एकाग्रता का जितना अभ्यास कर सकते हैं, उतनी ही मात्रा मे हम इस दूरी को समाप्त कर सकते हैं। जैसे-जैसे हमारी एकाग्रता वढेगी, स्थूल मन निष्क्रिय होगा और सूक्ष्म मन को काम करने का मौका मिल जाएगा। वह सक्रिय हो जाएगा। दरवाजा खुल जाएगा। जैसे-जैसे हमारी विचार-शून्यता वढेगी, इतना तेज धक्का लगेगा कि सूक्ष्म मन का

दरवाज़ा खुल जाएगा। जैसे जैसे हम श्वास की गति को समझ लेंगे श्वास की गति को मद कर लेंगे तो वह मद श्वास इतना शक्तिशाली हो जाएगा कि उसके एक ही धक्के से वह दरवाज़ा खुल जाएगा। हमारे स्थूल जगत् का विश्वास यह है कि जो स्थूल होता है, वह बहुत शक्तिशाली होता है। किन्तु सूक्ष्म जगत् का विश्वास इससे बिलकुल उल्टा है। शक्ति उसमे होती है, जो सूक्ष्म है। आज एटम के सिद्धात ने इसे प्रमाणित कर दिया है। आज यह विश्वास प्रबल हो चुका है कि स्थूल मे कोई शक्ति नही होती, सूक्ष्म मे होती है। एक प्राचीन श्लोक मे इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

हस्ती स्थूलवपु स चाकुशवश किं हस्तिमात्रोकुश ?
दीपे प्रज्वलिते विनश्यति तम किं दीपमात्र तम ?
वज्रेणापि हता पतन्ति गिरय किं वज्रमात्रो गिरि ?
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु क प्रत्यय ?

—हाथी बडा होता है, किन्तु वह भी छोटे से अकुश के अधीन रहता है। शक्ति छोटे अकुश मे है। दीप जलते ही अधकार समाप्त हो जाता है। दीप की अपेक्षा अधकार कितना विशाल होता है। दीप छोटा, अधकार बडा। तम शक्तिशाली नही, दीप शक्तिशाली है। पर्वत बहुत ऊचा होता है, बहुत बडा होता है। वज्र छोटा होता है। पर वह सारे पर्वतो को चूर-चूर कर डालता है। शक्ति पर्वत मे नही, वज्र मे है। शक्ति स्थूल मे नही, सूक्ष्म मे है। शक्ति बडी वस्तु मे नही, छोटी वस्तु मे है। जिसमे तेज होता है, वह बलवान् है। छोटे होने मात्र से क्या ?

स्थूल होना, बहुत बडे आयतन को घेर लेना, कोई बहुत महत्त्व की बात नही है। सूक्ष्म की शक्ति मे विश्वास आज बढता जा रहा है।

इसलिए प्रयत्न करें कि हम स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर की ओर जाए। स्थूल चेतना से सूक्ष्म चेतना की दिशा मे जाए। सूक्ष्म शरीर को जागृत करे, सूक्ष्म चेतना को जागृत करे। यही हमारी समूची प्रक्रिया का, समूचे अभ्यास का प्रयोजन है।

हम आज जो प्रयत्न कर रहे है, वह अधेरी कोठरी मे पत्थर फेंकने जैसा नही है। हम प्रयत्न को समझ-बूझकर कर रहे है। हमारा एक निश्चित प्रयोजन है। हमे यह ज्ञात है कि हम यह प्रयत्न क्यो कर रहे है ? इसके पीछे हमारा गहरा प्रयोजन है और वह यह है कि हम श्वास के आलबन से चलें, एक स्थूल आलबन से चलें, स्थूल आलबन के सहारे, श्वास के सहारे मन मे यह आदत डालें कि वह भीतर की ओर जाए, गहराई मे उतरे, नीचे जाए। यह गहराई मे जाने की आदत मन की छूट गयी है। इस श्वास के आलबन से हम मन मे फिर वह आदत डाल रहे हैं, मन मे सस्कार उत्पन्न कर रहे है। इसका परिणाम यह होगा कि यदि मन भीतर

जाने लगेगा, मन भीतर देखने लगेगा, मन गहराइयो मे उतरने लगेगा तो एक धक्का ऐसा लगेगा कि वह दरवाजा खुल जाएगा। वहा हमे उत्तर मिलेगा कि आदत को बदला जा सकता है, स्वभाव को बदला जा सकता है, क्योकि बुराई का जो स्रोत है, वह पकड मे आ जाता है। बुराई की जड जब उखड जाती है, तब बुराई मिट जाती है। स्थूल मन मे सकल्प को बहुत दोहराने की आवश्यकता नही होती।

१२

स्थूल से सूक्ष्म की ओर

सत्य को खोजें। बहुत प्रिय शब्द है। सत्य स्वय बहुत प्रिय शब्द है। सत्य को खोजना उतना ही जटिल है। इतना विराट् और इतना बडा है सत्य, उसे खोजना कोई छोटी बात नही है। हमने एक सकल्प लिया कि हम सत्य की खोज करे। सत्य की खोज की भावना हमारे मन मे जागी है। हमने सकल्प लिया है। क्योकि सत्य को खोजे बिना, सचाई को समझे बिना कोई भी आदमी सही कार्य नही कर सकता। दुनिया मे जितने भी सही कार्य हुए है, वे सब सत्य की खोज के बाद हुए हैं। जहा सत्य की खोज नही होती वहा सब गलत काम होते है। क्या यह सभव है कि हम थोडे समय मे ही सत्य को खोज लेगे ? सत्य बहुत बडा है और उसके लिए बहुत बडा प्रयत्न चाहिए। फिर भी यदि हमारा अभ्यास सही है, हम जो कर रहे है वह सही है, उसके प्रति हमारी निष्ठा है और हम सत्य के सहारे चल रहे हैं तो निश्चित ही हम सत्य को खोज लेंगे। इसमे कोई सन्देह नही है।

हम सबसे पहले बडे और विराट् सत्य की बात को छोड दें, किन्तु इतना-सा सत्य तो अवश्य खोज लें, जितना सत्य हमारी साधना मे सहयोगी बन सके और जिसकी खोज के आधार पर हम निराश हुए बिना, रुके बिना अपनी साधना को आगे बढा सकें। इतना सत्य तो हमे जान लेना चाहिए, खोज लेना चाहिए। जब इतना सत्य भी नही खोजा जाएगा तो साधना आगे नही बढेगी। पग-पग पर बाधा आएगी—सदेह की बाधा, अविश्वास की बाधा, मूर्खता की बाधा कि बिना सोचे-समझे ही करता चला जा रहा हू, कुछ मिल नही रहा है। ये सारी बाधाए पग-पग पर आएगी, क्योकि जिस सत्य की अनुभूति, जिस साधना की सचाई की अनुभूति आपको होनी चाहिए वह नही है। इसलिए आपके मन मे वह उत्कट प्रेरणा भी नही होनी चाहिए।

पानी सौ डिग्री पर पहुचकर ही भाप बनता है। कम आच से पानी भाप नही बनता। पानी को भाप बनाना है तो उसे सौ डिग्री के तापमान तक पहुचना ही होगा। वहा पहुचे बिना यह परिवर्तन नही हो सकता। इसी प्रकार हमारा परि-

वर्तन भी नभी सभव है जब मत्य की जितनी आच चाहिए, सत्य का जितना तापमान चाहिए, उतना तापमान हमे मिल जाए। तभी यह परिवर्तन सभव है, अन्यथा नभव नही है।

साधना मे वहुत वडी वाधाए आती हैं और वे वाधाए हैं हमारे शरीर की। स्थूल शरीर की ही नहीं, सूक्ष्म शरीर की भी वाधाए उपस्थित होती हैं। साधना मे कुछ आगे वढने पर, सवमे वडो वाधा आती है विद्युत् शरीर की, तैजस शरीर की। तैजम शरीर मे, विद्युत् शरीर मे चमत्कार की शक्ति है। उसमे खेल की शक्ति है। वह विविध खेल दिखा सकता है।

हम कलकत्ता गए। वहा विज्ञान-कक्ष के दरवाज़े के सामने गए। वद दरवाजा अपने आप खुल गया। भीतर गए, विजली की वत्तिया जल उठी। पखे चलने लगे। अदर कोई नही था। कोई भी व्यक्ति उनका सचालन नहीं कर रहा था। सव स्वचालित था। यह सारा विजली का चमत्कार था, विद्युत् का चमत्कार था। हमारे तैजस शरीर मे भी ऐसे वहुत सारे चमत्कार हैं। लोग कहते हैं—यह पहुचा हुआ साधक है क्योकि इसका चेहरा चमक रहा है। इतना चमक रहा है कि मानो तेज टपक रहा है। वहुत वडा साधक है कि ज़मीन से ऊपर उठ जाता है। वहुत वडा साधक है कि हाथ से भभूत वरसाता है। वहुत वडा साधक है कि हाथ उस ओर किया कि मिठाई आ गई, इत्र आ गया, फल आ गया। मिठाई खाओ, इत्र लगाओ, फल खाओ। यह सारा हमारे विद्युत् शरीर का चमत्कार है। ये हमारे प्राणशक्ति के चमत्कार हैं, तैजम और विद्युत् शरीर के खेल है। साधक इनमे उलझ जाता है। मैं यह नही कहना चाहता कि सारी वातें आश्चर्यकारी नही हैं। मैं तो यह कहना चाहता हू कि ये आध्यात्मिक हैं, क्योकि ये स्थूल शरीर के द्वारा घटित नही है। किन्तु ये आश्चर्यजनक नही है।

हमारी साधना का सूत्र है—'रागस्स दोसस्स य सखएण, एगत सोक्ख समुवेइ मोक्ख'—राग और द्वेप के क्षीण होने पर मोक्ष मिलता है। हम जिस मोक्ष-प्राप्ति की साधना कर रहे हैं, वीतरागता की साधना कर रहे हैं, उसमे राग-द्वेप के क्षीण होने पर ही मुक्ति सभव है। हमारा राग क्षीण होना चाहिए। हमारा द्वेप क्षीण होना चाहिए। यह है आध्यात्मिकता। यह है चेतना का जागरण। यह है आत्मा का उत्क्रमण, उत्क्राति। इनमे सारे मल आत्मा से दूर हो जाते हैं। चेतना निर्मल हो जाती है, आत्मा का साक्षात्कार होता है। यह है अध्यात्म की साधना, निर्वाण की साधना। यह है मोक्ष की साधना।

इस साधना के वीच मे आने वाली ये वाधाए वहुत ही जटिल हैं, टेढी-मेढी हैं। ये साधक का मार्ग वदल देती हैं। वह चमत्कार मे उतर आता है। इनके प्रति सहना आकर्षण भी है। लोगो को आकर्षण इस वात का नही होता कि साधक के राग-द्वेप क्षीण हुए है या नही। इसमे जनता को क्या मतलव ? जनता को इसका

क्या लाभ ? लोग तो यह देखते है कि साधक भूमि से ऊपर उठ सकता है या नही। सतान दे सकता है या नही ? धन दे सकता है या नही ? अदृश्य हो सकता है या नही ? आकाश मे उड सकता है या नही ? हाथ के इशारे से वाछित चीज मगा सकता है या नही ? लोहे को सोना बना सकता है या नही ? यदि साधक इन कार्यों मे निपुण है तो हजारो-हजारो लोग उसके प्रति आकृष्ट होगे। उसके प्रति आकर्षण बढेगा । सारा आकर्षण चमत्कार मे है। राग-द्वेष के क्षीण होने मे या कम होने मे कोई आकर्षण नही है।

बिजली मे चमत्कार है। लोगो का उसके प्रति आकर्षण है। उससे प्रकाश मिलता है, गर्मी और ठडी हवा मिलती है। और भी बहुत सारे कार्य बिजली से होते हैं। इसके प्रति बहुत आकर्षण है।

हमारा शरीर भी एक बिजलीघर है। यह पूरा का पूरा विद्युत्-यत्र है। हम सोचते है तो हमारे मस्तिष्क मे बिजली उत्पन्न होती है। हम शात रहते है तब भी बिजली उत्पन्न होती है। ध्यान के समय मे भी बिजली पैदा होती है। हम प्रवृत्ति को कम करते है, हमारे मस्तिष्क मे बिजली पैदा होती है, अल्फा रे, अल्फा की किरणें उत्पन्न होती है । चिंतन के समय वे उत्पन्न नही होती, शात अवस्था मे उत्पन्न होती है। यह जरूरी नही है कि ध्यान मे ही वे उत्पन्न होती है, सहज शात अवस्था मे भी वे तरगे उत्पन्न हो जाती हैं। यह सारा विद्युत् है। बहुत सारे लोग कहते हैं—आज बहुत शाति का अनुभव हुआ। मै समझता हू कि यह भी कोई आध्यात्मिक अनुभव नही है। शाति मिली अर्थात् अल्फा की तरगे आपके मस्तिष्क मे चली और आपको शाति मिली।

एक वैज्ञानिक ने प्रयोग किया। उसने भूमि पर ताबे की जालिया बिछाई और उस पर एक आदमी को बिठा दिया। उस आदमी के शरीर मे ताबे के तार लगा दिए और शरीर मे जो नेगेटिव और पोजिटिव विद्युत् थी, उन दोनो का कनेक्शन कर दिया। आदमी शात हो गया। उसे अपूर्व शाति का अनुभव हुआ। और उसने सोचा कि सभवत निरतर ध्यान करने वाला भी उस स्थिति तक कितने लबे काल के बाद पहुच पाता है। आप सोच सकते है कि जब ताबे के तारो मे इतनी शाति मिल सकती है तो फिर ध्यान की आवश्यकता ही क्या है ? इतनी शाति तारो के प्रयोग से मिल जाए तो फिर उन्ही का प्रयोग करें। एकदम शात हो जाएगे।

एक अमेरिकन वैज्ञानिक है। उसका नाम है साल्टर। उसने इस विषय मे अनेक प्रयोग किए हैं। उसके मन मे विकल्प आया कि आदमी ध्यान करता है, शात होता है। उसके दिमाग मे अल्फा तरगे पैदा होती है तो क्या पशु के नही होती ? जानवर के नही होती ? वह विकल्प मन मे आया और उसने प्रयोग शुरू किया। यह माना जाता है कि अल्फा तरगें सहज भाव से पैदा होती हैं। इन्हे पैदा किया

नहीं जा सकता। किन्तु जब कुछ योगियों ने, ध्यानियों ने, अपने ध्यान के प्रयोग के द्वारा अल्फा तरंगों को पैदा किया तो वैज्ञानिक और डॉक्टर आश्चर्य में रह गए। दिल्ली मेडिकल इन्स्टीट्यूट के डॉक्टरों के एक दल ने परीक्षण किया और देखा कि ध्यान करने वाले अपनी इच्छा से अल्फा तरंगें पैदा करते थे, इच्छा से उन्हें रोक देते थे। फिर पैदा कर देते थे और फिर रोक देते थे। यह वैज्ञानिकों के लिए नई खोज थी कि अल्फा तरंगों को प्रयत्न से पैदा किया जा सकता है। पहले यह नहीं माना जाता था। पहले यह माना जाता था कि ये तरंगें मस्तिष्क में सहज भाव से उत्पन्न होती हैं। माल्टर के मन में विचार आया कि क्या जानवर भी ध्यान कर सकते हैं? क्या उनके मस्तिष्क में भी अल्फा तरंगें उत्पन्न हो सकती हैं? उत्पन्न की जा सकती हैं? उसने बिल्ली पर प्रयोग किए। बिल्ली को भूखा रखा और बिल्ली के शॉक दिए, झटके दिए। विद्युत् का प्रयोग किया। जैसे-जैसे बिजली का प्रयोग हुआ, बिल्ली शान्त होती गयी और उसके मस्तिष्क में अल्फा तरंगें उत्पन्न हो गयीं। अल्फा तरंगों के पैदा होते ही उसने बिल्ली को दूध और मिठाई दी। बिल्ली मिठाई खा गयी और दूध पी लिया। यह क्रम चलता रहा। प्रतिदिन अल्फा तरंगें पैदा होतीं और बिल्ली को दूध और मिठाई मिल जाती। कुछ दिनों के बाद बिल्ली इस बात को सीख गयी कि जब शान्त और स्थिर होती हूं तब मिठाई और दूध मिलता है। वह शान्त रहने लगी, ध्यान होने लगा। जब खाने की इच्छा होती तब वह बिलकुल शान्त होकर, आंखें बन्द कर खड़ी हो जाती। अल्फा तरंगें पैदा होतीं। उसे मिठाई और दूध मिल जाता। तो बिल्ली ध्यान करना सीख गयी। शान्त होना सीख गयी।

निष्कर्ष यह निकला कि शांत वृत्ति के द्वारा अपने मस्तिष्क में अल्फा तरंगें पैदा कर सकते हैं। यह बिजली का ही चमत्कार है। यह कोई आध्यात्मिक बात नहीं है। यह एक परिणाम है। जब हम शांत होंगे, शरीर शिथिल होगा, तनाव नहीं होगा, मौन होंगे, उस शांत स्थिति में अल्फा तरंगें उत्पन्न हो जाएंगी। हमारे शरीर की धापणिक विद्युत् और हमारे मस्तिष्क की धारावाहिक विद्युत्—ये दोनों विद्युत् निरन्तर चलती हैं और इतने प्रकार की क्रियाएं करती हैं कि हम आध्यात्मिक साधना में जाते-जाते बीच में ही बिजलियों के संसार में उलझ जाते हैं। उस स्थिति में हम मान बैठते हैं कि बहुत शांति प्राप्त हुई है। लोग पांच-दस दिन शिविर में रहते हैं। मैंने उनको कहते सुना है—'ओह, कितना आनन्द आ रहा है! कितनी शांति मिल रही है!' शिविर संपन्न कर जब वे घर जाते हैं, अपने व्यक्तियों के समूह में रहते हैं तब उन्हें क्रोध करते भी देखा, लड़ाई करते भी देखा, गालियां देते भी देखा। पता नहीं, उनकी अनुभूति शांति कहां चली गयी कहां गायब हो गयी। इस स्थिति में यह स्पष्ट होता है कि आनन्द की अनुभूति का भ्रम मात्र था, शांति की अनुभूति का भ्रम मात्र था। यह केवल सतही अनुभव था। हम उसने

सावधान रहे। यह ऊपर की बात है।

आप प्रवृत्ति करते है। आपको बहुत श्रम करना पडता है। शरीर थक जाता है। आप विश्राम करते है और उस थकावट की स्थिति मे गहरी नीद मे चले जाते है। घटा-दो घटा बाद जब आप उठते है तब महसूस होता है कि शरीर ताजा हो गया है, बहुत शाति मिली है। यह स्वाभाविक बात है। जब आदमी प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति के क्षणो मे जाता है, विश्राम के क्षणो मे जाता है, तो उसे शाति का अनुभव होता है। यह कोई मूल बात नही है। मूल बात है कि शाति जहा से उठनी चाहिए वहा से वह उठे। इसके लिए दूसरे प्रयत्न की जरूरत होती है, कुछ करने की जरूरत होती है। शाति की बात, विद्युत् की बात बहुत बडी बात है। शाति का अनुभव होता है, बदलने का अनुभव होता है, और भी विचित्र प्रकार के अनुभव होते है। यह सारा व्यर्थ नही है। मैं इसकी व्यर्थता नही बता रहा हू। इसका भी उपयोग है, मध्य मार्ग के रूप मे, मध्य विश्राम के रूप मे। किन्तु यह अन्तिम लक्ष्य है, अन्तिम मजिल है, साध्य है—इस भुलावे मे न रहे। हमारी दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिए।

लोग शक्तिपात की बात जानते हैं। यह शक्तिपात क्या है? यह बिजली का, विद्युत् का ही चमत्कार है। एक समर्थ व्यक्ति होता है जिसने अपनी ऊर्जा को विकसित कर लिया है, जिसने अपने विद्युत् को विकसित कर लिया है, वह दूसरे मे शक्तिपात कर सकता है। वह दूसरे व्यक्ति के सिर पर हाथ रखता है और अपनी ऊर्जा का, अपनी विद्युत् का, अपनी शक्ति का उसमे सक्रमण कर देता है।

हमारे पास देने के दो बडे साधन है—हाथ और पैर। सिर ग्रहण करने का, लेने का बडा साधन है। सिर सग्रह करता है। हाथ की अगुलिया और पैर देते हैं, मस्तिष्क ग्रहण करता है। पुरानी पद्धति है कि शिष्य जाता है और गुरु के चरणो मे माथा टिका देता है। वह विद्युत् लेना चाहता है। गुरु के चरण विद्युत् दे रहे है और यदि गुरु ने शिष्य के सिर पर हाथ रख दिया तो दोनो ओर से देने लग गए—हाथ से भी और पैर से भी। हाथ से भी विद्युत् प्रवाहित हो रही है शिष्य के मस्तिष्क मे और पैर से भी विद्युत् प्रवाहित हो रही है शिष्य के मस्तिष्क मे। दोनो ओर से विद्युत् की प्राप्ति हो रही है। सिर विद्युत्-ग्रहण का सबसे अच्छा साधन है। वह दोनो ओर से प्रवाहित विद्युत् को ग्रहण कर रहा है। हम आचार्यश्री को वदना करते है और उनके चरणो मे अपना सिर रखते हैं। आचार्यश्री अपना हाथ शिष्य के सिर पर रखते है। उधर पैर विद्युत् दे रहा है। इधर हाथ से विद्युत प्रवाहित हो रही है। सिर दोनो ओर से आने वाली विद्युत् को ग्रहण कर रहा है। इस विद्युत् मे चमत्कार है, सामर्थ्य है। इसका उपयोग है। इसे सर्वथा अनुपयोगी न माने। किन्तु यह शक्तिपात आध्यात्मिक उपलब्धि

नहीं होगी। इस बात को मूल में पकड़ें कि कषाय के क्षीण हुए बिना आध्यात्मिकता का विकास नहीं होगा, चेतना की निर्मलता प्राप्त नहीं होगी, वासनाएं क्षीण नहीं होंगी, विकार मिटेंगे नहीं और वृत्तियों में परिवर्तन नहीं होगा। जिसमें परिवर्तन आना चाहिए वह नहीं होगा। इनसे तो बीच की कुछ बातें हो सकती हैं, होती हैं।

हम साधना से पहले इस सत्य को समझें कि तैजस शरीर या विद्युत् शरीर की चकाचौंध में, उसमें चमत्कारों में उलझकर उसे अध्यात्मिक न मान बैठें। उसे साधना की उपलब्धि न मान बैठें। यह मानसिक साधना की उपलब्धि मात्र है। इसे राग-द्वेष की क्षीणता से या वीतरागता से आने वाली उपलब्धि न मानें।

हमें क्या बदलना है—इसे भी स्पष्ट रूप से दोहराते जाएं। 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए'— हमें सत्य को जानना है और अपने आपको बदलना है कि हमारा शत्रुता का भाव सर्वथा नष्ट हो जाए। हमारे मन में शत्रुता का भाव रहे ही नहीं। हम आदमी को शत्रु मान लेते हैं। अपना प्रमाद, अपना दोष दूसरे के सिर पर आरोपित कर लेते हैं कि उसने मेरा अनिष्ट किया है, उसने मेरा ऐसा कर दिया है। कोई भी आदमी यह देखने को तैयार नहीं है कि उसने भी कुछ किया है। सारा का सारा दोष हम दूसरों के सिर मढ देते हैं। 'पत्थर कितने ऊबड-खाबड हैं, मुझे ठोकर लग गयी।' अपनी गलती से, अपने प्रमाद से ठोकर लगी—इस बात को हम स्वीकार नहीं करेंगे, यही किन्तु कहेंगे कि पत्थर ठीक स्थान पर नहीं थे, इसीलिए ठोकर लगी। दरवाजा छोटा है, इसीलिए सिर में चोट लगी किन्तु मैंने दरवाजे को छोटा समझकर भी अपने को छोटा नहीं किया, सिकोडा नहीं इसलिए सिर में चोट लगी—ऐसा कोई नहीं सोचता। उसने मेरे साथ ऐसा किया, वैसा किया। उसने मेरे मित्र को बिगाड डाला। उसने उसे भ्रमित कर दिया। हम सारा दोषारोपण दूसरों पर करते हैं। दूसरों में दोष देखते हैं और दूसरों को दोषी मानकर अपने आपको बचा लेते हैं। परन्तु जिसने सत्य को खोजा है, जो सत्य का खोजी है, वह दूसरों पर आरोप नहीं लगाता। वह इस बात का अनुभव करता है कि उसका अपना ही प्रमाद बहुत सारी विकृतियां उत्पन्न कर रहा है। इसलिए वह इस प्रयत्न में रहेगा कि वह अप्रमत्त रह सके, जागृत रह सके, सतत जागरूक रह सके।

मैं समझता हूं कि शत्रुता का इतना ही अर्थ नहीं है कि दूसरे से द्वेष रहे और मित्रता का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे से प्रेम रहे। शत्रुता का अर्थ है—अपने कर्तव्य को भुलाकर दूसरे कर्तव्य में बुराइयां देखना। यह शत्रुता है एक प्रकार की। पत्थर के प्रति भी हमारी शत्रुता हो जाती है। हम पत्थर को भी गालियां देने लग जाते हैं। पूरा बर्तन पानी से भरा था। एक हाथ से उसे उठाया। वह

फूट गया। अब इस सचाई को नही खोजा कि पानी से भरा हुआ पात्र एक हाथ से उठाया जाएगा तो छूटेगा और फूटेगा। इसको हम नही सोचेंगे। हम कहेंगे—पात्र इतना कच्चा था कि नही फूटता तो और क्या होता ? यह परिणाम तो अवश्यभावी था। इस प्रकार अपने कर्तव्य को बचाने की जो बात है वह भी एक प्रकार से दूसरो के प्रति शत्रुता है। दूसरी वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव मित्रता का अर्थ केवल प्रेम ही नही है। प्रेम भी मित्रता है। किन्तु वास्तव मे मित्रता है—सबके अस्तित्व को स्वीकार करना, जो जैसा है उसे उसी रूप मे स्वीकार करना, किसी को किसी पर आरोपित न करना। यह है मित्रता। यह अनाशातना है। जैन साहित्य का महत्त्वपूर्ण शब्द है—आशातना। जीव की आशातना होती है, अजीव की आशातना होती है। मकान की आशातना होती है। कपडे की अशातना होती है। हर वस्तु की आशातना होती है। हमारा यह व्यापक दृष्टिकोण है कि हम सत्य को खोजें और सबके साथ मैत्री करें। अर्थात् जो जिसका जितना है उसे स्वीकार करे सहज भाव से और किसी पर कुछ आरोपित न करें। यह सचाई है। इसे हम पकडे। इस सचाई को पकडे विना कोई साधना नही कर सकता।

एक साधक है। वह दो घटा ध्यान करता है, मौन करता है और सारे दोष दूसरो मे देखता है तो मैं समझता हू कि वह आध्यात्म की साधना नही कर रहा है। वह यथार्थ मे ध्यान और मौन की साधना नही कर रहा है। उसकी दृष्टि दूसरो पर है। इससे उसने क्या पाया ? अपने भीतर मे उसने क्या खोजा ? अपने भीतर मे वह क्या बदला ? साधना से कुछ बदलाव होना चाहिए, पनिवर्तन होना चाहिए। पर परिवर्तन क्यो नही होता ?

इसका एक कारण तो यह है कि हमारा सारा शरीर प्रकपित है। हम बहुत वार अनुप्रेक्षा करते हैं, इस वात को दोहराते जाते है कि प्रकपनो को देखा, शरीर मे निरतर होने वाले प्रकपनो को देखो। हमारा शरीर, सिर से पैर तक, प्रकपनो का पुलिदा मात्र है। प्रकपन ही प्रकपन। यह अच्छा है कि हम देख नही पाते। सारा प्रकपित है, कुछ भी स्थिर नही है। कही कुछ ठोसता नही है। हड्डिया इतनी पोली है कि उनमे से कुछ का कुछ निकल जाता है।

गौतम ने महावीर से पूछा—भते ! वदलता कौन है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! जो अस्थिर है, वह वदलता है। जो स्थिर है, वह नही वदलता। वच्चे का सारा शरीर, सारे अवयव वदल जाते है, जव वह युवा होता है। हाथ वदल जाते हैं, पैर वदल जाते है, सव कुछ वदल जाता है। यह वदलाव क्यो हुआ ? यह परिवर्तन क्यो हुआ ? उत्तर है कि अस्थिर था। कपन था। कोरा कपन था, इसलिए वदल गया। कपन नही होता तो नही वदलता। सारा का सारा कपन था। वीमारी क्यो हुई ? कपन था, इसलिए हुई। कपन नही

होता तो बीमारी नही होती। स्थिर वस्तु मे कभी कोई बीमारी नहीं हो सकती। अस्थिर मे ही बीमारी होती है, कपनो मे ही बीमारी होती है, क्योकि कपनो मे बदलने की क्षमता होती है। वे बदल जाते है, बदल सकते है और जो बदलते हैं वे अच्छे भी हो जाते है, बुरे भी हो जाते हैं। सुहावने भी हो जाते है और भद्दे भी हो जाते हैं। मीठे भी हो जाते है और कडवे भी हो जाते हैं। जो बदलते है, उनमे ये सारी की सारी बातें घटित होती रहती है।

हमारा सारा शरीर प्रकपनो का पुलिदा है। जो भी हमे दिखाई दे रहा है या दिखाई नही दे रहा है वह सारा प्रकपन है। मैं बोल रहा हू। बोलने के साथ साथ शब्द की तरगें इतनी तेजी से जा रही है कि मानो दसो साप एक साथ जा रहे हो। किन्तु हम उन तरगो को इन आखो से, बिना माध्यम के, देख नही पा रहे हैं। हम बगलोर मे डॉ० विश्वेश्वरैया साइन्स इन्स्टीट्यूट मे गए। एक यत्र के सामने खडे होकर हमने कुछ शब्द कहे। उस यत्र पर शब्द की तरगे इतनी तेजी से दौडती हुई दिखी कि मानो पचासो सर्प दौड रहे हो। सारा प्रकपन ही प्रकपन है। हमारा शरीर प्रकपनमय है—इस सचाई को ठीक से समझें। हमारा जितना परिणामन होता है, परिवर्तन होता है, बदलाव होता है, वह सारा का सारा प्रकपनो के द्वारा ही होता है।

हम इस सचाई को भी हृदयगम कर लें कि प्रकपनो को बदला जा सकता है। यानी प्रतिरोधी प्रकपन पैदा किए जा सकते है। जैसे एक प्रकार का प्रकपन है विचार की तरगें। एक प्रकार का विचार चल रहा है, प्रकपन चल रहा है, उसकी तरगे चल रही है। हम भावना करते है। विरोधी तरगें पैदा करते हैं। पहली तरगो के साथ उनकी टक्कर होती है, सघर्ष होता है और ये तरगें इतनी शक्तिशाली होती है कि पहली तरगो को समाप्त कर देती है। यह सारा हम प्रकपनो के लिए करते है।

'इस सरीर अणिच्च'—यह शरीर अनित्य है, इसे मैं दोहराए जा रहा हू। लोग पूछते हैं इससे क्या होगा? हम भी इसे दस-बीस मिनट दोहराए, पर इससे होगा क्या? इसे आप अभी नही समझ सकेंगे। अभी तो आप इसे निष्ठा से करें। यह सकल्प करे कि इसे करना ही है और ऐसा करना अच्छा है, हितकर है, कल्याणकर है। ऐसा करने से क्या होगा, यह बात धीरे-धीरे समझ मे आ जाएगी। आप पहले से मान बैठे है कि शरीर स्थिर है, नित्य है, यह सस्कार जो बन गया है, उसके अपने प्रकपन और तरगें हैं। उसको तोडने के लिए विरोधी तरगें अपेक्षित है। आप 'इस सरीर अणिच्च' को दोहराते है। दस-बीस मिनट दोहराते जाते है। इससे वाचिक प्रकपन पैदा होते है। साथ-साथ आप भावना करते है। भावना के प्रकपन उत्पन्न होते हैं। जैसे-जैसे 'इस सरीर अणिच्च' की ध्वनि और भावना शक्तिशाली होती जाएगी और इनकी तरगे प्रबल होगी तो पूर्वगत सस्कार

वहा कोई पहुचे। यदि हम केवल स्थूल तक ही रह जाएगे तो वह प्राप्त नही होगा। इसलिए हम इस साधना के माध्यम से स्थूल शरीर, स्थूल चेतना का अतिक्रमण कर सूक्ष्म चेतना, सूक्ष्म शरीर तक पहुचने का प्रयास करे। वहा वह प्राप्त हो जाएगा जो हम प्राप्त करना चाहते है।

१३

अध्यात्म के रहस्यों की खोज

म किसी व्यक्ति के साथ बीस वर्ष जी लेते हैं, पर उसे पहचान नही पाते। दूर व्यक्ति को पहचानना कुछ आसान होता है, किन्तु जिस व्यक्ति के पास रहते हैं, स व्यक्ति का पता लगाना, उसे जान पाना बहुत कठिन होता है।

अध्यात्म का विषय इतना निकट, इतना अभिन्न है, इसीलिए यह रहस्य बना आ है। किन्तु इस रहस्य का उद्घाटन किए बिना हमारी कोई गति भी नही है। आज तक दुनिया मे जितना विकास हुआ है वह रहस्यो के उद्घाटन के द्वारा ही आ है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे भौतिक वैज्ञानिको ने रहस्यो का उद्घाटन कया और आज वे अणु-विस्फोट की भूमिका तक पहुच गए। मानसिक जगत् मे नोवैज्ञानिको ने बहुत सारे रहस्यो का उद्घाटन किया और वे अवचेतन मन की मिका तक पहुच गए। अन्य किसी भी क्षेत्र म जब रहस्यो का उद्घाटन हुआ ब शक्ति का स्रोत उनके हाथो मे आ गया। बिना रहस्यो का उद्घाटन किए क्ति का स्रोत उपलब्ध नही होता। और शक्ति का स्रोत उपलब्ध किए बिना सार का विकास हो नही सकता। आज का सारा विकास भौतिक, जगत् का ारा विकास बिजली और ईंधनो पर निर्भर है। पेट्रोल की एक समस्या उत्पन्न ती है और सारे राष्ट्र डगमगा जाते हैं, चिन्तामग्न हो जाते हैं। उनके सारे क्ति स्रोत सूखने लग जाते हैं। आप कल्पना करें कि यदि आज विश्व मे पेट्रोल हो, बिजली न हो, आणविक ईंधन न हो तो क्या यह विकास टिक सकता है? भी सभव नही है। यह सब कुछ बिजली के आधार पर चल रहा है। हम इस त को न भूले कि हमारी शक्ति के विकास का एक स्रोत बिजली है। जैसे तिक का सारा विकास बिजली पर निर्भर है, वैसे ही अध्यात्मशक्ति का कास बिजली पर निर्भर है। यह अध्यात्म का रहस्य है।

हमारा शरीर विद्युत् का शरीर है। मुझे इसकी बहुत चर्चा करने की जरूरत ही होगी। जैन दर्शन को जानने वाला भली-भांति जानता है कि हमारी सारी

अभिव्यक्तिया तैजस शरीर के माध्यम से होती है। यदि तैजस शरीर न हो तो शरीर का सचालन नही हो सकता। कोई बोल नही सकता, कोई अगुली भी नही हिला सकता, कोई श्वास नही ले सकता, कोई खा नही सकता, कोई खाने को पचा नही सकता। हमारी सारी ऊर्जा, सारी शक्ति जो प्रकट होती है, वह तैजस शरीर के द्वारा ही होती है। यह सारा विद्युत् मण्डल, यह विद्युत् का शरीर, यह तैजस शरीर—यह एक द्वार बनता है शक्ति के अवतरण का और अध्यात्म के निकट तक पहुचने का। तैजस शरीर के द्वारा हम ऐसी शक्तिया उपलब्ध करते है जो वर्तमान विश्व के लिए भी आश्चर्यकारक हो सकती है। इन्ही शक्तियो को प्राचीन साहित्य मे 'लब्धि' कहा गया है। इन्हे 'योगजविभूति' भी कहा गया है। ये लब्धिया, ऋद्धिया, योगजविभूतिया तैजस शरीर के माध्यम से प्राप्त होती है।

जैन आगम प्रज्ञापना मे दो प्रकार के मनुष्यो का वर्णन प्राप्त है—ऋद्धि प्राप्त मनुष्य और अऋद्धि प्राप्त मनुष्य। जिस मनुष्य को ऋद्धिया प्राप्त है, विशेष शक्तिया उपलब्ध हैं, वह ऋद्धि-प्राप्त मनुष्य है। उसकी शक्तिया सचमुच विस्मयकारी होती है।

अध्यात्म की चर्चा करते समय मुझे एक भेदरेखा खीचनी होगी कि हम किसे बाह्य मानें और किसे अध्यात्म। प्राचीन आचार्यों ने एक भेद रेखा खीची है। भगवान् महावीर ने कहा—'अध्यात्म को जानने वाला बाह्य को जानता है और बाह्य को जानने वाला अध्यात्म को जानता है। इसका तात्पर्य है कि हमारे सामने दो स्थितिया स्पष्ट है—एक है बाह्य जगत् की और एक है अध्यात्म जगत् की। एक है हमारे बाहर का ससार और एक है हमारे भीतर का ससार। बाहर के ससार का नाम है समाज और भीतर के ससार का नाम है व्यक्ति। व्यक्ति और समाज—ये दो हमारे जीवन के पहलू है। हम जब-जब बाह्य जगत् मे जुडते है, इसका तात्पर्य है कि हम दूसरे से जुडते है। जहा दूसरे के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित होता है, वहा समाज बनता है। व्यक्ति समाज बन जाता है। जहा हम अकेले रहे, किसी के साथ हम जुडे नही, अकेलापन हमारा सुरक्षित रहा, वहा हम व्यक्ति ही रहे, समाज नही बने। हम समाज का जीवन भी जीते है और व्यक्ति का जीवन भी जीते है। व्यक्ति के जीवन मे घटित होने वाली घटनाए भिन्न प्रकार की होती है।

हम दोनो प्रकार का जीवन जीते हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। हमारा जीवन दोनो आयामो वाला जीवन है। हमारा वैयक्तिक जीवन आध्यात्मिक जीवन है, आन्तरिक जीवन है और सामाजिक जीवन बाहरी जीवन है। यह बाह्य दुनिया मे होने वाला जीवन है। हम दोनो प्रकार के जीवन जीते है और दोनो के रहस्यो की खोज करते हैं। हम बाह्य जगत् (सामाजिक जीवन) की जो

घटनाएं हैं उनकी व्याख्या करते हैं और आन्तरिक जगत् (व्यक्तिगत जीवन) की जो घटनाएं हैं उनकी भी व्याख्या करते हैं।

अन्तर्जगत् चेतना का जगत् है, केवल चेतना का जगत् है। यहां केवल चेतना होती है, और कुछ नहीं होता। उसे हम आनन्द कहें, शक्ति कहें, ज्ञान कहें, कुछ भी कहें, यहां केवल चेतना है। उस चेतना में जो कुछ है वह आनन्द भी है, शक्ति भी है, ज्ञान भी है। यह सारी चेतना है, और कुछ नहीं है।

बाहर का जगत् नाना प्रकार का जगत् है। यहां अनेक द्रव्य हैं, पदार्थ हैं, अणु-परमाणुओं का संघटन है। भीतर केवल चेतना है। उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

एक है चेतना जगत् और एक है पदार्थ का जगत्। जब हम चेतना के जगत् की ओर चलते हैं, वहां जो भी निर्णय प्राप्त करते हैं, जहां पहुंचते हैं, वह है हमारा अध्यात्म। चेतना से हटकर, दूसरों के साथ जुड़कर, हम जो कुछ करते हैं वह है हमारा भौतिक जगत्, वस्तु जगत्।

रहस्य की खोज के लिए हमें कुछ गहराई में उतरना पड़ता है। कई बार ऐसा होता है कि निमित्त बनता है और रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि निमित्त नहीं बनता, अनायास ही अतल गहराई में डुबकी लगाने का मौका मिलता है और रहस्य का उद्घाटन हो जाता है।

आप लोगों ने रहस्य के उद्घाटन का सिद्धान्त जाना है और अनेक घटनाएं भी सुनी हैं।

एक व्यक्ति पहाड़ के पास बैठा था। झरना बह रहा था। एक हिरनी आयी। उसने लम्बे समय तक अपनी एक टांग को पानी में डुबोए रखा। दूसरे दिन भी आयी। तीसरे और चौथे दिन भी आयी। चार दिन तक वह लंगड़ाते-लंगड़ाते आयी और पांचवें दिन वह ठीक ढंग से चलने लगी। उस व्यक्ति ने सोचा—यह रोज क्यों आती थी? उसने पता लगाया। हिरनी के पैर को देखा। उसका पैर जख्मी था। हड्डी टूट-सी गयी थी। दो-चार दिन के पानी के उपचार से वह पैर ठीक हो गया। व्यक्ति ने उस उपचार को पकड़ा। प्राकृतिक चिकित्सा का प्रारम्भ हो गया। जल के उपचार, मिट्टी के उपचार का प्रारंभ हो गया।

एक व्यक्ति बैठा था। उसने देखा, बच्चा सो रहा है। उसका श्वास फूल रहा है। श्वास तेजी से आ रहा है, पेट फूल रहा है और सिकुड़ रहा है। वह सां-सां-सां की आवाज ध्वनि भी कर रहा है। व्यक्ति ने ध्यान दिया। सोचा, इस ध्वनि के साथ कुछ हो रहा है। उसने प्रयोग किया। ध्वनि-चिकित्सा का विकास हो गया। व्यक्ति ने ध्वनि-चिकित्सा का विकास किया शब्दों के उच्चारण के द्वारा। उन पद्धतियों से बीमारियों को मिटाया जाता।

एक आदमी के सिर में भयंकर दर्द रहता था। वह वैद्यों के पास गया।

अभिव्यक्तिया तैजस शरीर के माध्यम से होती है। यदि तैजस शरीर न हो तो शरीर का सचालन नही हो सकता। कोई बोल नही सकता, कोई अगुली भी नही हिला सकता, कोई श्वास नही ले सकता, कोई खा नही सकता, कोई खाने को पचा नही सकता। हमारी सारी ऊर्जा, सारी शक्ति जो प्रकट होती है, वह तैजस शरीर के द्वारा ही होती है। यह सारा विद्युत् मण्डल, यह विद्युत् का शरीर, यह तैजस शरीर—यह एक द्वार बनता है शक्ति के अवतरण का और अध्यात्म के निकट तक पहुचने का। तैजस शरीर के द्वारा हम ऐसी शक्तिया उपलब्ध करते हैं जो वर्तमान विश्व के लिए भी आश्चर्यकारक हो सकती है। इन्ही शक्तियो को प्राचीन साहित्य मे 'लब्धि' कहा गया है। इन्हे 'योगजविभूति' भी कहा गया है। ये लब्धिया, ऋद्धिया, योगजविभूतिया तैजस शरीर के माध्यम मे प्राप्त होती है।

जैन आगम प्रज्ञापना मे दो प्रकार के मनुष्यो का वर्णन प्राप्त है—ऋद्धि प्राप्त मनुष्य और अऋद्धि प्राप्त मनुष्य। जिस मनुष्य को ऋद्धिया प्राप्त है, विशेष शक्तिया उपलब्ध हैं, वह ऋद्धि-प्राप्त मनुष्य है। उसकी शक्तिया सचमुच विस्मयकारी होती हैं।

अध्यात्म की चर्चा करते समय मुझे एक भेदरेखा खीचनी होगी कि हम किसे बाह्य मानें और किसे अध्यात्म। प्राचीन आचार्यो ने एक भेद रेखा खीची है। भगवान् महावीर ने कहा—'अध्यात्म को जानने वाला बाह्य को जानता है और बाह्य को जानने वाला अध्यात्म को जानता है। इसका तात्पर्य है कि हमारे सामने दो स्थितिया स्पष्ट हैं—एक है बाह्य जगत् की और एक है अध्यात्म जगत् की। एक है हमारे बाहर का ससार और एक है हमारे भीतर का ससार। बाहर के ससार का नाम है समाज और भीतर के ससार का नाम है व्यक्ति। व्यक्ति और समाज—ये दो हमारे जीवन के पहलू है। हम जब-जब बाह्य जगत् से जुडते हैं, इसका तात्पर्य है कि हम दूसरे से जुडते है। जहा दूसरे के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित होता है, वहा समाज बनता है। व्यक्ति समाज बन जाता है। जहा हम अकेले रहे, किसी के साथ हम जुडे नही, अकेलापन हमारा सुरक्षित रहा, वहा हम व्यक्ति ही रहे, समाज नही बने। हम समाज का जीवन भी जीते है और व्यक्ति का जीवन भी जीते है। व्यक्ति के जीवन मे घटित होने वाली घटनाए भिन्न प्रकार की होती है।

हम दोनो प्रकार का जीवन जीते हैं—वयक्तिक और सामाजिक। हमारा जीवन दोनो आयामो वाला जीवन है। हमारा वैयक्तिक जीवन आध्यात्मिक जीवन है, आन्तरिक जीवन है और सामाजिक जीवन बाहरी जीवन है। यह बाह्य दुनिया मे होने वाला जीवन है। हम दोनो प्रकार के जीवन जीते है और दोनो के रहस्यो की खोज करते है। हम बाह्य जगत् (सामाजिक जीवन) की जो

घटनाए है उनकी व्याख्या करते है और आन्तरिक जगत् (व्यक्तिगत जीवन) की जो घटनाए है उनकी भी व्याख्या करते है।

अन्तर्जगत् चेतना का जगत् है, केवल चेतना का जगत् है। यहा केवल चेतना होती है, और कुछ नही होता। इसे हम आनन्द कहे, शक्ति कहें, ज्ञान कहें, कुछ भी कहें, यहा केवल चेतना है। उस चेतना मे जो कुछ है वह आनन्द भी है, शक्ति भी है, ज्ञान भी है। यह सारी चेतना है, और कुछ नही है।

बाहर का जगत् नाना प्रकार का जगत् है। यहा अनेक द्रव्य हैं, पदार्थ हैं, अणु-परमाणुओं का सघटन है। भीतर केवल चेतना है। उसके अतिरिक्त कुछ भी नही है।

एक है चेतना जगत् और एक है पदार्थ का जगत्। जब हम चेतना के जगत् की ओर बढते है, वहा जो भी निर्णय प्राप्त करते है, जहा पहुचते है, वह है हमारा अध्यात्म। चेतना से हटकर, दूसरे के साथ जुडकर, हम जो कुछ करते है वह है हमारा भौतिक जगत्, वस्तु जगत्।

रहस्य की खोज के लिए हमे कुछ गहराई मे उतरना पडता है। कई बार ऐसा होता है कि निमित्त बनता है और रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि निमित्त नही बनता, अनायास ही अतल गहराई मे डुबकी लगाने का मौका मिलता है और रहस्य का उद्घाटन हो जाता है।

आप लोगों ने रहस्य के उद्घाटन का सिद्धान्त जाना है और अनेक घटनाए भी सुनी हैं।

एक व्यक्ति पहाड के पास बैठा था। झरना बह रहा था। एक हिरनी आयी। उसने लम्बे समय तक अपनी एक टाग को पानी मे डुबोए रखा। दूसरे दिन भी आयी। तीसरे और चौथे दिन भी आयी। चार दिन तक वह लगडाते-लगडाते आयी और पाचवे दिन वह ठीक ढग से चलने लगी। उस व्यक्ति ने सोचा — यह रोज क्यो आती रही ? उसने पता लगाया। हिरनी के पैर को देखा। उसका पैर जख्मी था। हड्डी टूट-सी गयी थी। दो-चार दिन के पानी के उपचार से वह पैर ठीक हो गया। व्यक्ति ने उस उपचार को पकडा। प्राकृतिक चिकित्सा का प्रारम्भ हो गया। जल के उपचार, मिट्टी के उपचार का प्रारभ हो गया।

एक व्यक्ति बैठा था। उसने देखा, बच्चा सो रहा है। उसका श्वास फूल रहा है। श्वास गहरा आ रहा है, पेट फूल रहा है और सिकुड रहा है। वह नाना-प्रकार की अव्यक्त ध्वनि भी कर रहा है। व्यक्ति ने ध्यान दिया। सोचा, इस ध्वनि के साथ कुछ हो रहा है। उसने प्रयोग किया। ध्वनि-चिकित्सा का विकास हो गया। व्यक्ति ने ध्वनि-चिकित्सा का विकास किया शब्दो के उच्चारण के द्वारा। इस पद्धति से बीमारियो को मिटाना जाना।

एक आदमी के सिर मे भयकर दर्द रहता था। वह वैद्यो के पास गया।

डाक्टरो के पास गया। काफी चिकित्सा कराई। पर सब व्यर्थ। वह जीवन से घबरा गया। उसका जीना दूभर हो गया। एक वार किसी व्यक्ति के साथ उसकी लडाई हुई। प्रतिपक्षी ने गुस्से मे आकर तीर फेंका। जैसे ही वह तीर पैर मे चुभा, सिर का दर्द तत्काल मिट गया। वह आश्चर्य मे पड गया। उसने सोचा—इतने उपचार भी मेरे सिर-दर्द को नही मिटा पाए और आज एक तीर लगते ही वह मिट गया, मानो कि वह कभी हुआ ही न हो। वह रहस्य को समझ नही सका। वह वैद्यो के पास गया। अपनी राम कहानी सुनाई। सभी अचभे मे पडे रहे। वैसा ही प्रयोग प्रारभ किया। दूसरे आदमी के सिर मे दर्द आया, उसे तीर चुभोया और वह ठीक हो गया। तीसरे, चौथे, पाचवें व्यक्ति पर भी प्रयोग किया और सिर-दर्द गायब हो गया। यह तथ्य स्थापित हो गया कि सिर-दर्द होने पर पैर के अमुक स्थान मे तीर चुभाने से दर्द मिट जाता है। एक्यूपक्चर की चिकित्सा-पद्धति की यही कहानी है।

हमारा शरीर विद्युत् का शरीर है। इसमे बिजली की प्रधानता है। हम मानें या न मानें, यह बहुत ही स्पष्ट है कि बिजली के असन्तुलन के कारण हमारे शरीर मे अनेक बीमारिया हो जाती हैं। तैजस शरीर के अस्त-व्यस्त होने पर शरीर मे विकृतिया उत्पन्न होती है। यदि हम तैजस शरीर की समुचित व्यवस्था कर लें, बिजली का उचित सतुलन स्थापित कर लें और समीकरण कर लें, तो अनेक चीजो को हम स्वय समाप्त कर सकते हैं। अनेक स्थितिया स्वय समाहित हो सकती है।

यह सारी चर्चा मैं इसलिए कर रहा हू कि रहस्यो की खोज किए बिना, रहस्यो का उद्घाटन किए बिना, दुनिया मे विकास नही हो सकता और शक्तिया उपलब्ध नही हो सकती। प्राचीन आचार्यो ने अनेक रहस्य खोजे। आज हम सिद्धान्तो को तो समझते हैं, पर वे रहस्य याद नही रह पाए। उनकी विस्मृति हो गयी। विस्मृति के कारण उन रहस्यो की हम ठीक से व्याख्या नही कर सकते और उन सबका प्रयोग नही कर सकते।

इस प्रसग मे मैं एक घटना की चर्चा करूगा। अभी-अभी मैंने एक बात पढी थी कि उत्तर की ओर सिर कर नही सोना चाहिए अर्थात् दक्षिण की ओर पैर कर नही सोना चाहिए। यह बात हमारे यहा प्रचलित भी है। कुछ इसे अध-विश्वास भी मानते है। वे कहते है—सोते समय पैर चाहे दक्षिण मे हो, उत्तर मे हो, पश्चिम मे हो, पूर्व मे हो, क्या फर्क पडता है? कही तो सिर करना ही होगा! कही तो पैर करने ही होंगे! किन्तु आज प्रत्येक चीज की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। विज्ञान रहस्यो के उद्घाटन के पीछे इस प्रकार पडा

अभी-अभी उसकी वैज्ञानिक व्याख्या पढ़ी तो आश्चर्य हुआ।

हमारे शरीर मे दो प्रकार के विद्युत् है—एक है पोजिटिव और एक है नेगेटिव। एक है धन विद्युत् और एक है ऋण विद्युत्। शरीर का ऊपर का जो भाग है—आख, कान, नाक, सिर, मुह—इन सब मे धन विद्युत् है। नीचे का जो भाग है—पैर, जाघ आदि—इन सब मे ऋण विद्युत् है। व्यक्ति ब्रह्माण्ड से, जगत् से भिन्न नही होता। जब इससे सम्बन्ध जुड़ता है तब व्यक्ति समाज बन जाता है। हम ऐसे जगत् मे जीते हैं जहा वातावरण का प्रभाव होता है, परिस्थिति का प्रभाव होता है। हम इन सबसे प्रभावित होते हैं।

विश्व मे दो ध्रुव माने जाते हैं। एक उत्तरी ध्रुव और दूसरा है दक्षिणी ध्रुव। जो उत्तरी ध्रुव है उसमे बिजली का अटूट भण्डार है। वहा इतनी बिजली है कि जहा जाने पर ऐसा लगता है कि मानो सैकडो सूर्य उग आए हो। बहुत चकाचौंध है। पता ही नही लगता कि कही अन्धकार है। दक्षिणी ध्रुव मे भी इतनी ही विद्युत् है। उत्तरी ध्रुव मे धन-विद्युत् है और दक्षिणी ध्रुव मे ऋण-विद्युत्। जब आदमी उत्तर की ओर सिर करके सोता है तब उसके पैर दक्षिण की ओर होते हैं। दक्षिण से जो विद्युत् का प्रवाह आता है वह ऋणात्मक होता है और मनुष्य के पैर की विद्युत् भी ऋणात्मक होती है। जहा दो ऋणात्मक विद्युत् परस्पर मिलती है, वहा प्रतिरोध होता है, टक्कर होती है। इसी प्रकार जब धन-विद्युत् मे धन-विद्युत् मिलती है तब प्रतिरोध होता है। वे एक-दूसरे को सहारा नही देती, किन्तु एक-दूसरे को हटाने का प्रयास करती है। इसलिए जो व्यक्ति दक्षिण की ओर पैर करके सोता है, उसकी ऋण-विद्युत् दक्षिणी ध्रुव से आने वाली ऋण विद्युत् से टकराती है। उस स्थिति मे व्यक्ति के मन मे चिन्ता उत्पन्न होती है, बुरे-बुरे स्वप्न आते है और शरीर मे बीमारिया तथा विकृतिया उत्पन्न होती है। इसीलिए वैज्ञानिको ने यह प्रतिपादन किया कि दक्षिण की ओर पैर कर नही सोना चाहिए। इससे शारीरिक और मानसिक, दोनो प्रकार की बीमारिया होती है।

हम इस बात को न भूलें कि रहस्यो का उद्घाटन करने पर जो बात हमारी समझ मे सही दृष्टि से आती है और जिस पर हमारा सही विश्वास उत्पन्न होता है, वह मान्यता मात्र से नही होता।

अब मैं आपके समक्ष अध्यात्म के रहस्यो की भी इस सदर्भ मे थोड़ी सी चर्चा करना चाहता हू।

धर्म का मूल सूत्र है—पाप मत करो, पाप से बचो। पर कैसे बचा जा सकता है यह प्रश्न है। कितना चचल है मन। कितना चचल है शरीर। कितनी चचल है वाणी। इनसे कुछ न कुछ हो ही जाता है। हम पापो से बचें, यह सवाल है। इससे बचने का ? अध्यात्म के रहस्य का उद्घाटन किए बिना यह समझ मे नही

आ सकता। यह प्रश्न समाहित नही हो सकता। वह यह मान ही नही सकता कि पापो से आदमी वच सकता है और उस दुनिया मे रहकर आदमी पापो से वच सकता है जहा पाप करने के लिए हजारो प्रेरणाए निरन्तर प्राप्त होती रहती हैं। ऐसी स्थिति मे पापो से कैसे वचा जा सकता है?

भगवान् महावीर ने इसका उपाय वताते हुए कहा—एक कछुआ है। जव कोई कठिन स्थिति पैदा होनी है, पक्षी उसे नोचने आते है, सियार आदि उसे खाने आते है, कोई असुरक्षा उत्पन्न हो जाती है, भय उत्पन्न होता है, तब तत्काल वह अपनी खाल मे चला जाता है। प्रकृति ने उसे ऐसी खाल भी दी है जो उसके लिए ढाल का काम करती है। प्राचीन काल मे जब तलवारो और भालो से युद्ध होता था, तव योद्धा अपने हाथो में ढाल रखते थे। वह भी कछुए की खाल से ही वनती थी। कछुआ अपनी खाल के भीतर जाने के बाद सव प्रकार से सुरक्षित वन जाता था। क्या हमारे पास भी ऐसी कोई ढाल है जिसमें पहुचकर हम पापो से वच सके? हमारे मन में वासना उभरती है। हमारे ऊपर वासना का आक्रमण होता है, क्रोध का आक्रमण होता है, आवेश का आक्रमण होता है। क्या कोई उपाय है इन आक्रमणो से वचने का? हा, है उपाय। भगवान् ने कहा—'जैसे कछुआ वाहरी आक्रमण से वचने के लिए अपनी ढाल मे चला जाता है, वैसे ही तुम अध्यात्म में चले जाओ। वच जाओगे सभी आक्रमणो से। अध्यात्म मे चले जाओ, चेतना के पास चले जाओ, भीतर चले जाओ, अन्दर प्रवेश कर लो, सुरक्षित हो जाओगे। जव तक मन वाहर भटकता है तव तक वासनाए उभरती हैं, आवेश उभरते हैं। और जो स्थितिया चिंता, भय और दुख उत्पन्न करने वाली है वे सारी उभरती हैं, उभर सकती हैं। तुम भीतर चले जाओ, चेतना के जगत् में चले जाओ, चेतना का नैकट्य प्राप्त कर लो, सुरक्षित हो जाओगे, पूर्ण सुरक्षित। कोई खतरा नही, कोई भय नही। यह एक ज्वलत शक्ति है। इसका अनुभव किया जा सकता है।

एक वात वह होती है जो माननी पडती है और एक वात वह होती है जो माननी नही पडती, किन्तु जिसकी अनुभूति की जा सकती है। अध्यात्म की वात मानने की वात नही है। यह अनुभूति मे लाने की वात है। यदि आप चाहे तो आज भी ऐसी स्थिति का निर्माण कर सकते है और आज रात को सोने से पहले-पहले उसका अनुभव कर सकते हैं। जैसे ही मन में कोई विचार आया, विकल्प आया, बुरा चिन्तन उभरा, आप तत्काल अपने भीतर चले जाए, मन को भीतर ले जाए। ऐसा लगेगा कि आप दूसरी दुनिया में पहुच गए है और सारे विचार, सारे विकल्प और सारे चिन्तन वाहर रह गए है। अव इनका आक्रमण आप पर नहीं हो सकता। यही है प्रेक्षा ध्यान। इसका अर्थ है—अपने आपको देखने लग जाना। जिस क्षण मे आप अपने आपको देखने लग जाते हैं, चेतना के क्षेत्र मे चले

जाते हैं, फिर आप आक्रमण से मुक्त हो जाते हैं। किसी का आक्रमण हो नहीं सकता।

अध्यात्म के द्वारा हम उनसे बच सकते हैं। हम उसी अध्यात्म की चर्चा कर रहे हैं जो अध्यात्म हमें उन सारे बाहरी आक्रमणों से बचा सकता है और उन सारे प्रभावों से अप्रभावित रख सकता है। आज हम उस अध्यात्म से थोड़ा दूर भटक गए हैं। आज बताने वाले नहीं रहे। अध्यात्म के रहस्य भी आज अज्ञात बन गए हैं। इसका कारण क्या बना? यही तो बना—

एक आदमी चलता है। पैर से दबकर जीव मर जाता है। हम कहते हैं—हिंसा हो गयी। उसने जीव को मार डाला, हिंसा हो गयी। यह हमारा निर्णय हुआ। यह व्यवहार का निर्णय है, बाहरी दुनिया का निर्णय है। भगवान् महावीर ने या किसी मनस्वी आचार्य ने यह तो नहीं माना। उन्होंने तो यही कहा—बंध होता है अध्यवसाय से। एक होता है अध्यवसाय और एक होती है घटना। दोनों दो बातें हैं। अध्यवसाय अन्तर्जगत् का निर्णय है और घटना बाह्य जगत् में घटित होती है। आचार्य भिक्षु ने यह कहा था कि मारने वाला हिंसक होता है। जो मारता है अर्थात् जिसका मारने का अध्यवसाय है वह हिंसक है। जीव जीता है या मरता है, इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जीता है तो कोई दया नहीं होती और मरता है तो कोई हिंसा नहीं होती। जीव मरता है या नहीं मरता, यह गौण बात है, दूसरी बात है। मारने का जो संकल्प है, अध्यवसाय है, परिणाम है—यह मुख्य बात है। हिंसा है मारने का अध्यवसाय न कि किसी का मर जाना। अध्यात्म के जगत् में पहुंचकर जब हम रहस्यों को देखते हैं तब हमारी सारी साधना पद्धति बदल जाती है। फिर हम घटना को मुख्य मानकर व्यवहार नहीं चलाते किन्तु अन्तर को मुख्य मानकर व्यवहार चलाते हैं।

एक है सामाजिक जीवन। सामाजिक जीवन के निर्णय व्यवहार के आधार पर होते हैं और व्यवहार के आधार पर ही व्यक्ति जीवन चलाता है।

एक है व्यक्ति का जीवन। इसमें निर्णय का सारा आधार होता है आन्तरिक जीवन। इसलिए यह कहा गया कि दिन हो या रात, कोई देख रहा हो या न देख रहा हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। जिस स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता वह आन्तरिक स्थिति होती है। अन्तर आता है व्यवहार में, समाज में। व्यवहार का पालन करने वाला, आचरण करने से पहले देखता कि प्रकाश है या अंधकार, कोई देख रहा है या नहीं देख रहा है। इस आधार पर उसका आचरण होता रहता, बदलता रहता है।

स्वप्न क्यों आता है? हम नींद में स्वप्न क्यों देखते हैं? मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि हमारे मन की जो दमित वासनाएं होती हैं, उनको प्रकट होने का अवसर नहीं मिलता तब वे स्वप्न में प्रकट होती हैं और इसलिए हम स्वप्न

आते है। किसी सीमा तक यह सचाई है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सोते समय जो बात मन मे रह जाती है, सपने मे वही दृश्य हमे दिखाई देता है। यह बहुत बडी सचाई है अध्यात्म की। क्रोध आता है। वहा तक पहुचकर आप स्थिति को समाप्त करें। उसे दबाए नही। उस पर नियन्त्रण न करें। व्यवहार की बात तो ठीक है। मैं आपको व्यवहार से सर्वथा मुक्त होने की बात नही कहता। हमारी नियन्त्रण की शक्ति है, हमारा विवेक है। हम बाह्य जगत् मे जीते हैं इसलिए व्यवहार को भी मानकर चलते है। कुछ नियन्त्रण भी होता है, दमन भी होता है, दबाव भी होता है किन्तु अध्यात्म की चर्चा करते समय यह कहने मे कोई सकोच नही होना चाहिए कि यह मात्र व्यवहार की बात है, यह कोई अध्यात्म की बात नही। अध्यात्म की बात तो यह है कि हम मूल तक पहुच जाए।

सारी समस्याओ का मूल है—राग और द्वेष। प्रचलित भाषा मे कहा जा सकता है—हिंसा। चाहे परिग्रह का प्रश्न है, चाहे अब्रह्मचर्य का प्रश्न है, चाहे चोरी का प्रश्न है, चाहे झूठ बोलने का प्रश्न है—इन सबको हमारे आचार्यों ने हिंसा माना है। इसे उलटकर देखें तो अहिंसा से भिन्न कोई महाव्रत नही है। दो शब्दो मे सब कुछ आ गया—हिंसा और अहिंसा। अहिंसा क्या है ? राग आदि को उत्पन्न न करना अहिंसा है। आप अहिंसा की बात को. अहिंसा की घटना को हिंसा के साथ मत देखिए। घटना को मिटाने का प्रयत्न भी मत करिए। उस क्षण को देखें जिस क्षण मे राग उत्पन्न हो रहा है। जिस क्षण मे राग उत्पन्न हो रहा है वही क्षण वास्तव मे जागृत रहने का क्षण है।

प्रेक्षा ध्यान का सूत्र है—अप्रमाद। प्रेक्षा ध्यान का सूत्र है—जागरूकता। किसके प्रति जागरूकता ? अतीत के प्रति जागरूक रहने की जरूरत नही है। भविष्य के प्रति भी जागरूक रहने की जरूरत नही है। जागरूक रहे वर्तमान क्षण के प्रति और वर्तमान क्षण के प्रति जागरूक रहने का तात्पर्य यह है कि कोई बीज होगा वह बोया जाएगा वर्तमान के क्षण मे। बाद मे तो फल लगता है, बाद मे तो परिणाम आता है, बाद मे एक वृक्ष बनता है। आप वृक्ष को नही उखाड सकते। आप फल को नही रोक सकते। आप केवल यही देखें कि बीज बोया जा रहा है या नही बोया जा रहा है। हमे जागरूक रहना है वर्तमान के उस क्षण के प्रति जिस क्षण मे बीज की बुवाई होती है। यह राग का क्षण, यह द्वेष का क्षण। यह राग का बीज, यह द्वेष का बीज जिस क्षण मे बोया जाता है उस क्षण के प्रति यदि हम जागरूक नही होते है तो परिणामो के प्रति जागरूक होने का कोई अर्थ नही होता। अध्यात्म का एक बहुत बडा रहस्य जो अध्यात्म के सूत्रो से प्रतिपादित हुआ है, वह है—राग का क्षण हिंसा है, द्वेष का क्षण हिंसा है। अराग का क्षण अहिंसा है अद्वेष का क्षण अहिंसा है।

बहुत विचित्र घटनाए घटित होती है। मन मे कोई भी विकल्प उठा, एक

विचार आया और हमने उसकी उपेक्षा कर दी। उसका परिणाम यह हुआ कि वह बीज बो दिया गया और वह बीज जब बड़ा होगा तो निश्चित ही अपना परिणाम लाएगा। हम दुनिया की घटनाओं को देखें। पचास-साठ वर्ष तक जिस व्यक्ति का जीवन यशस्वी रहा, जिस व्यक्ति का पूर्वार्द्ध पूर्ण तेजस्वी और उदितोदित रहा, वही व्यक्ति अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में पतित हो गया, नष्ट हो गया। हमें आश्चर्य होता है कि यह कैसे हुआ? जो व्यक्ति पचास-साठ वर्ष तक यशस्वी और तेजस्वी जीवन जी लेता है वह आगे के वर्षों में पतन की ओर कैसे जा सकता है? हम सामान्यतः उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। किन्तु ऐसा घटित होने के पीछे भी कुछ कारण अवश्य होते हैं। यदि हम सूक्ष्मता से ध्यान दें, गहराई से सोचें तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि जो बीज बोया गया था, उसका प्रायश्चित्त नहीं हुआ, वह वृक्ष बन गया, घटना घटित हो गयी।

प्रायश्चित्त यही तो है कि जिस क्षण मन में राग का संस्कार उत्पन्न हुआ, जिस क्षण मन में द्वेष का संस्कार उत्पन्न हुआ, उसे धो डालो, सफाई कर दो, परिवर्तन कर दो। फिर वह सताएगा नहीं। बीज को नष्ट कर दिया, वह वृक्ष नहीं बन पाएगा। प्रायश्चित्त नहीं होता है तो बीज को पनपने का मौका मिल जाता है, अंकुरित होने का मौका मिल जाता है। कालान्तर में वह वृक्ष बन जाता है, उसके फल लग जाते हैं, उसकी जड़ें जम जाती हैं। अब हमारे वश की बात नहीं रहती। हमें उसके फल भुगतने ही पड़ते हैं। फल भुगतने के लिए हमें बाध्य होना पड़ता है।

अध्यात्म का बहुत बड़ा रहस्य है कि हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहें जिस क्षण में राग और द्वेष के बीज की बुवाई होती है।

हम अहिंसक हैं। हमने बहुत स्थूल रूप से मान लिया कि किसी को न मारना अहिंसा है। किन्तु राग-द्वेष के बीजों की बुवाई होती जाएगी तो अहिंसा कैसे हो सकेगी? व्यवहार के जगत् की बात तो ठीक है। कोई आदमी अगर किसी को नहीं मारता है तो वह कानून की पकड़ में नहीं आएगा। कानून उसे पकड़ेगा नहीं, सताएगा नहीं, क्योंकि वह ऐसा कोई काम नहीं कर रहा है, जो कानून की सीमा में आ सके। कानून का सूत्र है—कार्य। ऐसा कार्य जो पकड़ में आ सके। अध्यात्म का सूत्र है—अध्यवसाय। कार्य हो या न हो, अध्यवसाय मात्र जिम्मेवार हो जाता है। ऐसा अध्यवसाय, ऐसा संस्कार, ऐसा विचार, ऐसा परिणाम जो हिंसा प्रधान हो, भले आपने कुछ किया नहीं, फिर भी आप हिंसा से बंध गए। प्रश्न अब आपका वैसा प्रस्तुत कर सकते हैं कि हमने कुछ किया तो नहीं, फिर हम उस घटना के प्रति उत्तरदायी कैसे? अध्यात्म इस सीमा में नहीं जाता कि आपने क्रिया-रूप में कुछ किया या नहीं। वह तो यह पूछता है कि आपने ऐसा सोचा या नहीं, ऐसा विचार किया या नहीं। अध्यात्म का मार्ग निर्दिष्ट होता है कि—

के आधार पर, परिणाम और अध्यवसाय के आधार पर। कानून का सारा निर्णय होता है कार्य के आधार पर। यदि यह बात हमारी समझ मे ठीक से आ जाती है तो जागरूकता का क्षेत्र खुल जाता है, जागरूकता की सीमा बढ जाती है। फिर हम परिणाम के प्रति उतने जागरूक नही होते जितने कि मूल के प्रति जागरूक हो जाते है। जब मन पर थोडा प्रमाद छाता है, हमारी जागरूकता चली जाती है परिस्थिति पर, परिणाम पर। हम सोचने लग जाते है—उसने मेरी शिकायत कर दी, उसने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया, उसने मेरा अपमान कर डाला। हमारा सारा चिन्तन बाह्य जगत् पर चला जाता है। यह नही सोचा जाता कि राग का क्षण हमने कैसे जिया था, द्वेष का क्षण हमने कैसे जिया था ? अर्थात् हम अध्यात्म से हटकर बाहर के निर्णय पर चले जाते है।

भगवान् महावीर ने एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया कि समूची जिम्मेवारी, समूचा दायित्व आत्मा पर है। उन्होने कभी नही कहा कि आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई शत्रु है या मित्र है। उनका सूत्र यही रहा कि आत्मा ही मित्र है। बाहर मित्र की क्या खोज कर रहे हो। उन्होने कभी नही कहा कि दूसरा कोई तुम्हे बधन मे डालता है, बधन मे फसाता है। यह बध और मोक्ष का दायित्व, यह पुण्य और पाप का दायित्व, यह सुख और दु ख का दायित्व—सारा दायित्व आत्मा का है। आत्मा ही सब कुछ करने वाला है। क्या हम अध्यात्म के इस रहस्य की गहराई तक पहुचने का प्रयत्न करते है कि यह सारा दायित्व हम पर है ? हमेशा हम प्रत्येक बात का दायित्व दूसरो पर डाल देते है और हम जब तक दूसरो पर दायित्व नही डाल देते तब तक मन बेचैन रहता है। हम बहाना ढूढ लेते है कि अमुक ने ऐसे किया, अमुक ने वैसे किया। ऐसा कर हम अपने आपको हल्का अनुभव करते है और सोचते है कि चलो अपना काम हो गया। किन्तु अध्यात्म का रहस्य इससे भिन्न है। अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण रहस्य यह है कि किसी के लिए कोई जिम्मेवार नही। सारी घटनाओ के लिए जो अन्तिम जिम्मेवार है, वह अपनी आत्मा है, अपना अध्यवसाय है।

अभी मैंने आपके समक्ष अध्यात्म के दो-तीन रहस्यो की चर्चा प्रस्तुत की। यह चर्चा बहुत विस्तार मागती है, पर मैंने सक्षेप मे उसको प्रस्तुत किया है। यदि ये दो-तीन रहस्य, जिनका उद्घाटन हमारे मन मे हो सके, हमारे जीवन मे हो सके, तो और रहस्य खोजने की ज़रूरत नही है। अभी मैंने जिनकी चर्चा की है, वे सब खोजे गए रहस्य है। हमारे तीर्थंकारो ने, हमारे आचार्यों ने इनकी खोज की थी। जो खोजे गए रहस्य हैं, उनकी मात्र स्मृति मैंने आपके सामने प्रस्तुत की है। आपको थोडी-सी याद दिलाई है। इन रहस्यो के प्रति हमारा ध्यान केन्द्रित हो और नये रहस्यो को खोजने की एक तडप, एक भावना, सघन श्रद्धा मन मे जागृत हो, पुरुषार्थ उस दिशा मे आगे बढे तो मुझे लगता

ि इस ससार मे भोगी जाने वाली बहुत सारी व्याधियो और मानसिक सकटो से
हम बच सकते है और कछुए की भांति अपने लिए ऐसी ढाल बना सकते है जिसमे
बाहरी सारे आक्रमणो, अतिक्रमणो से बचकर अपने-आपको सुरक्षित अनुभव कर
सकते है ।

१४

अध्यात्म और व्यवहार

प्रवृत्ति से पूर्व उद्देश्य को स्पष्ट करना आवश्यक होता है। बिना प्रयोजन मूर्ख भी प्रवृत्त नही होता। इसलिए प्रयोजन को स्पष्ट करना पडता है। साधना का उद्देश्य और सम्बन्ध बताना जरूरी होता है। प्राचीन काल मे ग्रथ-निर्माण के प्रारम्भ मे मगलाचरण, उद्देश्य और सम्बन्ध बताया जाता था। आज भी वह आवश्यक है। हम जो कर रहे है, उसका उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। आत्म-साधना, ध्यान, समाधि का प्रयत्न होता है, उसका भी उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। हम वह प्रवृत्ति क्यो कर रहे है ? हम उस प्रवृत्ति के द्वारा क्या होना चाहते हैं ?

दो स्थितिया होती हैं। एक स्थिति है—'है' और दूसरी है—'होना है'। जो 'है'—यह प्रकृतिवादी दर्शन का विषय है। प्रकृतिवादी दर्शन वर्णन करता है, निरूपण करता है कि क्या है ? किन्तु आचारशास्त्र या आचार-विज्ञान का प्रतिपादन है कि क्या होना चाहिए ? जहा मूल्य का प्रश्न है वहा होने की बात प्राप्त होती है कि मुझे क्या होना है ? व्यक्ति को क्या होना चाहिए ? समाज को क्या होना चाहिए ? जहा होने की बात आती है, वही मूल्यो का विकास होता है, आचारशास्त्र का विकास होता है। होने की बात के साथ 'मुझे क्या होना है'—यह भी जुड जाता है। 'क्यो होना चाहिए'—यह भी स्पष्ट हो जाता है।

हम अध्यात्म-साधना कर रहे है। उसका उद्देश्य क्या है, यह समझ लेना अत्यन्त जरूरी है। हम इस उद्देश्य की थोडी चर्चा करें।

जैन आगमो मे दो शब्द व्यवहृत हैं—सज्ञोपयुक्त और नो-सज्ञोपयुक्त। चेतना दो प्रकार की होती है—सज्ञोपयुक्त चेतना और नो-सज्ञोपयुक्त चेतना। जिसमे सज्ञा होती है वह सज्ञोपयुक्त चेतना है और जिसकी सज्ञा समाप्त हो जाती है वह नो-सज्ञोपयुक्त चेतना है। वीतराग नो-सज्ञोपयुक्त होता है। उसके उपयोग मे, चेतना मे कोई सज्ञा नही होती। वह सज्ञातीत चेतना होती है। सज्ञातीत चेतना का अर्थ है—विशुद्ध चेतना, केवल चेतना। जहा चेतना के साथ सज्ञा का मिश्रण होता है, जो चेतना सज्ञा से प्रभावित होती है, जो चेतना सवेदनात्मक होती है,

चेतना भी सज्ञाओ के कारण धुधली हो जाती है, अस्पष्ट हो जाती है, गदी हो जाती है। उसे निर्मल बना लेना, उसे यथावत् बनाकर केवल चेतना के रूप मे रखना, यह है हमारी साधना का उद्देश्य।

साधना का रहस्य है केवल जानना। इसे आज भी प्राप्त किया जा सकता है। केवलज्ञान यानी कोरा ज्ञान, सिर्फ ज्ञान, जिसमे कोई भी सवेदन न हो। आप जब चाहे तब इसका अभ्यास कर सकते है। आप केवलज्ञान की अवस्था मे आ सकते है। केवलज्ञानी बन सकते है। केवलज्ञान अन्तिम मजिल मानी गयी है, लक्ष्य माना गया है। केवलज्ञान साधना का पहला चरण भी है। जब तक केवल-ज्ञान का अभ्यास नही होगा तब तक साधना के क्षेत्र में आगे बढने की बात प्राप्त नही होगी। साधना के क्षेत्र मे हमारा प्रवेश तभी सभव है जब हम केवलज्ञान का अभ्यास करते है। जो आदि मे होता है, वही अन्त मे होता है। जो आदि में साधन है, वही अन्त मे साध्य बन जाता है।

उपादान उपादान है। उपादान में जो आदि मे होता है वही अन्त मे होता है। कोई अन्तर नही आता। हमारी चेतना यदि केवल चेतना नही है तो हम कभी भी केवलज्ञान को प्राप्त नही कर सकेगे। केवलज्ञान तभी प्राप्त होता है जब हम पहले क्षण मे केवलज्ञान प्राप्त कर लेते है। पहले क्षण का केवलज्ञान ही अन्तिम क्षण का केवलज्ञान होता है। साधना के क्षण मे यदि केवलज्ञान प्राप्त नही है तो साधना के किसी भी क्षण मे, चाहे लाखो वर्षो तक हम साधना करते रहे, केवल-ज्ञान प्राप्त नही होगा। पहले क्षण मे वह प्राप्त होना चाहिए, तभी अन्तिम क्षण मे वह प्राप्त होगा।

कुम्हार ने एक घडा बनाया। पहले ही क्षण मे यदि वह घडा नही फटता है तो वह कभी नही फूट सकता। एक बच्चा जन्मता है और यदि वह पहले क्षण मे नही मरता है तो कभी मर ही नही सकता। वह अमर हो गया, कभी नही मरेगा। पहले क्षण मे जिसका विनाश नही होता, उसका फिर कभी विनाश नही हो सकता। पहले क्षण मे जो समाप्त नही होता, उसे फिर कभी समाप्त नही किया जा सकता। पहले क्षण मे यदि केवलज्ञान नही होता है तो फिर कभी केवलज्ञान हो नही सकता। वास्तव मे केवलज्ञान कोरा ज्ञान, जिस ज्ञान के साथ सवेदना न हो, ऐसा साधना का स्तर जब प्राप्त होता है तब हम केवलज्ञान की स्थिति मे पहुच सकते है।

प्राण को सवेदन-शून्य करना, सज्ञा से मुक्त करना, योग-सयोग से मुक्त करना—यही है हमारी साधना का उद्देश्य। प्रश्न यह है कि यह कैसे सभव हो सकता है? इस पर हम कुछ विचार करे।

योग-सयोग से मुक्त होने के लिए लोकोत्तर चित्त का निर्माण करना होता है। हमारा चित्त दो प्रकार का है—लौकिक चित्त और लोकोत्तर चित्त।

की ओर मोडें। उससे ज्ञानकेन्द्र को सिंचन मिलेगा। जब ज्ञानकेन्द्र को सिंचन मिलेगा तव ज्ञान पुष्ट होगा। साधना सहज रूप मे सफल होती जाएगी। ज्ञानकेन्द्र पुष्ट तव होता है जब हमारी ऊर्जा ज्ञानकेन्द्र मे प्रवाहित होती है। यह ऊर्जा जो ऊपर की ओर जाती है, उसे कुडलिनी का जागरण कहें या विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि कहें। कुछ भी कहा जा सकता है। ज्ञान के सारे केन्द्र मस्ष्तिक में हैं। शक्ति के सारे स्रोत मस्तिष्क मे है।

शरीरशास्त्रीय दृष्टि से भी देखा जाए तो सारे शरीर-तत्न का सचालन मस्तिष्क के द्वारा होता है। पैर में एक छोटा-सा काटा चुभा। पैर में पीडा हो रही है। काटे की चुभन का अनुभव हुआ। हाथ पैर के सहयोग के लिए आगे बढता है किन्तु यह होता है कैसे? काटा चुभते ही हमारा नाडी-मडल, नाडी-सस्थान सक्रिय हो जाता है और मस्तिष्क तक यह सूचना पहुचा दी जाती है कि पैर में काटा चुभा है। मस्तिष्क तत्काल आदेश देता है—काटा निकालो। आदेश हाथ तक आएगा। अगुली आगे बढेगी, पैर का काटा निकल जाएगा। यह सारा सचालन होता है मस्तिप्क से। सचालन का यह मुख्य केन्द्र है। इस पर जितना ध्यान केन्द्रित होगा, उतना ही विकास होता जाएगा। हम वहुत ही कम हिस्से का विकास कर पाते है। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमारी जितनी शक्ति है, हमारा जितना क्षयोपशम है, उसको हम काम मे नही लेते। हमारे क्षयोपशम का कुछ हिस्सा काम में आता है, शेप यो ही रह जाता है।

विज्ञान की भापा मे कहा जा सकता है कि मस्तिष्क की जितनी क्षमता है, हम उसका उपयोग नही कर पाते। कुछ प्रतिशत क्षमता का ही उपयोग कर पाते हैं। क्योकि मस्तिष्क के उन प्रकोष्ठो को खोलने का हमारा कोई प्रयास नही होता जिनके खुलने पर हमारी अतिरिक्त चेतना काम आने लग जाए। वह इसलिए नही हो पाता कि हमारी चेतना का सारा प्रवाह नीचे की ओर हो रहा है। इसलिए साधना का यह वहुत वडा उद्देश्य है कि कामकेन्द्र की ओर वहने वाली मन की धारा को, कामकेन्द्र भी ओर वहने वाली मन की ऊर्जा को मोडकर ऊपर की ओर ले जाए। यह वहुत वडी साधना है।

हमारे मन मे सज्ञाए उत्पन्न होती है। आहार की सज्ञा उत्पन्न होती है। मैथुन की सज्ञा उत्पन्न होती है। इनकी उत्पत्ति का क्या कारण है? आगमो मे प्रत्येक मज्ञा की उत्पत्ति के चार-चार कारण वतलाए हैं। उनमे से एक कारण वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह है—स्मृति। वार-वार आहार की स्मृति करते है, वार-वार भय की स्मृति करते है, वार-वार मैथुन की स्मृति करते हैं, वार-वार काम की स्मृति करते हैं, और ये सज्ञाए उत्तेजित हो जाती हैं, उभर जाती हैं। वार-वार स्मरण करना, वार-वार चर्चा करना और वार-वार अपनी प्राण-शक्ति को उस ओर प्रवाहित करना, यह सज्ञाओ के उद्दीपन का मार्ग है। उनकी

पश्चिम में तीन वाद चल रहे हैं—

१ नियतिवाद।

२ आत्मवाद।

३ आत्म-नियतिवाद।

भारत में भी ये वाद चलते हैं।

एक वाद है—नियतिवाद। नियतिवादी यह मानते हैं कि मनुष्य यन्त्रवत् है। जैसी परिस्थितियां होती हैं, जैसा वातावरण होता है, वैसे ही मनुष्य को करना पड़ता है। सारा यन्त्रवत् संचालित होता है। मनुष्य का अपना कोई स्वतंत्र संकल्प नहीं होता। यह है नियतिवादी धारा।

दूसरी है आत्मवादी धारा। उसके अनुसार मनुष्य संकल्प करने में स्वतंत्र है। वह परिस्थिति का दास नहीं है। वह परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता।

तीसरी है आत्म-नियतिवादी धारा। आत्म-नियतिवादी यह मानते हैं कि नियति भी हो सकती है पर वह हमारी परिस्थिति में कोई बाधा नहीं डाल सकती। हम पूर्णतया स्वतंत्र हैं, सर्वथा स्वतंत्र हैं।

क्या हम संकल्प करने में परतन्त्र हैं? यन्त्रवत् हैं? परिस्थिति के दास हैं? या हम पूर्ण स्वतंत्र हैं? किसी भी परिस्थिति का हम पर कोई प्रभाव नहीं होता?

यदि हम यन्त्रवत् हों और सारा का सारा संचालन नियति से होता हो तो मैं समझता हूं कि साधना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। फिर यह कहना उचित ही होगा कि स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। जब हमारा स्वभाव [illegible] है तो उसे बदलने के लिए किसी संकल्प या किसी पुरुषार्थ की हमें कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सारे प्रयत्न व्यर्थ होंगे।

हम इस बात को स्वीकार नहीं करते। हम मानते हैं कि स्वभाव को बदला जा सकता है। [illegible] चलना हो तो सन्तोपयुक्त किया जा सकता है। सारी [illegible] को समाप्त किया जा सकता है। जब यह सब कुछ हो सकता है तो फिर 'स्वभाव [illegible] नहीं बदला जा सकता'—यह कथन अपने आप अर्थशून्य हो जाता है। [illegible] बदलता है, उसे बदला जा सकता है।

हम यह मानते हैं कि आत्मा में अपनी कुछ आन्तरिक विशेषताएं हैं। बाह्य [illegible] साधारण कुछ प्रभाव डालता है। किन्तु आत्मा की आन्तरिक [illegible] जब जब जागृत होती है तब बाह्य प्रभाव शून्य हो जाता [illegible] हो जाता है।

[illegible] हमारी [illegible] प्रकट होती है। [illegible] चार [illegible] - [illegible] । [illegible] का संयुक्त नाम [illegible] है। [illegible] बाह्य परिस्थिति का प्रभाव

तब बाहर निकलना कठिन हो जाता है।

इस मूर्च्छा को तोडे बिना हम साधना के क्षेत्र मे प्रवेश नही कर सकते। बहुत आवश्यक है कि इस मूर्च्छा को तोडे और अपने व्यक्तित्व का निर्माण करें यानी शुद्ध चेतना का निर्माण करें।

व्यावहारिक मनोविज्ञान के एक वैज्ञानिक ने कहा—'मुझे एक बच्चा दे दो। फिर तुम कहो कि उसे क्या बनाना है। तुम चाहो तो मैं उसे डाकू बना दू, तुम चाहो तो मै उसे महात्मा बना दू। जैसा तुम चाहो, वैसा बना दू। क्योकि परिस्थिति पर मेरा नियत्रण है और परिस्थिति के आधार पर ही व्यक्ति का निर्माण होता है, व्यक्ति बनता-बिगडता है।'

घोषणा बहुत अजीब लगी लोगो को। बहुत आश्चर्यजनक और सुखद भी थी यह घोषणा। जब व्यक्ति के हाथ मे इतनी शक्ति आ जाए कि परिस्थिति के आधार पर लोगो को जैसा चाहे वैसा बनाया जा सके तो फिर इस ससार मे परमात्मा की कल्पना का कोई आधार ही नही रह जाता। उसको मानने की कोई आवश्यकता ही नही रहती, क्योकि वह वैज्ञानिक ही स्वय परमात्मा बन बैठा है।

उस वैज्ञानिक ने घोषणा तो की। लोगो ने सुनी। किन्तु हो कुछ नही सका। मनुष्य को बनाया नही जा सकता। केवल बाह्य परिस्थिति के आधार पर जहा व्यक्ति के निर्माण की बात आती है, वहा हम इस सचाई को भुला देते हैं कि मनुष्य का यदि अपना (स्व) कुछ भी नही है तो वह मनुष्य मनुष्य भी नही है। वह चेतनावान् प्राणी नही है। फिर तो वह मात्र यत्र है।

इस बात को हम समझ लें कि यदि कोई साधक भी यह घोषणा करे कि एक बच्चा मेरे पास रखो, आप जैसा चाहोगे वैसा बना दूगा। यह भी सभव नही है। बहुत ही कठिन बात है, क्योकि जहा केवल परिस्थितियो के द्वारा व्यक्ति का निर्माण नही किया जा सकता तो केवल साधना के द्वारा भी उसका निर्माण नही किया जा सकता। हमे देखना होगा कि किस व्यक्ति मे कितनी आन्तरिक क्षमता है, यानी किसका कितना क्षयोपशम है। यह एक बात है। दूसरी बात है कि हमे यह भी देखना होगा कि किस व्यक्ति को साधना का अवसर कितना मिलता है, किस प्रकार का वातावरण और परिस्थितिया उसे प्राप्य हैं। हम दोनो दृष्टियो से देखें। आन्तरिक क्षमता और बाह्य वातावरण या परिस्थितिया—इन दोनो का उचित योग होता है तब चेतना के निर्मलीकरण की बात आगे बढती है। दोनो मे कही त्रुटि होती है तो प्रयत्न करने पर भी वह बात आगे नही बढती। यदि इस तथ्य को मानकर चलें तो साधना के प्रति, साधना के उद्देश्य के प्रति, हमारी दृष्टि धुधली नही होगी, अस्पष्ट नही होगी और हम धीरे-धीरे आगे बढ सकेंगे।

नही है। यदि ये अनावृत न रहे तो चैतन्य मे अन्तर आ जाएगा। जीव-जीव नही रह सकेगा। योग के आचार्यों ने मन चक्र की भी आठ पखुडिया मानी है। इस दृष्टि से इसकी तुलना रुचक प्रदेश से होती है। यह है मन चक्र। इससे थोडी दूर पर जो हृदय का स्थान है, वह भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये है हमारे ऊर्ध्व शरीर मे चैतन्य के विशेष केन्द्र।

मध्य शरीर मे मुख्य केन्द्र है—नाभि। यह वहुत शक्तिशाली केन्द्र है। नाभि और उसके दोनो ओर का भाग वहुत शक्तिशाली है।

हमारे शरीर के अधोभाग मे अनेक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। पृष्ठरज्जु के नीचे जो एक घुमाव है, कर्व है, पृष्ठरज्जु जहा समाप्त होती है वहा जो मास का एक वध है, जिसे कुडलिनी का स्थान कहते है, जहा से प्राणधारा उत्पन्न होती है, विद्युत् पैदा होती है, जो जेनरेटर का काम करता है, जहा से समूचे शरीर को विद्युत् मिलती है, वह स्थान है पृष्ठरज्जु का अतिम छोर। उसके वाद आता है जननेन्द्रिय का स्थान और फिर पैरो की अगुलिया। ये मुख्य स्थान है अधो शरीर के अधोलोक के।

शरीर मे ये मुख्य केन्द्र है चेतना के। हमे किस केन्द्र को जागृत करना है, सक्रिय वनाना है, यह हमारे लक्ष्य पर निर्भर है। प्रश्न है कि उन्हे जागृत करने की पद्धति क्या है? एक सरल पद्धति यह है—आप जिस केन्द्र को जागृत करना चाहे, जिसे सक्रिय वनाना चाहे उस पर मन को एकाग्र करें। मन जितना अधिक एकाग्र होगा, वह केन्द्र सक्रिय हो जाएगा, जागृत हो जाएगा। जो व्यक्ति वार-बार वासना की वात सोचता है उसका वासना-केन्द्र, जननेन्द्रिय का स्थान सक्रिय हो जाएगा। जो व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है वह यदि अपने मन को समग्रता से मस्तिष्क के मध्यभाग मे टिकाएगा तो उसका ज्ञानकेन्द्र सक्रिय हो जाएगा। जो व्यक्ति पवित्रता को प्राप्त करना चाहता है, पवित्र होना चाहता है, वह विशुद्धि-चक्र पर मन को बार-बार एकाग्र करे। इससे वासना के सस्कार क्षीण होगे और पवित्रता आती जाएगी। जो व्यक्ति प्रातिभ ज्ञा। प्राप्त करना चाहता है, होने वाली घटनाओ को पहले से ही जान लेना चाहता है, वह अपने मन को आज्ञाचक्र पर केन्द्रित करे। घटनाओ का आभाम सभव हो जाएगा। ये हमारे भिन्न-भिन्न पक्ष है, प्रयोजन है। यह सचाई है कि जिस पर हम अधिक ध्यान देंगे, वह हमारे अनुकूल बन जाएगा। हम व्यवहार मे इसका सदा अनुभव करते हैं कि जिस मनुष्य को हम अधिक पसन्द करते है, जिसके विषय मे हम अच्छी बातें करते है, जिसको हम अधिक प्यार और अधिक स्नेह देते है जिससे हम अधिक सम्बन्ध रखतें है, वह आदमी सहज ही हमारा हो जाता है और हमारी प्रत्येक इच्छा का पालन भी करने लगता है। इसी प्रकार हमारे प्रशिक्षित ज्ञानतन्तु हमारे आदेश का पालन करते हैं, निश्चित रूप से करते है। वे ज्ञानतन्तु

नही है। यदि ये अनावृत न रहे तो चैतन्य मे अन्तर आ जाएगा। जीव-जीव नही रह सकेगा। योग के आचार्यों ने मन चक्र की भी आठ पखुडिया मानी है। इस दृष्टि से इसकी तुलना रुचक प्रदेश से होती है। यह है मन चक्र। इसमे थोडी दूर पर जो हृदय का स्थान है, वह भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये है हमारे ऊर्ध्व शरीर मे चैतन्य के विशेष केन्द्र।

मध्य शरीर मे मुख्य केन्द्र है—नाभि। यह वहुत शक्तिशाली केन्द्र है। नाभि और उमके दोनो ओर का भाग वहुत शक्तिशाली है।

हमारे शरीर के अधोभाग मे अनेक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। पृष्ठरज्जु के नीचे जो एक घुमाव है, कर्व है, पृष्ठरज्जु जहा समाप्त होती है वहा जो मास का एक वध है, जिसे कुडलिनी का स्थान कहते है, जहा से प्राणधारा उत्पन्न होती है, विद्युत् पैदा होती है, जो जेनरेटर का काम करता है, जहा से समूचे शरीर को विद्युत् मिलती है, वह स्थान है पृष्ठरज्जु का अतिम छोर। उमके वाद आता है जननेन्द्रिय का स्थान और फिर पैरो की अगुलिया। ये मुख्य स्थान है अधो शरीर के अधोलोक के।

शरीर मे ये मुख्य केन्द्र है चेतना के। हमे किस केन्द्र को जागृत करना है, सक्रिय वनाना है, यह हमारे लक्ष्य पर निर्भर है। प्रश्न है कि उन्हे जागृत करने की पद्धति क्या है? एक सरल पद्धति यह है—आप जिस केन्द्र को जागृत करना चाहे, जिसे सक्रिय वनाना चाहे उस पर मन को एकाग्र करे। मन जितना अधिक एकाग्र होगा, वह केन्द्र सक्रिय हो जाएगा, जागृत हो जाएगा। जो व्यक्ति वार-वार वासना की वात सोचता है उसका वासना-केन्द्र, जननेन्द्रिय का स्थान सक्रिय हो जाएगा। जो व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करना चाहता है वह यदि अपने मन को समग्रता से मस्तिष्क के मध्यभाग मे टिकाएगा तो उसका ज्ञानकेन्द्र सक्रिय हो जाएगा। जो व्यक्ति पवित्रता को प्राप्त करना चाहता है, पवित्र होना चाहता है, वह विशुद्धि-चक्र पर मन को वार-वार एकाग्र करे। इससे वासना के सस्कार क्षीण होगे और पवित्रता आती जाएगी। जो व्यक्ति प्रातिभ ज्ञा। प्राप्त करना चाहता है, होने वाली घटनाओ को पहले से ही जान लेना चाहता है, वह अपने मन को आज्ञाचक्र पर केन्द्रित करे। घटनाओ का आभास सभव हो जाएगा। ये हमारे भिन्न-भिन्न पक्ष है, प्रयोजन है। यह सचाई है कि जिस पर हम अधिक ध्यान देंगे, वह हमारे अनुकूल बन जाएगा। हम व्यवहार मे इसका सदा अनुभव करते हैं कि जिस मनुष्य को हम अधिक पसन्द करते है, जिसके विषय मे हम अच्छी वातें करते है, जिसको हम अधिक प्यार और अधिक स्नेह देते है जिससे हम अधिक सम्वन्ध रखते हैं, वह आदमी सहज ही हमारा हो जाता है और हमारी प्रत्येक इच्छा का पालन भी करने लगता है। इसी प्रकार हमारे प्रशिक्षित ज्ञानतन्तु हमारे आदेश का पालन करते हैं, निश्चित रूप से करते है। वे ज्ञानतन्तु

हमारे आदेश का पालन नही करते जिनके साथ हमने संपर्क स्थापित नही किया है जिनको हमने प्रशिक्षित नही किया है, जिनके साथ हमारा मन संपृक्त नही हुआ है। प्राकृत चिकित्सा या मानसिक चिकित्सा का यह मुख्य सिद्धात है कि यदि तुम्हारी आतें ठीक काम नही कर रही हैं तो बार-बार आतो पर मन को केन्द्रित करो और उन्हे आदेश दो कि तुम ठीक काम करो। कुछ समय के बाद आतो के जो ज्ञान-तन्तु हैं वे आपके आदेश को मानने लग जाते हैं और ठीक काम करने लग जाते हैं। जब हम उन ज्ञान-तन्तुओ की उपेक्षा करते हैं तो वे भी उदासीन हो जाते है। वे हमे सहयोग नही देते। यदि हम उनसे सापेक्ष हो जाते हैं उनकी अपेक्षा रखते हैं तो वे भी सक्रिय हो जाते हैं और हमारी अपेक्षा को पूरा करने मे तत्पर हो जाते है। यह सब हमारी उपेक्षा और अपेक्षा पर निर्भर है। उनकी शक्ति या सहयोग मे कोई कमी नही है। जो व्यक्ति प्राणशक्ति या तैजस् को प्रबल करना चाहता है उसे पृष्ठरज्जु के नीचे के बध पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। प्राणधारा को प्रबल बनाना है तो उसके लिए यह स्थान बहुत ही उपयुक्त है।

अब हम नीचे चलें। पैर के अगूठे का भी बहुत मूल्य है। प्राण यहा आकर समाप्त होते हैं। जो प्राण का प्रवाह नासाग्र से चलता है वह पैर के अगूठो पर आकर समाप्त हो जाता है। जिस व्यक्ति के मन मे अपनी शक्ति को, अपने वीय को सुरक्षित रखने की भावना होती है, वह अगूठो पर ध्यान केन्द्रित करता है। योग मे एक प्रक्रिया निर्दिष्ट है। जो व्यक्ति वीर्य-दोप से ग्रस्त है, उनके लिए बताया गया है कि वे सीधे लेट जाए। लेटकर थोडा-सा ऊपर उठें और पैर के अगूठे पर मन को एकाग्र करे, ध्यान केन्द्रित करे। इस मुद्रा मे एक-दो मिनट तक रहे। कुछ दिनो के अभ्यास से वे उस रोग से मुक्त हो जाएगे।

ये कुछेक मुख्य केन्द्र हैं, जहा मन का नियोजन कर हम लाभान्वित हो सकते हैं। आधुनिक शरीरशास्त्र ने कुछेक नयी ग्रन्थियो, नये ग्लैण्ड्स का उल्लेख किया है। इनको भी हमे समझना है। इनसे भी हमे लाभ उठाना है।

हमारे शरीर मे चक्र हैं। हमारे शरीर मे ग्रन्थिया हैं। हमारे शरीर मे कमल है। योग की भाषा मे हम सुनते हैं कि शरीर मे छह चक्र हैं, साथ-आठ ग्रन्थिया हैं, हृदय-कमल नाभि-कमल आदि कमल हैं। शरीरशास्त्र की दृष्टि से भी कुछेक ग्रन्थिया प्रतिपादित हैं, कुछेक कमल भी निर्दिष्ट हैं। ये शब्द भ्रामक हैं। हमे शब्दो मे नही उलझना है। ग्रन्थि, चक्र, कमल—इनका अर्थ क्या है? इसे हम समझें। ये जो निर्दिष्ट केन्द्र हैं, मुख्य केन्द्र हैं यहा शरीरतंतु काफी उलझे हुए हैं। ये टेढे-मेढे हैं। प्राण की धारा वहा सीधी नही जा सकती। उसे घूमकर जाना पडता है हटकर जाना पडता है, इसलिए उसे ग्रन्थि कहा गया है। उलझन भरा मार्ग है इसलिए ग्रन्थिया हैं, चक्र है। इसका मतलब है कि वहा चक्राकार गति है, घुमाव-

दार गति है, सीधी गति नही है। इसलिए उन्हे चक्र कहा गया है। 'कमल' एक प्रतीकात्मक शब्द है। कमल वह होता है जो विकसित होता है और सिकुडता है। जिसमे सकोच और विस्तार होता है, जिसमे सकुचन और विकुचन की शक्ति होती है, उसे कमल कहते है। यहा 'कमल' एक रूपक के रूप मे प्रयुक्त है। कमल का मतलब है— यदि आप उन ज्ञान-केन्द्रो पर ध्यान केन्द्रित कर उन्हे सक्रिय बनाते हैं तो वे केन्द्र सीधे सरल हो जाते हैं और तब प्राणधारा को सीधा प्रवाहित होने का अवसर मिल जाता है। यदि आप उनकी उपेक्षा करते है, उन पर ध्यान केन्द्रित नही करते तो वे सक्रिय नही होते, सिकुड जाते है और तब प्राणधारा को प्रवाहित होने के लिए टेढा-मेढा मार्ग खोजना पडता है।

अब ये तीनो बातें स्पष्ट हो गयी हैं कि हमारे शरीर मे ग्रन्थिया है, चक्र है और कमल है। कमल जैसी चीज़ नही मिली तब डॉक्टरो ने कहा—हमने सारे शरीर को चीर-फाडकर देख डाला, उसके अणु-अणु का विश्लेषण कर दिया, पर कही भी कमल नही मिला। कही आज्ञाचक्र, विशुद्धिचक्र आदि दिखाई नही दिए। हा, डॉक्टरो को कुछ भी नही मिला। आज्ञाचक्र हो या न हो, विशुद्धिचक्र हो या न हो, किन्तु जो 'पिनियल' या जो दूसरी-दूसरी ग्रन्थिया है, ग्लैण्ड्स है, उनको यदि हम तुलनात्मक दृष्टि मे देखे तो योगशास्त्र और शरीरशास्त्र के प्रतिपादन मे कोई विशेष भेद प्रतीत नही होगा।

प्रश्न होता है कि हम मन को कहा लगाए? ध्यान को कहा केन्द्रित करे? यह आप पर निर्भर है। आपका लक्ष्य क्या है? आप क्या चाहते है? आपको पाना क्या है? यदि आपको ज्ञान की निर्मलता पानी है तो आपको ज्ञानकेन्द्र पर ध्यान करना होगा। आचार्यो ने कुछेक व्यवस्थाए दी है कि हमे 'णमो अरहताण' का ध्यान कहा करना है? अर्हत् का ध्यान कहा करना है? उन्होने कहा—जो सबसे बडा ज्ञानकेन्द्र है वह है अर्हत् के ध्यान का स्थान।

सारे केन्द्र स्थूल रूप मे दो भागो मे विभक्त है—ज्ञानकेन्द्र और वासनाकेन्द्र। ज्ञानकेन्द्र ऊपर है, वासनाकेन्द्र नीचे। जब हमारी प्राणधारा या मन की गति नीचे की ओर होती है तो वासनाकेन्द्र सक्रिय होता है, तीव्र होता है, जागृत होता है। ज्ञानकेन्द्र कमज़ोर हो जाता है। जब हमारी प्राणधारा या मन की गति ऊपर की ओर होती है तब ज्ञानकेन्द्र सक्रिय होता है, तीव्र होता है, जागृत होता है। वासनाकेन्द्र क्षीण हो जाता है। अर्हत् का स्थान है—मस्तिष्क। यदि हम मस्तिष्क मे अर्हत् का ध्यान करते है तो इसका सहज परिणाम यह होगा कि हम जाने-अनजाने ज्ञानकेन्द्र को जागृत कर रहे हैं। ज्ञानकेन्द्र जागृत हो जाएगा। यह ज्ञानकेन्द्र सक्रिय करने का उपाय है। आचार्यो ने कहा कि अर्हत् के ध्यान के साथ-साथ श्वेत वर्ण का भी ध्यान करो। मस्तिष्क का जो अग्रभाग है, वहा एक द्रव-पदार्थ है। उसका रग है मूग—कुछ पीला, कुछ सफेद। वहा श्वेत वर्ण (मटमैला) का ध्यान

लाभप्रद होता है। सहज शक्ति प्राप्त होती है वहा के परमाणुओ को। मस्तिष्क अपने आप शक्तिशाली हो जाता है। हमारे ज्ञानकेन्द्र के तन्तु सक्रिय हो जाते हैं, जाग जाते हैं।

'णमो सिद्धाण' के ध्यान का स्थान है ललाट, आज्ञाचक्र। इसका वर्ण है—रक्त। आज्ञाचक्र हमारी समूची सक्रियता को उत्पन्न करता है। शरीर पर नियन्त्रण रखना, ज्ञानात्मक नियन्त्रण रखना इसका मुख्य कार्य है। लाल वर्ण बहुत उत्तेजना, सक्रियता और गति देने वाला है। जो व्यक्ति लम्बे समय तक लाल वर्ण पर ध्यान करता है, उसे खतरा भी उठाना पड सकता है। लाल वर्ण से अतिरिक्त ऊष्मा पैदा होती है। वह खतरा पैदा कर देती है। रक्त की सारी सक्रियता लालिमा के कारण ही है। आज्ञाचक्र का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अब प्रश्न आया कि 'णमो आयरियाण' का ध्यान कहा करें? आचार्य आचार के प्रतीक हैं। आचार का अर्थ है—पवित्रता। पवित्रता का स्थान है—गले के पास। वहा यदि हम ध्यान केन्द्रित करेंगे तो हमारे मे आचार की भावना सहज ही जागृत होगी। हमारी पवित्रता जागृत होगी। वहा हमे पीले रग का ध्यान करना होगा। पीत वर्ण भावना मे वेग लाता है। 'एनोटॉमी' के अनुसार शरीर के स्राव सर्दी, गर्मी आदि का नियन्त्रण करते हैं। जिसमे स्राव कम होता है, वह आदमी असमय मे ही बूढा हो जाता है। क्षीण हो जाता है। शरीर का उपचय रुक जाता है। जिसमे स्राव सतुलित है, उसके शरीर का भी उसी सतुलन से विकास होता रहेगा। यह स्राव हमारे शरीर पर नियन्त्रण करने वाला है, हमारी ग्रन्थियो का नियामक तत्त्व है। 'णमो आयरियाण' का ध्यान, पीत वर्ण के साथ, इस निर्दिष्ट स्थान पर करें। पीत वर्ण सद्भाव और आचार को पोषण देने वाला होता है। पीत वर्ण का ध्यान करने वाला व्यक्ति जैसे ज्ञान का विकास करता है, वैसे ही पवित्र भावना का भी विकास करता है। आप देखेगे कि पवित्र भावना के प्रतीक के रूप मे जहा रगो का चुनाव हुआ है, वहा पीले रग को महत्त्व दिया है, पीत वर्ण को मुख्य स्थान मिला है।

'णमो उवज्झायाण'—उपाध्याय का ध्यान करने का स्थान है—मन चक्र। कुछ इसे हृदय-स्थान मानते हैं। इस पर बहुत मीमासा हो चुकी है। यह हृदय का स्थान नही है। यह मन चक्र का स्थान है। मन चक्र पर उपाध्याय का ध्यान करना होता है। मन चक्र का स्थान नाभि के बारह अगुल ऊपर है। प्राचीन काल मे इसे हृदयचक्र माना जाता था। उपाध्याय का ध्यान नील वर्ण के साथ किया जाता है। नील वर्ण बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपके मन मे उत्तेजना है, जटिलता है, चिन्ता है। आप उन उलझनो और जटिलताओ को सुलझाने में अपने-आपको असमर्थ पा रहे हैं। उस स्थिति में आप नीले आकाश की ओर बीस मिनट तक देखते रहें। आकाश स्वच्छ और निरावरण होना चाहिए। आकाश में बादल न हो।

नीला रग साफ दीखता दो। आप नीले आकाश को देखते रहे। कुछ ही क्षणो म आपके मन की उत्तेजना कम हो जाएगी, चिन्ता मिट जाएगी, जटिलता कम हो जाएगी। नील वर्ण का मुख्य काम है—मन को शान्त करना, उत्तेजनाओ को कम करना। रग-चिकित्सा में भी इसका उपयोग होता है। रोगी जब बहुत उत्तेजित हो जाता है, उसे जब नीद नही आती, तब उसे नीले रग का पानी पिलाया जाता है। उससे उसकी उत्तेजना मिट जाती है, नीद आने लगती है। उसकी अस्त-व्यस्तता और क्षोभ मिट जाता है।

'णमो लोए सव्व साहूण'। मुनि का स्थान है—पैर। पैर के अगूठे का स्थान बहुत महत्त्व का है। यहा का वर्ण है कृष्ण, काला। काले वर्ण का भी अपना एक अर्थ होता है। इसमे अवशोषण की क्षमता होती है। बाहरी प्रभाव भीतर नही जाता।

ये पाच स्थान है और पाच वर्ण है। जिन आचार्यो ने इन स्थानो और वर्णो की योजना की, वे शरीर की रचना से पूर्ण परिचित थे। वे जानते थे कि किस स्थान पर, किस वण का ध्यान करने से कौन-सी शक्ति जागृत होती है। स्थान और वर्ण की योजना इसी आधार पर की गई कि वह केन्द्र सक्रिय हो सके और उसकी शक्ति का विकास हो सके। आप यह मत मानिए कि ये सारी बाद की बाते है, विज्ञान की बाते हैं। जैन आचार्यों ने अपने ढग से इस पद्धति पर बहुत ध्यान दिया था कि शरीर के केन्द्रो को कैसे जागृत किया जा सकता है।

जैन ध्यान परम्परा में 'एगपोग्गल निविट्ठदिट्ठि' और 'नासाग्ग निविट्ठ-दिट्ठि'—एक पुद्गल पर दृष्टि को केन्द्रित करना या नासाग्र पर दृष्टि को केन्द्रित करना—की बात आती है। प्रश्न होता है कि नासाग्र पर ही दृष्टि को केन्द्रित क्यो करना चाहिए ? कही भी दृष्टि टिकाई जा सकती है। इसका तात्पर्य क्या है ? दृष्टि को भृकुटी पर क्यो टिकाए ? कही भी टिका सकते है। किन्तु इन सबके पीछे एक अर्थ है, एक रहस्य है। अमुक स्थान पर केन्द्रित होने से अमुक-अमुक त तु सक्रिय होते है, जागृत होते हैं। यह शारीरिक कोण से स्थानो का महत्त्व है। आध्यात्मिक या यौगिक कोण के द्वारा इन स्थानो का महत्त्व और अधिक समझ में आता है। शरीरशास्त्रीय कोण स्वास्थ्य तक सीमित होता है। ज्ञान को विकसित करना, पवित्रता को विकसित करना—यह योग का कोण होता है। शरीर के अमुक-अमुक स्थानो को जागृत करने से ज्ञान बढता है, पवित्रता आती है—यह कोण योगशास्त्रीय है, शरीरशास्त्रीय नही। हम शरीर को केवल अस्थि, मास, मज्जा—इन दृष्टियो मे ही न देखे। दूसरे कोण मे भी देखें। मज्जा एक धातु है, किन्तु उसका कार्य क्या है ? शरीर-शास्त्री इसका उत्तर दे देंगे। ज्ञान का केन्द्र है मस्तिष्क। वह ज्ञान और क्रिया—दोनो का नियमन करता है। यह पृष्ठ-रज्जू भी उसका सहायक है। इस विषय में शरीरशास्त्रियो ने बहुत विचार किया

है। जो डॉक्टरी पढता है, डॉक्टर वनता है, वह इन सव वातो को सूक्ष्मता से जानता है। किन्तु मस्तिक्क के अतिरिक्त इसके सहयोगी के रूप मे दूसरे केन्द्रो को विकसित करने से हमारे भावपक्ष, ज्ञानपक्ष और क्रियापक्ष की कौन-कौन-सी चेष्टाए उभरती हैं, यह उसका विषय नही वनता। आज इस पर भी वे कार्य कर रहे हैं, पहले यह क्षेत्र उनके लिए अवरुद्ध था।

मैंने सूक्ष्म शरीर की वात छोड दी। उसको सक्रिय करने के उपाय भी हैं। यहा उनकी चर्चा नही करूगा।

हमारा निकट का सबध इस स्थूल शरीर से है। उसके मुख्य केन्द्रो को कैसे सक्रिया किया जाए, इसकी सक्षिप्त चर्चा मैंने की है। यदि हम इस पर ध्यान दें तो अपनी भावना के अनुसार हम अमुक-अमुक केन्द्रो को सक्रिय कर लाभ उठा सकते है।

१६

शरीर-बोध की अपेक्षा

दीपावली का दिन था। एक आदमी आ रहा था। रास्ते मे दूसरा आदमी मिला। उसने पूछा—'कहा से आ रहे हो ?' उसने कहा—'बाजार से।' 'क्या लाए हो ?' 'दीया लाया हू।' उसके हाथ मे दीया था, मिट्टी का एक आकार था। मिट्टी का कोई दीया नही होता। दीया वह होता है जो प्रकाशवान् है। जो प्रकाशवान् नही होता वह दीया नही होता। उस मिट्टी के पात्र के बिना भी कोरी बाती प्रकाश नही देती, वह दीया नही हो सकती। जब मिट्टी के पात्र मे तेल भरा जाता है, बाती तेल से भीगती है, तभी दीप्ति होती है। प्रकाश होता है तभी दीया होता है। आधार इतना मजबूत हो जाता है कि आधार स्वय दीप बन जाता है। उसके बिना कोरी बाती या कोरा तेल या बाती और तेल कुछ भी नही कर सकते। कुछ भी नही हो सकता। आधार दीप बन गया। सामान्य आदमी की भाषा मे बाती दीप नही है, जो पात्र है वही दीप है।

ठीक यही स्थिति हमारी है। हमारी चेतना का प्रकाश इस शरीर मे प्रकट होता है। शरीर के बिना वह प्रकट नही हो सकता। इसलिए शरीर भी आत्मा बन जाता है। प्राचीन साहित्य मे चेतना को आत्मा कहा गया है। वहा शरीर को भी आत्मा कहा है। चैतन्य के योग से शरीर आत्मा कहलाता है। आत्मा को पुद्गल भी कहा गया है। शरीर जो पौद्गलिक है, उसे आत्मा कहा गया है। मैंने भेद-विज्ञान की बात कही थी। आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं, उन्हे भिन्न माना गया है। आत्मा और शरीर भिन्न है, उन्हें अभिन्न माना गया है। यह अभिन्नता आयी है एक कारण से। वह कारण यह है कि शरीर की शक्ति और आत्मा की शक्ति दोनो का गाढ सबध है। शरीर की शक्ति के बिना आत्मा की शक्ति कार्यकर नही होती और आत्मा की शक्ति के बिना शरीर का यह यत्र सचालित नही होता। जैसा मैंने कहा कि दीप का पात्र नही है तो प्रकाश नही होगा। बल्ब नही है, केवल करेंट है, प्रकाश नही होगा। प्रकाश को एक आवरण चाहिए अभिव्यक्त होने के लिए। चैतन्य का प्रकाश भी शरीर के बिना अभिव्यक्त नही हो सकता।

आख का गोलक ठीक नही है तो आदमी देख नही पाता। जो देखता है वह आख नही है। आख मे देखने की शक्ति नही है। वह अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है। किन्तु गोलक के बिना वह देख नही पाती। गोलक और आख दोनो का गहरा सम्बन्ध है।

हम जब साधना की दृष्टि से सोचते हैं तब शरीर को काफी कोसते हैं, गालिया देते हैं। यह गाली के योग्य है तो प्रशसा के योग्य भी है। यदि शरीर नही होता तो हमारी यह दुनिया कुछ भी नही होती। व्यक्त कुछ भी नही होता। सारी दुनिया अव्यक्त ही रह जाती। साधना की दृष्टि से भी शरीर का बहुत महत्त्व है। शरीर नश्वर है। उसकी सारी शक्तियो को वह अभिव्यक्ति देता है। हमारे सामने प्रस्तुत करता है। जो दीखता है वही शरीर नही है। यह तो स्थूल शरीर है। यह शक्तिशाली है पर दूसरे शरीरो की तुलना मे कम शक्तिशाली है। वे दूसरे शरीर हैं—सूक्ष्म शरीर। नास्तिको ने भी इस स्थूल शरीर मे आत्मा को खोजने का प्रयत्न किया है। राजा प्रदेशी ने चोर के शरीर के टुकडे-टुकडे कर आत्मा को खोजा। आत्मा नही मिली। आज के वैज्ञानिक भी इस स्थूल शरीर को मुख्य मानकर आत्मा की खोज मे लगे है। मरने से पूर्व शरीर को तोलते हैं, मरने के बाद पुन शरीर को तोलते हैं और यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि दोनो शरीर के वजन मे कितना अन्तर आया। यदि वजन घटा है तो कोई वस्तु शरीर से निकलकर चली गयी है। वही आत्मा है। यदि वजन बराबर होता है तो कोई वस्तु बाहर नही गयी। जैसा पहले था वैसा ही अब है। इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो रहे हैं। किंतु यह बहुत ही स्थूल बात है। आत्मा अभी कहा ? अभी तो यह स्थूल शरीर है। यह तो प्रथम द्वार है। इसके आगे है—सूक्ष्म शरीर। वे दो हैं—वैक्रिय और आहारक। ये स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म हैं। वैक्रिय शरीर की क्रियाए नानारूपो मे प्रकट होती हैं। हमारे स्थूल शरीर की क्रिया एक ही है, अर्थात् वह एक रूप मे दीखता है। वह रूप नही बदल सकता। किन्तु वैक्रिय शरीर मे वह शक्ति होती है कि वह नाना रूपो मे बदल सकता है। यदि आवश्यकता हुई तो वह एक कमल पुष्प मे समा सकता है और आवश्यकता पडने पर वह विष्णुकुमार की भाति एक लाख योजन का रूप बना सकता है। आवश्यकता होने पर पशु-पक्षी के रूप भी धारण कर सकता है। यह सूक्ष्म शरीर नानारूप धारण करने मे समर्थ होता है।

एक है आहारक शरीर। यह भी सूक्ष्म है। यह है विचारो का सवाहक शरीर। मेरे मन मे विचार आया कि अमुक व्यक्ति से मिलना है, अमुक व्यक्ति से बातचीत करनी है। वह यहा नही है, कही दूर रह रहा है। उससे कैसे मिलू ? कैसे बातचीत करू ? उसी समय सकल्पमात्र से एक सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। उसका सस्थान छोटा होता है। वह शरीर हजारो मील की दूरी क्षण भर मे तय कर ईप्सित व्यक्ति के पास पहुच जाता है। उसके सामने मेरा प्रश्न रखता

है। उत्तर प्राप्त करता है और पुन मेरे शरीर मे प्रविष्ट होकर समाहित हो जाता है। यह सारी क्रिया इतने अल्प समय मे निष्पन्न होती है कि व्यक्ति को यह पता नही लगता कि इस सारी क्रिया मे इतना समय लगा है। यह आहारक शरीर का कार्य है। यह है विचारो का सवाहक शरीर। यह है विचारो को ले जाने वाला और लाने वाला शरीर।

उसके आगे दो सूक्ष्मतम शरीर और हैं। एक है तैजस शरीर और एक है कार्मण शरीर। शरीर के तीन ग्रुप हो गए—

- स्थूल शरीर—औदारिक शरीर—हाड-मास का शरीर।
- सूक्ष्म शरीर—वैक्रिय शरीर—नानारूप बनाने मे समर्थ शरीर।
  आहारक शरीर—विचार-सवाहक शरीर।
- सूक्ष्मतम शरीर—तैजस शरीर—तापमय शरीर।
  कार्मण शरीर—कर्ममय शरीर।

तैजस शरीर तापमय शरीर है। वह हमारी उष्मा, सक्रियता और शक्ति का सचालक है। यह न हो तो उष्मा पैदा नही हो सकती, पाचन नही हो सकता, रक्त का सचारण नही हो सकता। यह तैजस शरीर ही हमारे स्थूल शरीर की सारी क्रियाओ का सचालन करता है। स्थूल शरीर मे शक्ति का सबसे बडा भण्डार है तैजस शरीर। जिसका तैजस शरीर मद है, अग्नि मद है, उसकी सारी क्रियाए मद हो जाती है। अग्नि तीव्र है तो सारी क्रियाए तीव्र हो जाती है। आज के विज्ञान ने इस तथ्य को भली-भाति पकड लिया है। डॉ० स्टीहाक ने यह प्रतिपादन किया था कि सूर्य का प्रकाश हमारे भोजन की पूर्ति करता है। सूर्य का ताप हमारे खाद्य का पूरक है। यदि सूर्य का ताप न मिले तो हम केवल खाद्य पर जीवित नही रह सकते। माइकेल और उसके कुछ सहयोगियो ने चूहो पर प्रयोग किए। उन्होने अठारह चूहे चुने। बारह चूहो को भोजन दिया जिसमे सारे तत्त्व मौजूद थे। किन्तु उसमे कैल्शियम, फासफोरस आदि नही थे। खाद्य मे पूरे तत्त्व न होने के कारण चूहे बीमार हो गए। उनको अधेरे कमरे मे रखा गया। वे बीमार ही रहे। फिर उन्हे सूर्य की धूप मे रखा। वे एक-दो दिन मे स्वस्थ हो गए। भोजन वही कमीवाला चलता रहा।

दूसरे चूहो को कम तत्त्वो वाला भोजन दिया गया। वे बीमार हो गए। इस बार उन्हे धूप मे नही छोडा। उन्हे बन्द कमरे मे ही रखा गया। किन्तु उन्हे जो भोजन दिया जा रहा था, उसे बहुत समय तक सूर्य की धूप मे रखा जाता था। दो-चार दिनो मे वे चूहे स्वस्थ हो गए। तब डॉक्टर इस निष्कर्ष पर पहुचे कि सूर्य का ताप भोजन को केवल पचाता ही नही है, वह स्वय खाद्य है और भोजन का पूरक है। सूर्य के प्रकाश के बिना वनस्पति का विकास नही होता। मनुष्य के शरीर का भी विकास नही होता और भोजन का भी पाचन नही हो सकता।

इन वैज्ञानिक प्रयोगो के आधार पर एक विचार मन मे आया। जैन परपरा मे मुनियो के आतापना लेने की बात सर्वसामान्य है। अनेक मुनि आतापना लेते थे। वे सूर्य का ताप घटो तक लेते। वे दो-दो, तीन-तीन दिन तक नही खाते। उनकी भूख कम हो जाती। भोजन की पूर्ति सूर्य के आतप से हो जाती। वे इस रहस्य को जानते थे, इसलिए इस क्रिया मे सलग्न हो जाते थे। आतापना के तीन प्रकार है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। मुनि अपनी शारीरिक शक्ति के अनुसार इनमे सलग्न होते थे। भोजन की पूर्ति जो स्थूल साधनो से होती है वह सूय के ताप से सहज ही हो जाती है। सूर्य के ताप से पूरा भोजन ही प्राप्त हो जाता है। आतप का सेवन करते समय मुनि केवल एक लगोटी कपडा रखते हैं और अधिक से अधिक अपन शरीर को धूप मे अनावृत रखते है। सूर्य की रश्मिया सारे रोमकूपो से शरीर मे प्रविष्ट होती हैं और अनेक केन्द्रो को सक्रिय करती हैं। आज लोग ज्यादा से ज्यादा वस्त्रो मे लदे रहते हैं। उनमे से न हवा जाती है और न प्रकाश। शरीर को ताप और प्रकाश प्राप्त नही होता।

सूर्य का ताप हमारे भोजन के खाद्य की पूर्ति तब कर सकता है जब शरीर के भीतर तैजस सक्रिय हो। जब वह निष्क्रिय होता है तब सूर्य का आतप कार्यकर नही होता। हमारे तैजस शरीर की शक्ति जागृत होनी चाहिए। तैजस शरीर के दो कार्य हैं—

१ शरीर-तत्र का सचालन।

२ अनुग्रह और निग्रह या उपघात।

हम जानते है कि कोई विशिष्टता-सपन्न व्यक्ति प्रसन्नता भरी दृष्टि से परिषद् की ओर देखता है तो सारी परिषद् अपूर्व आनन्द का अनुभव करती है और अपने आपको धन्य समझती है। प्रसन्नता भरी दृष्टि मे मिला कुछ भी नही, व्यक्ति ने दिया कुछ भी नहीं, फिर भी लोग समझते हैं, हम निहाल हो गए। बहुत कृपा हुई। अमृत बरसा। भरत बाहुबली महाकाव्य मे कवि पुण्यकुशल ने लिखा है—'नृपा प्रसीदन्ति दृशैव नो गिरा'—राजा आखो से प्रसन्नता बरसाते हैं, वाणी से नही। वे इस प्रकार की दृष्टि फेंकते है कि सामने वाला अपने आपको अनुगृहीत समझता है। क्या यह अनुग्रह उसकी दृष्टि से निकलता है? दृष्टि से निकलता है, पर वह दृष्टि मे नही है। वह तो तैजस शरीर मे है। उस व्यक्ति का तैजस शरीर इतना अनुग्राहक, प्रभावशाली या तीव्र हो जाता है कि वह जिस व्यक्ति की ओर देखता है वह व्यक्ति सुधा-स्नात जैसा अपने को अनुभव करने लगता है।

दूसरा कार्य है—निग्रह करना, उपघात करना। तैजस शरीर मे निग्रह करने की भी प्रबल शक्ति होती है। उसमे इतनी क्षमता होती है उपघात की कि वह एक बार किसी ओर क्रूर दृष्टि से देखता है तो हजारो-हजारो व्यक्ति काप उठते

है। यह उसकी उपघातक शक्ति हमारे सामने आती है। इस प्रकार तैजस शरीर अनुग्रह और निग्रह करने मे सक्षम होता है।

कार्मण शरीर सूक्ष्मतम शरीर है। यह कर्म-शरीर है। यह सभी शरीरो का मूल आधार है। यह है तभी तैजस शरीर है, वैक्रिय और आहारक शरीर है और स्थूल औदारिक शरीर है। अगर यह नही है तो कोई भी शरीर नही है। यह स्थूल शरीर मृत्यु के बाद छूट जाता है, कार्मण नहीं छूटता। यह जब छूटता है तब हम कहते हैं उसका मोक्ष हो गया। वह मुक्त हो गया। कार्मण शरीर का विच्छेद एक बार होता है। स्थूल शरीर का विच्छेद अनेक बार होता है।

छोटी-सी घटना है। मक्खी और चीटी मे विवाद हुआ। मक्खी ने चीटी से कहा—'तुम कहा-कहा पहुच पाती हो। तुम्हारी गति की सीमा है। मैं तो हर स्थान पर पहुच जाती हू। जहा भगवान् को भोग लगता है वहा भी पहुच जाती हू। मेरी गति निर्बाध है।' चीटी ने कहा—'पहुच जाना एक बात है और निमत्रण-पूर्वक पहुचना एक बात है। तुम जहा भी जाती हो, उडा दी जाती हो, ठुकराई जाती हो, तिरस्कृत होती हो।'

मक्खी की भाति है हमारा शरीर। जितनी बार हम छोडते है, पुन आगे तैयार मिलता है। कार्मण शरीर वैसा नही है। वह सहजतया छूटता ही नही। जब एक बार छूट जाता है तो फिर उससे सदा के लिए छुटकारा ही मिल जाता है। यह भावना का शरीर है, यह वासना का शरीर है, यह सस्कार का शरीर है, इससे मुक्ति पाना कठिन होता है।

हमारा काम इस स्थूल शरीर से है। साधना का मतलब है कि हम इस स्थूल शरीर की शक्तियो को जागृत करे और साथ-साथ सूक्ष्म शरीरो की शक्तियो को भी सक्रिय करें। स्थूल शरीर से लाभ उठाए और सूक्ष्म शरीर से भी लाभ उठाए।

मनोविज्ञान चेतन मन और अवचेतन मन का प्रतिपादन करता है। चेतन मन मे जितनी शक्ति है उससे अनन्तगुनी शक्ति है अवचेतन मन मे। चेतन मन चालाक है। अवचेतन मन भोला है, पर है अनन्तशक्ति का भण्डार। यह काम करना है, यह नही करना है, चेतन मन आपकी बात सुन लेगा परन्तु करेगा वही जो पहले जचा हुआ है। अवचेतन मन ऐसा नही है। अवचेतन मन को आप जो कहेगे, और यदि उसने उस बात को पकड लिया तो वही करेगा जो आपने कहा है। जैसे चेतन मन और अवचेतन मन का अन्तर है वैसे ही स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का अन्तर है। स्थूल शरीर की शक्ति एक पैसा है तो सूक्ष्म शरीर की शक्ति निन्यानवे पैसा है। कितना बडा अन्तर है? सूक्ष्म शरीर को जागृत करने का अर्थ है—विद्युत् भण्डार का निर्माण करना। किन्तु हमे चलना होगा इसी स्थूल शरीर से। हमारी शक्तियो को प्रकट करने का यह पहला साधन है। साधना की दृष्टि

से इस शरीर का मूल्य है। बहुत सारी दृष्टियों से हमने इसका बहिष्कार किया क्योंकि यह हमें वासना की ओर प्रेरित करता है। हमारे साहित्यकारों ने जीभ को, आंख को हजारों गालियां दी हैं, बुरा-भला कहा है। कुछ साधकों ने कहा कि आंख को फोड़ देना ही बहुत बड़ी साधना है, क्योंकि यह विकृति का सशक्त माध्यम है। आंखों को फोड़े बिना साधना नहीं हो सकती। वे सचमुच आंख को फोड़ देते हैं, सदा-सदा के लिए अंधे हो जाते हैं।

साधना के लिए शरीर का उपयोग क्या है? शरीर के दो मुख्य भाग हैं—मस्तिष्क और सुषुम्ना। मस्तिष्क सारे शरीरतन्त्र का नियामक और संचालक है। आंख देखती है। देखने का तंत्र मस्तिष्क में है। कान सुनता है। सुनने का तंत्र मस्तिष्क में है। सारे ज्ञान का ग्राहक और संचालक संस्थान है—मस्तिष्क। सारी स्मृतियां यहां संगृहीत हैं। मस्तिष्क को जागृत करना स्मृतिकोषों को जागृत करना है। हमारा मस्तिष्क बहुत शक्तिशली है। अरबों कोष हैं, जहां अरबों संस्कार संगृहीत हैं। स्मृतियां संगृहीत हैं। अवधान विद्या उन्हीं स्मृतिकोषों का चमत्कार है।

नंदीसूत्र में मतिज्ञान का विस्तार से वर्णन है। वहां उसके बारह प्रकार निर्दिष्ट हैं—बहुग्राही, क्षिप्रग्राही आदि-आदि। ये सारे मस्तिष्क की शक्ति के द्योतक हैं। उनका विवेचन समय-सापेक्ष है। आज यह बात स्पष्ट हो गयी है कि हमें हमारे स्थूल शरीर की शक्तियों के विषय में पूरी जानकारी होनी चाहिए। हमारे शरीर में मस्तिष्क, पृष्ठरज्जु, कंठ, भृकुटी, तालू, नासाग्र, नाभि, मूलबंध का स्थान तथा पैर के अंगूठे—ये मुख्य केन्द्र हैं। इनको जानना आवश्यक है। इनके द्वारा हम स्थूल शरीर को जागृत करें और इसकी जो शक्तियां हैं उनसे लाभान्वित हों। यह कहा जा सकता है कि यदि हम स्थूल शरीर की शक्तियों के लाख विभाग करें तो हम वर्तमान में केवल दो-चार विभागों की शक्तियों का ही उपयोग कर पाते हैं। शेष शक्तियां सुषुप्त रहती हैं, जागृत नहीं होतीं। हमें इस शक्ति का बोध होना चाहिए।

धर्म ने यही तो कहा अध्यात्म ने यही तो बताया, साधना यही तो सिखाती है कि तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो। तुम अपनी शक्ति-संपदा को देखो, समझो और उसका अनुभव करो। तुम व्यर्थ ही भिखारी बनकर दर दर क्यों भटकते हो। क्यों भीख मांगते हो? यह भान तभी हो सकता है जब हमें शरीर का पूरा बोध हो। हम शरीर की उपेक्षा न करें, उसकी अपेक्षा के अनुरूप उसे सम्मान दें, आदर दें।

१७

प्राण और उसका कार्य-क्षेत्र

एक छोटा-सा जैन विद्यार्थी भी यह जानता है कि हमारे शरीर मे दस प्राण है। वह उनकी परिभाषा भी जानता है और उनके कार्यों को भी। हमारी सारी व्यवस्था अहिंसा पर आधारित है। हिंसा के लिए एक शब्द है—प्राणातिपात। प्राण का विनियोजन करना हिंसा है। प्राणी, प्राण और प्राण का विनियोजन—ये तीनो जुडे हुए है। प्राणी इसीलिए है कि वह प्राणो को धारण किये हुए है। अगर प्राण न हो तो आत्मा प्राणी नही बन सकती। आत्मा की जो प्राणी की अवस्था है वह प्राण-धारा के कारण बनती है। प्राण जीवन के मुख्य केन्द्र है। हमे यह समझना है कि साधना की दृष्टि से प्राणो का क्या मूल्य है? प्राण एक धारा है, प्रवाह है शक्ति का। वह प्रवाह हमारे समूचे शरीर मे प्रवाहित हो रहा है। उसके द्वारा ही जीवन का सचालन हो रहा है। यथार्थ मे प्राण दस नही है, प्राण-धारा एक ही है। किन्तु वे विभिन्न कार्यो को सपादित करते है, इसलिए अनेक हो जाते है। प्राण के मुख्य केन्द्र दस बने हुए है, इसलिए प्राण दस है। जो जीव एक इन्द्रिय वाला है, उसमे भी प्राण होते है। जो जीव पाच इन्द्रिय वाला है, उसमे भी प्राण होते है। प्राणो की सख्या मे अन्तर आ जाता है, प्राणशक्ति मे अन्तर नही आता।

प्राणो के दस केन्द्र है। यदि हम कहे कि शरीर मे दस प्राण है, इसका तात्पर्य है कि प्राणशक्ति से सचालित होने वाले दस केन्द्र है। पाच इन्द्रिय, मन, वचन और काया तथा श्वासोच्छ्वास और आयुष्य—ये दस प्राण है। इन दस प्राणो का स्थान कौन कौन सा है? प्राण की धारा जो अपने केन्द्रो को शक्ति देती है उसका स्थान कहा है? सेण्टर कहा है? दसो प्राणो को शक्ति देने का केन्द्र हमारे मस्तिष्क मे है। मस्तिष्क मे ही सारी शक्तिया केन्द्रित है। आप देखेंगे—भूख का एक केन्द्र है, गध का एक केन्द्र है, श्वास का एक केन्द्र है, चिन्तन, सवेदना आदि का एक केन्द्र है, ये सारे केन्द्र मस्तिष्क मे है। इसका अर्थ है—हमारी छहो पर्याप्तियो का केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क मे है। पर्याप्तिया पौद्गलिक रचना है। पर्याप्ति एक सघटन है। उसमे क्षमता है। उस केन्द्र मे जब प्राण की धारा

सचारित होती है तब वह सक्रिय हो जाता है। पर्याप्ति प्राण का रूप ले लेती है। इसीलिए हम मानते हैं कि पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य। दोनो मे सबध है। मूल प्राण क्या है—यह जटिल प्रश्न है। एक है प्राणवायु और एक है प्राण। दोनो एक नही हैं। बहुत बार हम प्राणवायु को ही प्राण मान लेते हैं। पर दोनो दो हैं, एक नही है। जो वायु हम लेते हैं, उसमे सारा प्राण नही होता। हम श्वास ले रहे हैं, प्राण नही ले रहे हैं। श्वास छोड रहे है, प्राण नही छोड रहे हैं। प्राणायाम कर रहे है—प्राण का आयाम नही कर रहे हैं, प्राणवायु का आयाम कर रहे हैं। यह जितना लेना-छोडना है, वह वायु का है, प्राण का नही। प्राण तो हमारी सूक्ष्म धारा है, जो हमारे शरीर के भीतर ही सारा कार्य सचालित करती है। प्राण आत्मशक्ति से आता है, तैजस शरीर के रूप मे। प्राणवायु का चेतना के साथ सीधा सबध नही जुडता, पर प्राण का चेतना के साथ सीधा सबध जुडा हुआ है। हमारा तैजस शरीर सारी ऊष्मा पैदा करता है। उसका जीवन के साथ निकट सबध है, स्थूल शरीर का नही है। एक ओर जीव की तैजस शक्ति और दूसरी ओर चैतन्य—इन दोनो का योग होते ही प्राण की उत्पत्ति हो जाती है। प्राण मे चैतन्य का प्रवाह है। प्राणवायु मे चैतन्य का प्रवाह नही है। प्राण एक यौगिक शक्ति है।

हमारे शरीर मे एक केन्द्र है। जहा सुषुम्ना का निचला सिरा समाप्त होता है, उसके नीचे एक केन्द्र है। वह केन्द्र प्राणशक्ति का उत्पादक है। प्राणशक्ति को प्रकट करने और उसको सचारित करने का मुख्य स्थान है वह केन्द्र। प्राणशक्ति सुषुम्ना से होकर विभिन्न मार्गों मे सचारित होती है और मस्तिष्क तक जाती है। प्राणशक्ति ऊपर से नीचे की ओर नही जाती, नीचे से ऊपर की ओर जाती है। यह शक्ति जितनी अधिक नीचे से ऊपर की ओर जाती है, मनुष्य उतना ही स्वस्थ होता है—शरीर से भी और मन से भी। प्राणशक्ति का प्रवाह कम होता है तो मनुष्य रुग्ण हो जाता है, शरीर से भी और मन से भी।

प्राणशक्ति को ज्ञानकेन्द्र मे ले जाना—यही हमारी प्राण की साधना का अर्थ होता है। लुहार धौंकनी धौंकता है। उससे हवा निकलती है। अग्नि प्रज्वलित होती है। एक तो धौंकनी से हवा निकलती है और एक अग्नि जलती है। हवा और आग एक नही है, किन्तु जितनी तेज हवा होगी उतनी ही तेज अग्नि भी हो जाएगी। इसी प्रकार प्राणवायु प्राण को उत्तेजित करती है सहायता देती है। हम जितनी मात्रा मे प्राणवायु (ऑक्सीजन) लेंगे उतना ही प्राणविशुद्ध होगा, सक्रिय होगा। यदि प्राणवायु नही मिलेगी तो प्राण मे उत्तेजना नही आएगी, सक्रियता नही आएगी। इसका शरीरशास्त्रीय कारण यह है—हमारे शरीर मे रक्त का सचार हृदय के द्वारा होता है, फिर फेफडो मे जाकर सारे शरीर मे जाता है। हृदय और फेफडा—ये हृदय मे रक्त-सचार के दो मुख्य साधन है। पोषण

जो फेफडे मे होता है रक्त का, उसके लिए ईंधन चाहिए। वह ईंधन है प्राणवायु, ऑक्सीजन। अगर प्राणवायु ठीक मिलेगा तो अशुद्ध रक्त को शुद्ध कर कार्वन आदि को शरीर से वाहर कर दिया जाएगा और शुद्ध रक्त अन्दर प्रवाहित होगा। अगर प्राणवायु नही मिला तो रक्त विकृत रहेगा और वह सारे शरीर को विकृत कर देगा। प्राणवायु रक्त शुद्धि का साधन है और शुद्ध रक्त सारे शरीर को गति देने वाला है। प्राण के साथ उसका सवध गहरा हे। प्राणवायु रक्त के माध्यम से प्राण को भी उत्तेजित करता है, सक्रिय करता है। पौधा है। उसे यदि पानी का पर्याप्त सिचन मिलेगा तो वह लहलहा उठेगा। इसी प्रकार प्राणवायु का पर्याप्त सिंचन मिलने पर प्राण का पौधा भी लहलहा उठता है। पूरा सिंचन न मिलने पर वह पौधा कुम्हला जाता है। आदमी निष्प्राण और निष्क्रिय हो जाता है।

जहा प्राण वायु पहुच नही पाएगी, रक्त का शोधन नही होगा और शोधन के अभाव मे गदगी जमती जाएगी। जो प्राणायाम को जानता है वह सबमे पहले यह प्रयत्न करता है कि फेफडे मे अधिकाधिक वायु कैसे पहुचाया जाए ? लवा श्वास कैसे लिया जाए ?

प्राणवायु को ठीक से लेने का साधन है—प्राणायाम। जो प्राणायाम को नही जानता, वह प्राणवायु को पूरी मात्रा मे ग्रहण नही कर सकता। तीनो वाते जुडी हुई है—प्राण, प्राणवायु और प्राणायाम। प्राणायाम के विना प्राणवायु का सम्यक् गहण नही होता और प्राणवायु के बिना प्राण का सम्यक् उद्दीपन नही होता। आखिर हम प्राणायाम पर आ जाते हैं। प्राणायाम एक माधन है। यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसको सम्यक् जाने बिना प्राणवायु को नही जान सकते। योग के आचार्यों ने जो कुछ इस विषय मे लिखा था, आज का विज्ञान उससे सहमत होता जा रहा है।

हम प्राण से चले, प्राणवायु पर आए और प्राणायाम तक पहुचे। अब हमारी यात्रा उल्टी शुरू होती हैं। हम प्राणायाम से चलते है। हमारा प्राणायाम का अभ्यास अच्छा होना चाहिए। प्राणवायु स्वय सध जाएगा। प्राणवायु को कितनी मात्रा मे लेना चाहिए, प्राणवायु कहा तक पहुच रहा है, इसका भी ज्ञान होना चाहिए। प्राणवायु को ठीक से लेते हैं तो प्राण को सक्रिय करने की क्षमता जागृत हो जाती है। प्राणशक्ति के आधार पर योगीजन विचित्र प्रकार के काम कर दिखाते है। तैजस शरीर मे अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति होती है। तैजस-लब्धि सपन्न व्यक्ति जला सकता है, नष्ट कर सकता है, मार सकता है तो वह अनुग्रह भी कर सकता है, दे भी सकता है। उसमे देने की भी क्षमता होती है। ये सारी प्राणशक्ति की क्रियाए है। प्राण का सवध है तैजस से। यह होता है तब प्राणायाम से ली गयी प्राणवायु की अग्नि के द्वारा प्राण को इतना उद्दीप्त कर दिया जाता है, प्राण इतना ज्वलित हो जाता है कि उसमे अद्भुत क्षमताए प्रकट

हो जाती हैं। इस दृष्टि से प्राणायाम का बहुत बड़ा महत्त्व है।

प्राण के सारे केन्द्र मस्तिष्क में हैं किन्तु प्राण की धारा के दो मार्ग हो सकते हैं। उसका एक बाहरी रास्ता है और एक भीतरी रास्ता है। बाहरी रास्ता है आगे का। आगे के रास्ते से प्राणशक्ति जाती है तो वह हमारे शरीर तंत्रों को सक्रिय बनाती है। हमारी जो नॉर्मल शक्ति है, वह उसी से उत्पन्न होती है। वह अतिरिक्तता नहीं लाती। वह हमारे इन प्राण-केन्द्रों को सक्रिय करती है और जीवन-यात्रा को सही ढंग से चलाती है। जब हम प्राणशक्ति के प्रवाहित होने वाले इस मार्ग को बदल देते हैं तो वहां भिन्न प्रकार की शक्ति पैदा होती है।

प्राणधारा के प्रवाहित होने का भीतरी रास्ता है—'महावीथी'। यह शब्द आचारांग में आया है—'पणया वीरा महावीहिं'। न जाने सूत्रकार का आशय क्या था? व्याख्याकारों का आशय क्या था? किन्तु ऐसा लगता है कि यह सूत्र प्राणधारा को पृष्ठरज्जु से ऊर्ध्वगामी बनाने का सूत्र है। इसका अर्थ है—जो वीर हैं व महापथ से चल पड़े हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में सुषुम्ना का एक पर्यायवाची नाम है—'महापथ'। लगता है—महावीथि और महापथ एक हैं। वीर वे होते हैं जो महावीथि पर चल पड़ते हैं। सुषुम्ना के मार्ग से जाना किसी वीर का ही कार्य है। सामान्य मनुष्य उस मार्ग से नहीं जा सकता। सुषुम्ना के मार्ग से जाती हुई प्राणधारा, सुषुम्ना के कोणों में रही हुई शक्ति को समेटती हुई ले जाती है और अधिक शक्तिशाली बन जाती है। ये प्राणधारा के दो मार्ग हैं—अग्रगामी या बाहरी और पृष्ठरज्जुगामी या भीतरी।

प्राणायाम करने वाला, प्राणवायु के मर्म को समझने वाला साधक प्राणवायु से प्राण को उत्तेजित करता है। फिर कुंभक कर सुषुम्ना के मार्ग पर धक्के लगाता है, फिर प्राण को ऊपर ले जाता है। जितनी मात्रा में प्राण ज्ञानकेन्द्र तक सहस्रार तक पहुंचता है, उतना ही हमारा बौद्धिक और आन्तरिक विकास होता है। प्राणधारा नीचे की ओर बहती है, मन के साथ उसकी गति होती है तो आवेश और वासनाएं उभरती हैं। प्राण और मन का गहरा संबंध है। प्राणधारा नीचे जाती है तो मन भी नीचे जाता है। प्राणधारा ऊपर जाती है तो मन भी ऊपर जाता है। मन नीचे जाता है तो प्राणधारा भी नीचे जाती है। मन ऊपर जाता है तो प्राणधारा भी ऊपर जाती है। इसलिए जरूरी है कि हम मन को ऊर्ध्वगामी बनाएं, प्राणधारा को ऊर्ध्वगामी बनाएं।

१८

आहार : अनाहार

हमारे जीवन की सारी प्रवृत्तियो का आधार है—शरीर और शरीर का आधार है—आहार, भोजन। आहार के बिना शरीर नही चलता और शरीर के बिना प्रवृत्ति नही होती। मै अगुली हिला रहा हू। वह भी आहार के बिना नही हिलती। आहार लिये बिना सोचा नही जा सकता। आहार लिये बिना बोला नही जा सकता। श्वास भी नही लिया जा सकता। आप यह न माने कि मैने पाच घटा पहले जो आहार कर लिया था उसके आधार पर अगुली हिला रहा हू। अभी अगुली हिला रहा हू तो अभी आहार लेकर अगुली हिला रहा हू। अभी मैं बोल रहा हू तो साथ-साथ आहार भी लेता जा रहा हू। अभी मै सोच रहा हू तो आहार लेकर ही सोचता जा रहा हू। शरीर की प्रवृत्ति जिस क्षण मे होती है, उसके पहले क्षण मे हमे आहार लेना होता है। आहार लेने के बाद ही हमारी प्रवृत्ति होती है। आहार का अर्थ है—बाहर से लेना। बाहर से लिये बिना कोई भी प्रवृत्ति नही हो सकती।

गौतम ने महावीर से पूछा—'भते ! एक समर्थ मुनि है। वह वैक्रिय रूपो का निर्माण कर रहा है। वैक्रिय शक्ति का प्रयोग कर रहा है। अपने ही जैसे रूपो का निर्माण कर रहा है। किन्तु क्या वह आहार लिये बिना, बाह्य पुद्गलो को ग्रहण किये बिना ऐसा कर सकता है ?'

महावीर ने कहा—'गौतम ! मुनि कितना ही शक्तिशाली हो, किन्तु बाहर के पुद्गलो को लिये बिना वह ऐसा नही कर सकता। वह बाहर से आहार लेकर ही ऐसा कर सकता है।'

मैं मानता हू कि आप आहार की बात को पूरी नही समझ पा रहे है। इसका भी कारण है। हमने मुह से खाने वाले खाद्य को ही आहार मान रखा है, और कोई आहार जैसा लगता ही नही। किन्तु सचाई कुछ और है। मुह से खाया जाने वाला पदार्थ हमे जितनी शक्ति देता है, उससे अधिक शक्ति दूसरे-दूसरे तत्त्व [illegible] जो आहार के रूप मे ग्रहण किए जाते है। आहार का अर्थ है—लेना,

खींचना, आहरण करना। हम मुह मे लेते हैं। कितनी बार? सामान्यत दो बार। अधिक से-अधिक दस-बीस बार। किन्तु यह बहुत स्थूल बात है। सूक्ष्म बात यह है कि हम क्षण-क्षण मे आहार लेते हैं। उस आहार के बिना हमारा जीवन चल भी नही सकता। जैन परिभाषा मे उसकी सज्ञा है—'रोम आहार'। जो मुह मे लिया जाता है, वह है—'कवल आहार' और जो शरीर के रोम-रोम मे लिया जाता है, वह है 'रोम आहार'। वास्तव मे यही हमारे जीवन का आधारभूत आहार है। इसके बिना जीवन चल नही सकता। मुह से खाए बिना तीस, चालीस, पचास दिन जी भी सकते हैं किन्तु रोम आहार के बिना जी नही सकते।

पहला आहार है—कवल आहार, दूसरा है—रोम आहार और तीसरे प्रकार का आहार है— मनो आहार, मानसिक आहार। इसमे न शरीर की जरूरत है, न कवल की जरूरत है और न रोम की जरूरत है। मन मे सकल्प किया और आहार की पूर्ति हो गयी। वह है—मनोभक्षी आहार, मानसिक आहार। ये तीन प्रकार के आहार हैं—कवल आहार, रोम आहार और मनो आहार। ये हमारे शरीर को नया स्वरूप प्रदान करते हैं और हमारी स्थूल धारणाओ को मिटाते हैं। आहार के विषय मे आज अनेक भ्रान्तिया पैदा हो गयी हैं। उनके कारण मनुष्य अनेक कठिनाइया भुगत रहा है। क्योकि उसने यह अतिम सत्य मान लिया कि जो मुह से खाया जाता है, वही पर्याप्त है जीवन के लिए। यह पर्याप्तता का भ्रम हो गया। आज सतुलित आहार'—यह शब्द बहुत प्रचलित है। सतुलित आहार का अर्थ है – वैसा भोजन जिसमे सभी तत्त्व सतुलित मात्रा मे विद्यमान हो। यह आहार-शास्त्रियो का अभिमत है। योगशास्त्रियो का अभिमत उससे भिन्न है। उनके अनुसार सतुलित आहार वह होता है जिसमे ये चार तत्त्व पाए जाते हैं—खाद्य, तेल, वायु और प्रकाश। शरीरशास्त्रियो द्वारा प्रस्तुत सतुलित आहार की परिधि मे खाद्य और तेल,—ये दो ही आते हैं, शेष दो छूट जाते हैं। मैं मानता हू कि यथार्थ मे वह आहार सतुलित नही हो सकता जिसमे वायु और प्रकाश (धूप) को स्थान न हो। आपका प्रश्न हो सकता है कि खाद्य और तेल से भूख शान्त होती है, जठराग्नि शान्त होती है, फिर वायु और धूप से प्रयोजन ही क्या है? क्या उनसे भूख शान्त होगी? क्या उनसे भूखा पेट भर जाएगा? और यदि उनसे पेट भर जाता हो तो विश्व की बहुत बडी समस्या समाहित हो सकती है। आज का अभाव मिट सकता है। मैं आपको पूर्ण विश्वास दिलाना नही चाहता कि उनसे पेट भर जाता है किन्तु मुझे विश्वास है कि मेरी बात पूरी सुनने के बाद आप इससे सहमत हो जाएंगे कि उनसे पेट भरता है।

मैं पहले धूप की बात लेता हू। धूप का प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है। आपके शरीर को विटामिन 'डी' की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता ह[illegible]

को इसकी। विटामिन 'डी' जितना अच्छा सूर्य की रश्मियो से प्राप्त होता है उतना किसी से भी प्राप्त नही होता। हमारी चमडी के आस-पास एक ऐसा द्रव्य है जिस पर सूर्य की रश्मिया पडती हैं और वहा विटामिन 'डी' स्वत उत्पन्न हो जाता है। सूर्य की रश्मिया विटामिन 'डी' की पूर्ति करती है। शरीर पर पडने वाली सूर्य की किरणें कैल्शियम और फासफोरम की भी पूर्ति करती हैं। शरीर को इन दोनो की आवश्यकता होती है। प्राकृत चिकित्सा का यह अभिमत है कि मनुष्य को जगल मे जाकर दिन मे कुछ समय तक निर्वस्त्र रहना चाहिए, नग्न होकर घूमना चाहिए, धूप का पूरा सेवन करना चाहिए। इससे शरीर की अनेक कमिया पूरी होगी। साधना के क्रम मे जो नग्नता का क्रम था, वह अनावश्यक नही था, मूर्खतापूर्ण नही था। वह बहुत आवश्यक था और बहुत सोच-विचारपूर्वक निर्धारित किया गया था। शारीरिक और मानसिक साधना की दृष्टि से नग्न रहने के जितने लाभ हैं, उतने लाभ सवस्त्र मे नही है। उत्तराध्ययन सूत्र मे बहुत स्पष्ट शब्दो मे उल्लिखित है कि—नग्नता (प्रतिरूपता) से हल्कापन आता है। हल्केपन से अप्रमाद, जितेन्द्रियता, विपुल तप आदि-आदि प्राप्त होते हैं।

शारीरिक और वैज्ञानिक दृष्टि से अब हम कुछ सोचे। निर्वस्त्र रहने से धूप हमारे समूचे शरीर पर पडती है। वह धूप हमारे आहार की पूर्ति करती है। विज्ञान का भी यही अभिमत है। धूप खाद्य का पूरक तत्त्व है। आतापना लेने वाले, धूप का सेवन करने वाले व्यक्ति के आहार की मात्रा कम हो जाती है। आतापना के विषय मे जितने तथ्य जैन साहित्य मे उपलब्ध हैं, वे अन्यत्र नही मिलते। वहा बहुत विस्तार से इसका विवेचन है। वहा उल्लेख मिलता है—जो आतापना लेता है उसके आहार की मात्रा कम हो जाती है, आवश्यकता कम हो जाती है। वह अधिक भोजन नही कर सकता क्योकि बहुत सारी आवश्यकता धूप मे पूरी हो जाती है। आतापना का कितना मूल्य था, कितना बडा अर्थ था, उसे हमने भुला दिया। आज के आहारशास्त्री भी यह मानने लगे है कि जो मनुष्य धूप और वायु से वचित रहता है वह जान-बूझकर कठिनाइया उत्पन्न करता है। वे कहते हैं—जगल मे चले जाओ। सारे कपडे उतार दो। लगोटी भी न रहने पाए। भूमि पर लेट जाओ। शरीर धूप से जले तो जलने दो। कोई हानि नही होगी। यदि जलन मे बचाना चाहो तो शरीर पर पतला कपडा रख लो या मिट्टी रख लो। सीधा सपर्क बना रहे ज़मीन के साथ, सूर्य के साथ। यह है आतापना की क्रिया। इसे हठयोग की क्रिया समझना मूर्खतापूर्ण है। यह जीवन-धारण के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण क्रिया है।

अब हम वायु पर विचार करें। हम जो खाते हैं, प्राणवायु के बिना उसका अर्थ कम हो जाता है। जो पूरी मात्रा मे प्राणवायु नही लेता, उसको अधिक मात्रा

मे आहार लेने की आवश्यकता होती है। जो पूरी मात्रा मे प्राणवायु ग्रहण करता है, उसकी खाने की मात्रा कम हो जाएगी।

इस विषय पर यदि हम गहराई मे जाकर सोचते हैं तो ऐसा लगता है कि हमारे शरीर मे मुख्यत चार तत्त्व है—पृथ्वी पानी, अग्नि और वायु। शरीर मे इन चारो की अपेक्षा होती है। इनको पूरा करना पडता है। खनिज के रूप मे पृथ्वी तत्त्व की आवश्यकता है। हमारे शरीर के लिए लोहा आवश्यक है, शीशा आवश्यक है, चादी आवश्यक है, सोना आवश्यक है। ये सारी धातुए आवश्यक हैं। हम दूध पीते हैं। दूध म अभ्रक होता है। हम जीरा खाते हैं। जीरे मे लोहा होता है। मा के दूध मे बहुत अच्छी चादी होती है। हम साग खाते हैं। उनमे बहुत सारे खनिज होते हैं। मनुष्य स्वर्ण भस्म, रजत भस्म, लोह भस्म औषधि के रूप मे लेता है। वह पूरी उपयोगी नही होती। अधिकाश भाग व्यर्थ चला जाता है। इसीलिए कहा गया है कि खनिजो को भस्म के रूप मे नही किन्तु प्राकृतिक भोजन मे प्राप्त करने का प्रयास करो। इस आधार पर एक बात सूझती है – जैसे खदानो से लिया जाने वाला खनिज हमारे शरीर म एकरस नही होता, वैसे ही वनस्पति मे प्राप्त खनिज भी पूरा एकरस नही होता। इनकी अपेक्षा यदि हम मानसिक आहार के रूप मे, मानसिक सकल्प के द्वारा कोई चीज विकसित कर सकें तो वे हमारे साथ सुगमता से एकरस हो सकेंगी। इस पर प्रयोग करना चाहिए। प्रयोग लबा हो सकता है। मनोभक्षी आहार की बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह सूक्ष्म है। पर सकल्प के द्वारा उसे विकसित किया जाए तो बहुत सारे तत्त्वो की पूर्ति हम मन से कर सकेंगे। मन के द्वारा पूर्ति करने मे कठिनाई हो तो उससे सरल मार्ग है वायु के द्वारा पूर्ति करने का।

भगवती सूत्र मे बतलाया गया है कि प्राणी छहो दिशाओ से आहार लेता है। वह पूर्व से, पश्चिम से, उत्तर से, दक्षिण से, ऊर्ध्व दिशा से, अधो दिशा से – इन छहो दिशाओ से आहार ग्रहण करता है। आज ये बातें केवल ग्रन्थो मे रह गयी हैं, पढने मात्र की रह गयी हैं। अनुसधान और खोज के अभाव मे इनका हार्द समझा नही जा सकता। सब ओर से हम आहार लेते हैं। क्या हम पैरो से आहार नही लेते? लेते हैं। अवश्य लेते हैं। बताया गया है—जब घूमना हो तो नगे पैर घूमो। वह भी सडक पर नही, भूमि पर। जब बीच मे जूते और सडक आ जाती है—पक्की सडक, तब पृथ्वी से साक्षात् मिलने वाला आहार प्राप्त नही होता। नगे पैरो भूमि पर घूमने से पृथ्वी के सारे तत्त्व खीच लिये जाते हैं। हम श्वास के द्वारा भी आहार लेते हैं। प्राणशक्ति को उत्तेजित करने वाले या सारे सौरमडल से विकीर्ण होने वाले तत्त्वो को हम मस्तिष्क के द्वारा भी अपने भीतर ले लेते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न दिशाओ से भिन्न-भिन्न [illegible] होने से [illegible] होते हैं [illegible] ग्रहण करते हैं। पहले तो बहुत [illegible] और [illegible] समझा जाता था,

किन्तु आज के वैज्ञानिक परीक्षणो के बाद यह तथ्य सत्य प्रतीत हो चुका है। अनेक फ्रासीसी डॉक्टर सिरहाने की दिशाओ को बदलकर अनेक रोगो की चिकित्सा कर रहे है और उन्हें इस पद्धति से बीमारी मिटाने मे आशातीत सफलताए मिली हैं। इसका भी वैज्ञानिक कारण है। सौरमडल से आने वाले जो प्रवाह हैं, वे हमारे मस्तिष्क को आकर्षित करते है, अपनी ओर खीचते हैं। जिस प्रवाह की दिशा मे मस्तिष्क होता है, उसके तत्त्व उसमे प्रवेश पा जाते हैं। इसलिए इस पद्धति का बहुत बडा महत्त्व है।

आहार का अर्थ खाना ही नही है। उसका अर्थ है—लेना, खीचना, टानना। चाहे हम मुह से, पैर से, नाक से, माथे से लें, चाहे समूचे शरीर से लें, हम जो भी बाहर से लेते है वह सारा का सारा आहार है।

इस प्रकार हम ऊपर से भी आहार लेते है, नीचे से भी आहार लेते है, आस-पास से भी आहार लेते है, दाए-बाए से भी आहार लेते हैं। हम सभी दिशाओ और विदिशाओ से आहार लेते है। वायु का आहार वायु के माध्यम से लेते है। वायु के आहार का अनुसधान किया जाए तो जो तत्त्व वनस्पति के आहार द्वारा हम ग्रहण करते हैं, वे सब वायु के द्वारा भी ले सकते है। क्योकि वायुमडल मे सब तत्त्वो के परमाणु भरे पडे है।

इस प्रकार हमारे आहार के चार मुख्य अग है—खाद्य, तेल, वायु और धप। साधना की दृष्टि से सतुलित आहार वह होता है जिसमे ये चारो तत्त्व हो। जिसमे केवल खाद्य और तेल हो, वायु और धूप का योग न हो वह सतुलित आहार नही हो सकता।

दो बातें और है, जो सतुलित आहार की श्रेणी मे तो नही है, पर उनका पूरक के रूप मे उल्लेख करना ज़रूरी है। वे दो बातें है—उपवास और मानसिक प्रसन्नता। इन दोनो के बिना आहार अर्थशून्य हो जाता है। आप आहार करते हैं परन्तु उपवास करना नही जानते, अनाहार रहना नही जानते तो आपका आहार आपके लिए कठिनाई बन जाता है। आहार ही जटिलता पैदा करता है। हम आहार करते हैं भूख की समस्या को समाहित करने के लिए और वही आहार अनेक समस्याए हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है। जो लोग केवल आहार करते हैं, उपवास नही करते, वे उपवास का मर्म नही जानते। वे समस्याओ को कम नही कर सकते। आहार के साथ अनाहार को जोडना, उपवास को जोडना भी बहुत जरूरी है। उपवास का अर्थ नही खाना भी है, कम खाना भी है, आहार की मात्रा को कम करना भी है।

खाते समय मन चिंता से मुक्त होता है तो भोजन का पाचन अच्छा होता है। प्रसन्नता का अर्थ हर्ष नही है। शोक जैसे एक आवेश है वैसे ही हर्ष भी एक आवेश है। प्रसन्नता आवेश नही है। वह चित्त की निर्मलता है। जैसे प्रसन्न

आकाश का अर्थ होता है—निर्मल आकाश, वह आकाश जो बादलो मे घिरा हुआ न हो। जो चित्त हर्ष, भय, शोक आदि आवेगो मे आक्रान्त न हो वह प्रसन्न होता है। उसम वृत्तिया शान्त होती है। खाने वाला केवल खाने मे ही लगा होता है, इसलिए चित्त की प्रसन्नता भी भोजन का एक महत्त्वपूर्ण अग है।

१६

भावना

नदी का दूसरा किनारा सामने है। कोई व्यक्ति उस तट पर जाना चाहता है। पानी गहरा है। वह तैरना नही जानता। वह नौका पर बैठकर उस तट की ओर चल पड़ता है। उस पर पहुचने का साधन है—नौका। नौका के बिना वहा पहुचा नही जा सकता। हम जिस तट पर खडे है, उससे सतुष्ट नही है। जो सामने तट दिखाई दे रहा है, वहा जाना चाहते है। जाना सरल नही है। काफी कठिनाइया है। जितनी गहराई है, उसे हम पैरो से चलकर पार नही कर सकते। हमे नौका की जरूरत है। नौका है—भावना। भावना का सहारा लेकर, भावना की नौका मे बैठकर, दूर दीखने वाले तट पर पहुच जाते है। ऐसा कोई भी तट नही है, जहा भावना की नौका मे चढकर हम न पहुचे। यह भावना का प्रयोजन है, महत्त्व है।

है—साध्य व्यक्ति या वस्तु के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। धारणा का अर्थ भी यही है—जिसकी धारणा करनी है उसके प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। सविषय ध्यान भी यही है। विषय के प्रति या ध्येय के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना सविषय ध्यान है। जप, भावना, धारणा और सविषय ध्यान—चारों एक जाति के हैं। इनमें तात्पर्य-भेद नहीं है, नाम भेद है केवल।

भावना नौका है। भगवान् महावीर ने कहा—जिसकी आत्मा भावना-योग से विशुद्ध होती है, वह जल में नौका की तरह है। वह जब चाहे पार पहुंच सकता है। अब इस नौका का उपयोग कैसे हो? यह प्रश्न शेष रहता है। भावना से भावित होना आवश्यक होता है। जब तक भावित नहीं होते तब तक वह स्थिति नहीं बनती। आगमों में 'भावितात्मा' शब्द आता है। भावितात्मा हुए बिना लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। भावितात्मा होने के बाद जो होना होता है वह हो जाता है। यह सारा एकाग्रता का चमत्कार है। हम जो भी होना चाहते हैं हो जाते हैं। जो घटित करना चाहते हैं वह घटित हो जाता है जिस रूप में मन को बदलना चाहते हैं, बदल लेते हैं। मन एक आकार का होता है। उसके असंख्य पर्याय हैं। वह भिन्न-भिन्न आकारों में बदलता है। हम जैसा चाहते हैं, उसी प्रकार का आकार वह लेना शुरू कर देता है। यह मन की अपनी विशेषता है। तन्मयता और एकाग्रता के साथ हमने जो भावना की वैसा ही होना होता है। उसमें कोई अन्तर नहीं आता। प्रश्न है—एकाग्रता का, स्थिरता का। मन बदलता है तो साथ-साथ शरीर भी बदलता है।

भारत की एक घटना है एक अमेरिकी युवक यहां आया। एक परिवार के साथ ठहरा। परिवार के साथ उसका गाढ़ संपर्क हो गया। उस परिवार में एक सुन्दर कन्या थी। युवक का उसके साथ संपर्क बढ़ा। दोनों प्रेमसूत्र में बंध गए। अब विवाह का प्रश्न सामने आया। युवक ने कहा—'अभी मैं विवाह नहीं कर सकता। जब तक मैं अपने पैरों पर खड़ा न हो जाऊं, तब तब इस भार को वहन नहीं कर सकता। मैं आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होकर ही विवाह करूंगा, पहले नहीं।' लड़की ने स्वीकार कर लिया। युवक अमेरिका चला गया। लड़की उदास रहने लगी। लड़की के मन में एक विचार आया—पांच-सात वर्ष बाद जब वह युवक यहां शादी करने आएगा तब तक [illegible] कि मेरा रूप-रंग, यौवन [illegible] सारे यौवन का उभार शिथिल हो जाए। उसने प्रतिदिन भावना प्रारम्भ की। [illegible]

[illegible]

क्या हुई होगी ? वह कैसे होगी ? क्या होगा उसका रूप-रग ? वह लडकी से मिला। उसने पाया कि लडकी के शरीर का लावण्य, उसकी सुदरता और कमनीयता वैसी ही है जैसी पद्रह वर्ष पहले थी। रत्ती भर भी अन्तर नही था। वह विवाह-सूत्र मे बध गया। दोनो प्रसन्न हुए। यह भावना का चमत्कार था।

यह भावना-योग है। जो व्यक्ति जिस प्रकार की भावना से अपने-आपको भावित करता है, वह उसी रूप मे बदल जाता है। न जाने दुनिया मे कितने प्रयोग ऐसे होते है जो भावना के होते है। जैन परपरा मे भावना योग का विशेष महत्त्व है। इसे आप आध्यात्मिक मूल्य दे, या न दे, यह आप जानें, किन्तु यह तथ्य स्पष्ट है कि भावना के आधार पर व्यक्ति बनता-बिगडता है।

जापान मे ध्यान सप्रदाय (जैन) के साधक भावना के अनेक प्रयोग करते है। वे अखाडे मे उतर जाते हैं और भयकर खूखार बैल के साथ लडते हैं। वे निहत्थे उतरते है अखाडे मे। उनके पास कुछ भी नही होता। लाठी भी नही होती। बैल दौडता हुआ सामने आता है। उसे लाल झडिया दिखाई जाती है। लाल कपडा देखते ही बैल भडक उठता है। वह पूरे वेग से व्यक्ति की ओर झपटता है। वह भयकर रूप से आक्रमण करता है। एकदम पतला-दुबला साधक भावना और सकल्प के सहारे उस बैल को परास्त कर भूमि पर पटक देता है। उसकी भावना होती है—'मैं बैल के साथ लडूगा। मैं बैल को अवश्य परास्त करूगा।' इस भावना के सहारे वह इतनी शक्ति अर्जित कर लेता है कि वह भयकर उत्तेजित और आक्रामक बैल को शात कर देता है, मानो कि वह बकरी हो गया हो। यह प्रयोग आज भी हो रहा है। अतीत मे ही होता था, ऐसी बात नही है। आज भी कुछ व्यक्ति इसका प्रयोग करते हैं।

एक मठ था। वहा अनेक छोटे-बडे साधक साधना का अभ्यास करते थे। वहा एक दगल (कुश्ती) का आयोजन रखा। दो पहलवान आमन्त्रित किये गए। एक तगडा और बलिष्ठ था। दूसरा पतला और कम शक्तिशाली था। दगल प्रारभ हुआ। बलिष्ठ पहलवान ने पतले-दुबले पहलवान को चित्त कर दिया। साधको के मन मे एक विकल्प उठा। उन्होने पतले पहलवान को सहयोग देना चाहा। कुछेक साधक आख मूदकर इस भावना मे तन्मय हो गए कि इसकी विजय होनी ही चाहिए। यह पतला पहलवान जीतना ही चाहिए। कुछ समय बीता। सबके देखते-देखते दुबले-पतले पहलवान ने उस तगडे पहलवान को पछाड दिया। वह उसकी छाती पर जा बैठा।

भावना दूसरो तक भी पहुचाई जा सकती है। दूसरो पर भी उसका प्रभाव डाला जा सकता है। दूसरो की कठिनाइयो को शात करना, रोग मिटाना, दूसरो का हृदय-परिवर्तन करना, दूसरो के विचारो को बदलना—ये सारे भावना के ही प्रयोग है। भावना के द्वारा ये किए जा सकते है। भावना के माध्यम से स्वय को

होता है। विचार और कार्य को दोहराना भावना का मूल है।

प्रश्न है कि भावना के द्वारा हम अपने-आपको कैसे वदल सकते है ? प्रक्रिया इस प्रकार है—सबसे पहले आप अपने ध्येय का चुनाव करें। आप यह निर्णय करें कि मुझे अब यह बनना है, यह करना है। मुझे कवि वनना है, दार्शनिक वनना है, लेखक बनना है, साहित्यकार बनना है—कुछ भी वनना है। जो वनना है, वह ध्येय हो गया। जो ध्येय बना है उसकी क्रियान्विति के लिए आप भावना का अभ्यास करें। अभ्यास कब और कैसे करें—यह प्रश्न होता है। आप एकान्त मे चले जाए। शरीर को शिथिल कर वैठ जाए। मन भी शिथिल हो। तनाव न हो। आकुल व्याकुल न हो। यह प्रारम्भिक स्थिति है। यह आवश्यक है। जो ध्येय हमने चुना है, वह स्थूल मन से हटकर अवचेतन मन मे नही पहुचेगा तब तक 'होने की' भावना सफल नही होगी। आप कह सकते है—'हमने ऐसी भावनाए की, भावनाओ का अभ्यास किया, पर हम सफल नही हुए।' कही समझने की भूल हो रही है। भावना का तात्पर्य है—चेतन मन को भुला देना और अवचेतन मन को जागृत कर देना। चेतन मन के विकल्प को अवचेतन मन की धरोहर बना देना, अवचेतन मन मे उसे स्थापित कर देना, यह है भावना। यह है भावना का अभ्यास। जब तक अपनी वात अवचेतन मन तक नही पहुचेगी, आप हज़ार वार, दस हज़ार बार प्रयत्न करें, शब्द दोहराते जाए, सफलता नही मिलेगी। आप सफल नही होगे। इसमे सफल होने के लिए आपको शरीर का विसर्जन करना होगा, शरीर को बिल्कुल शिथिल कर देना होगा। चेतन मन को भी शान्त करना होगा। उसके बाद अपने ध्येय को दोहराते रहे, पहले मध्यम आवाज़ मे, फिर तेज़ आवाज़ मे। यह क्रम दस मिनट तक चलता रहे। इससे कम समय मे सफलता असभव है। प्रतिदिन इस क्रम से दोहराते रहे। यह ध्यान मे रखें कि क्रम कही टूटे नही। अपने ध्येय के अनुसार ही आचरण करें। निश्चित ही आप लक्ष्य तक पहुच जाएगे। काल की अवधि मे कुछ अन्तर हो सकता है, पर सफलता निश्चित है। कोई भी आदमी भावना के बिना सच्चा धार्मिक नही वन सकता और ध्यान की उच्च स्थिति मे भी नही जा सकता। शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक तथा सभी प्रकार के विकास के लिए भावना का सर्वोपरि महत्त्व है।

एक लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमे अनेक उपक्रम करने होते है। मान लीजिए कि हमे निर्मोह वनना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हमे मोह की समस्त वस्तुओ को मिटाना होगा। जो भी वस्तु मोह उत्पन्न करती है, मन को मूढ बनाती है, उसका निराकरण करना होगा। ध्येय का अर्थ ही है भावना।

है—अध्यात्म। अध्यात्म के आधार पर ही नैतिकता विकसित हो सकती है।' आज हमारा सारा ध्यान शरीर-केन्द्रित हो गया है। मूल है मन। उसकी हम उपेक्षा करते चले जा रहे है। हमे सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है—मन।

महात्मा बुद्ध विहार कर रहे थे। साथ मे एक शिष्य था। शिष्य ने पूछा—'भंते। ध्यान की शक्ति क्या है, मै जानना चाहता हू।' बुद्ध ने सुना, उत्तर नही दिया। मार्ग मे एक कुआ आया। एक यात्री आ रहा था। वह प्यासा था। उसने देखा, कुए के पास एक बाल्टी पडी है, वह डोरी से बधी हुई है। उसने उस बाल्टी को कुए मे डाला। डोर खीची। बाल्टी ऊपर आयी, पर उसमे पानी नही था। वह खाली थी। फिर उसे कुए मे डाला। ऊपर खीचा, पर वह खाली ही ऊपर आयी। वह पानी नही पी सका। उसकी प्यास वैसी ही बनी रही। बाल्टी के पेंदे मे छेद थे। जितना पानी भरता, वह ऊपर आते-आते खाली हो जाता।

बुद्ध आगे चले। कुछ ही दूरी पर दूसरा कुआ दिखा। वहा भी डोर से बधी बाल्टी पडी थी। एक प्यासा पथिक आया। बाल्टी से पानी खीचा। पानी पिया। प्यास बुझ गयी।

बुद्ध ने शिष्य से कहा—'वत्स! तुम जानना चाहते थे कि ध्यान की शक्ति क्या है? ध्यान की शक्ति यह है जो ध्यान नही करता वह खाली रहता है, कभी नही भरता। वह फूटा रहता है, कभी नही भर सकता। जो कुछ अन्दर आता है, सारा का सारा निकल जाता है। जो ध्यान करता है, जितना अदर जाता है, उससे हजार गुना बढता है—यह है ध्यान की शक्ति। यह है ध्यान का महत्त्व। हमारी कितनी ही शक्तिया है—शरीर मे, मस्तिष्क मे। उनके विकास का मार्ग है—साधना। साधना के बिना उनको विकसित नही किया जा सकता। यह समूचा साधना का मार्ग शक्तियो के विकास का मार्ग है।

जैसी है और एक इन्द्रिया लिखे हुए पन्ने जैसी है। हम किसे अधिक मूल्य दें? हमारी इन्द्रियो के साथ जो राग-द्वेप की धारा चल रही है, उसके द्वारा इन्द्रियो पर राग के अकन हो रहे है, द्वेप के अकन हो रहे है। उन पर इनके अनन्त अकन हो चुके हैं।

जो लोग इन्द्रियो के बारे मे सोचते है, जानते है, परम्परागत सस्कारो को देखते है, इन्द्रियो को बहुमान देते है, वे सोचते है जो कुछ अकन था, वह बहुमूल्य था। वह मिट गया तो सब कुछ मिट गया। वह चला गया तो सब कुछ चला गया। इन्द्रियो के साथ जो सुख आ रहा था, वह नही रहा, मिट गया तो फिर शेप क्या बचेगा? वे उस धारा को जो लिपिबद्ध है, अकित है, बराबर जोडे हुए रखना चाहते है। यह एक दृष्टिकोण है।

दूसरा दृष्टिकोण है दूकानदार का। उसके लिए खाली पन्ने काम के हैं, अकित पन्ने काम के नही है। मूल्य खाली पन्नो का है क्योकि उन पर लिखा जा सकता है। अकित पन्नो का कोई मूल्य नही, क्योकि वे पहले से ही भरे पडे हैं। उन पर नया कुछ भी नही लिखा जा सकता। यह एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण है। कवि के लिए यह दृष्टिकोण प्रिय नही था। इन्द्रियवादी के लिए भी यह दृष्टिकोण प्रिय नही हो सकता। किन्तु साधक के लिए यह बहुत प्रिय और मनोज्ञ दृष्टिकोण है। खाली पन्ने बहुत काम के है, यानी हम पन्नो को खाली रखे, खाली कर दें। उन पर कुछ भी न लिखें, कभी न लिखे। उन्हे खाली ही रहने दें। इन्द्रिय-ज्ञान की धारा के साथ-साथ जो राग-द्वेप की धारा बह रही है, उसे तोड दें, नष्ट कर दें। इन्द्रिय-ज्ञान को खाली रखें। राग-द्वेप को न जोडे, उनका अकन न होने दें। यही इन्द्रिय-सयम है।

दो बाते हैं, जिन पर हजारो वर्पों मे भारतीय योगियो और साधको द्वारा बहुत चर्चाए हुई है।

पहली बात। कुछ साधक कहते हैं—इन्द्रियो को काम मे मत लो। आख से मत देखो। आख मूद लो। कान मे मत सुनो। कान मे रुई या कार्क डाल दो। नाक से मत सूघो। नाक को बद कर दो। जीभ से मत चखो। सरस खाओ ही मत। नीरस, रसहीन या स्वादहीन भोजन करो। रस नही आएगा। क्या ये सारी बातें सभव है? क्या रात-दिन आख मूदकर रहा जा सकता है? जो देखने की शक्ति प्राप्त है, दृष्टि प्राप्त है, उनको काम मे लिये बिना क्या अच्छा परिणाम आयेगा? कान है सुनने के लिए। कान को बद कर दिया, कुछ भी नही सुना तो कौन-सी बडी उपलब्धि हो गयी? नही सुनना निरन्तर सभव भी नही।

दूसरी बात। कुछ साधक कहते है—इन्द्रियो का अपना-अपना काम है। उन्हे करने दो। आख से, कान से, नाक से, जीभ से काम लो। देखो, सुनो, सूघो, चखो, छुओ—सब कुछ करो। किन्तु उनके साथ जो राग-द्वेप की धारा आ रही है, उसका

साधु ने कहा—दोनो भोले हो। तुमने मेरा आशय नही समझा। साधु ने पहले व्यक्ति को सबोधित कर कहा—'देखो, तुम्हारी मनोवृत्ति घर को छोडने की नही थी। तुम घर छोडकर साधना करना नही चाहते थे, इसलिए मैंने कहा—मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर छोडना ज़रूरी नही है। तुम घर मे रहकर भी साधना कर सकते हो। दूसरे व्यक्ति की मनोवृत्ति घर छोडने के लिए तैयार हो गयी थी, इसलिए मैंने कहा था—मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर छोडना आवश्यक है। उसे मैं कैसे कहता कि तुम घर मे ही रहो। जैसी तुम्हारी मनोभावना थी, मैंने तुम्हे उसी ओर प्रेरित किया। उसकी जैसी मनोभावना थी मैंने उसे उसी ओर प्रेरित किया। उसी दिशा मे जाने के लिए कहा। इसमे कठिनाई ही क्या है।'

यह एक घटना है। हम एकातत यह भी नही कह सकते कि घर छोडना अच्छा ही है या यह भी नही कह सकते कि घर नही छोडना चाहिए। जिसकी जैसी योग्यता हो, क्षमता हो, तैयारी हो, मनोवृत्ति हो, उसी दिशा मे उसे चलने देना चाहिए।

कुछ कहते है कि आख मूदकर बैठे बिना रूप के प्रति जो आकर्पण है वह मिट नही सकता। रूप के प्रति जो आसक्ति होती है, वह मिट नही सकती। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को दो-चार घटा आख मूदकर बैठना चाहिए। ऐसा करने पर ही चक्षु-सयम हो सकता है।

कुछ कहते हैं—नही, यह कमज़ोरी है, क्लीवता है। रूप को देखते हुए भी हमारे मन मे आकर्षण पैदा न हो, विकार न आए, यह प्रयत्न करना है। आख का काम है देखना। देखने के साथ हम राग-द्वेष की चेतना को न जोडे, यह साधना है। हमारे मन मे प्रियता और अप्रियता का भाव न आए, अच्छे-बुरे का भाव न आए।

मैं कहता हू—यह भी एक मार्ग है और वह भी एक मार्ग है। न वह श्रेष्ठ है और यह अश्रेष्ठ और न यह श्रेष्ठ है और वह अश्रेष्ठ। दोनो मार्ग है। जिसकी जैसी रुचि हो, वह उसी मार्ग पर बढे। मार्ग के श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ की बात नही है। बात है व्यक्ति की रुचि की, व्यक्ति की योग्यता की, व्यक्ति की क्षमता की। मार्ग दोनो है। किसी ओर से भी पहुचा जा सकता है।

जिस व्यक्ति मे इतनी क्षमता जागृत हो गयी है कि आखें खुली रहने पर भी उसके मन मे प्रिय-अप्रिय या राग-द्वेष का भाव उदित नही होता तो उसे आख मूदने की कोई जरूरत नही है। आखे बद करना उसके लिए जरूरी है जिसमे इस प्रकार की क्षमता का उदय नही हुआ है, जो मन मे उठने वाले प्रियता-अप्रियता या राग-द्वेष के भाव को रोक नही पाता।

मुह पर पर्दा रखने की प्रथा पहले भी चालू थी, आज भी है। प्रश्न है कि पर्दा कौन रखे, स्त्री या पुरुष? यह आवश्यक नही कि स्त्रिया ही पर्दा रखें और पुरुष

अपनी अगुलियो से पढते हैं। पर वे उभरे हुए अक्षरो को ही पढ पाते हैं। उनको पहले इस विद्या मे शिक्षित किया जाता है। वे सामान्य पुस्तकें नही पढ पाते। किन्तु वह रूसी लडकी सामान्य पुस्तकें अगुली के माध्यम से पढ लेती है।

हमारी इन्द्रियो का यह जो विभाजन है कि अमुक इन्द्रिय से सुना जाता है, अमुक इन्द्रिय से देखा जाता है, अमुक इन्द्रिय से चखा जाता है आदि-आदि यह हमारे निरतर अभ्यास के कारण हुआ है। यह यथार्थ नही है। जिनकी चेतना विकसित हो जाती है, उनमे ये विभाग समाप्त हो जाते हैं।

हम देखते है कि कुछेक व्यक्तियो मे मिठाई के प्रति राग है और कुछेक मे द्वेष या घृणा। कुछ व्यक्ति किसी वस्तु को पसद करते हैं और कुछ किसी वस्तु को। एक व्यक्ति का एक वस्तु के प्रति राग है तो दूसरे व्यक्ति का उसके प्रति द्वेप है। इन इद्रियो ने राग-द्वेप को वाट दिया। क्या राग-द्वेप वटता है ? क्या वह खड-खड होता है ? मै समझता हू, यह नही होता। राग-द्वेप की धारा एक है। हमारी चेतना की धारा एक है। सारा अतर आता है हमारे अभ्यास के कारण, वातावरण के कारण या सस्कारो के कारण। एक परिस्थिति मे जिस प्रकार के सस्कार, वातावरण या अभ्यास का निर्माण होता है, वैसे ही सारे विभाग वनते जाते है।

किसी मे रस की प्रबलता होती है, किसी मे श्रवण की प्रबलता होती है और किसी मे दर्शन (देखने) की प्रवलता होती है। राग-द्वेप की धारा एक होते हुए भी यह जो विभिन्न रुचियो का निर्माण होता है, उसका मूल कारण है सस्कारो का विकास, विभिन्न सस्कारो का विकास। हम उनमे विशेपज्ञता प्राप्त कर लेते हैं, अत्यन्त अभ्यस्त हो जाते है। यह स्पेशलाइजेशन की बात है। जिस इन्द्रिय का जिस विपय के प्रति अति झुकाव होता है, उधर ही राग-द्वेष की धारा वहने लग जाती है।

आपने अनुभव किया होगा। खेतो मे पानी दिया जा रहा है। वडी नहर चल रही है। छोटी-छोटी क्यारियो मे पानी बह रहा है। उनसे सारा खेत पानी पी रहा है। कभी-कभी किसान ऐसा करता है कि जिन क्यारियो मे पानी की आवश्यकता नही होती, वह उन क्यारियो के मुह पर मिट्टी की पाल बाध देता है। अब पानी उन विभिन्न क्यारियो मे नही बहता। वह एक दिशागामी हो जाता है। जो पानी अलग-अलग क्यारियो मे वटकर वहता था, वह एक धारा मे बहना शुरू हो जाता है। ठीक वैसे ही है हमारी इन्द्रियो की स्थिति। जो राग-द्वेष की धारा सभी इन्द्रियो के साथ वह रही थी, हमने कुछेक इन्द्रियो के द्वारो को बद कर उसे एक ही इन्द्रिय की ओर प्रवाहित कर दिया। अब सारा प्रवाह, पूर्ण वेग से, एक ही दिशा की ओर प्रवाहित होगा। अव हमारा सस्कार बलवान होता जाएगा।

हमारे समूचे शरीर मे रक्त का सचार होता है। प्रवाहित होता है सर्वत्र,

करना वद कर देती हैं। आप आख से काम लेना बद कर दें तो आख की ज्योति नष्ट हो जाएगी। सब इन्द्रियो के प्रति यही नियम लागू होता है। आप हाथ को मोडकर रखिए। कुछ दिनो के बाद उसे आप सीधा नही कर पाएगे। उसकी लचक नष्ट हो जाएगी।

अयोग से शक्ति नष्ट होती है तो अतियोग से भी वह नष्ट हो जाती है। इसलिए 'योग' ही उत्तम मार्ग है। इन्द्रिय का सचमुच योग होना चाहिए। पहले इन्द्रिय से काम लिया, फिर विश्राम किया। जितना काम, उतना विश्राम। जितना लेना है उतना लिया, न अधिक और न कम। यह है योग। यह आयुर्वेद का अभिमत है अर्थात् स्वास्थ्य के लिए दृष्टिकोण का अभिमत है। साधना की दृष्टि से इन्द्रिय-सयम है। इसका तात्पर्य है कि आख से देखने का काम लेना, आख का असयम नही है। कान से सुनने का काम लेना, काम का असयम नही है। असयम है उनके साथ राग-द्वेष जोडना। इन्द्रिय सयम का अर्थ है—आप इन्द्रियो के माध्यम से ज्ञान करें। कोरा ज्ञान। उसके साथ कुछ भी न जोडें। केवल पानी बहे। उसके साथ कूडा-कर्कट और गदगी न बडे। यह है इन्द्रिय-सयम। पानी बहे या एक ही जगह पडा रहे, इसकी चिन्ता नही हे। पानी वह भी सकता है और एक जगह भी पडा रह सकता है। हमे तो केवल यह चिन्ता करनी है कि पानी के साथ कूडा-कर्कट न मिले, न वहे, न घुले-मिले। वस, इतना करना पर्याप्त है। इसके लिए हमे किसी नाली को रोकना है तो उसे रोकना होगा। उसे ऊपर से ढकना है तो उसे ढकना होगा, जिससे उसमे गदगी न आए, कूडा-कर्कट न आए। मूल बात है—पानी साफ वहे, उसकी स्वच्छता नष्ट न हो। यह है—इन्द्रिय-सयम। यदि हम इस वात के लिए जागरूक हो जाते है कि हमारे इन्द्रिय-व्यापार के साथ राग-द्वेष की धारा का सयम न हो तो हमारे इन्द्रिय-सयम का मार्ग स्वत प्रशस्त हो जाता है।

इन्द्रियो के असयम का परिणाम तत्काल ही मिल जाता है। एक व्यक्ति ने इतना भोजन कर लिया कि अव न शाम को खाने की आवश्यकता है और न एक-दो दिन खाने की आवश्यकता है। एक साथ खूव खा लिया। डटकर भोजन कर लिया। इसका परिणाम तत्काल ही मिल जाता है। परिणाम क लिए अगले जन्म तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नही है। आए दिन हम पढते है, अमुक नगर मे मदिरापान मे सौ आदमी मर गए। यह विषाक्त मदिरा थी। परिणाम भुगतना पडा। परिणाम तत्काल मिल गया। हमारा सारा लेखा-जोखा वर्तमान में ही है।

हमारे भीतर एक ऐसा कम्प्यूटर है, जो राई-राई का लेखा-जोखा कर लेता है, गणित कर लेता है। सारा हिसाव भीतर हो रहा है।

एक आदमी वहुत वडा धनी है। उसके धनी होने का कारण है—कूट-कपटपूर्ण व्यापार। वह दूसरो को ठगता है, धोखा देता है, मिलावट करता है, चोरी करता है। धन उसके पास एकत्रित होता रहता है। हम उसको वडा मान

खाया है परतु क्या उस अमृत के साथ विष की मात्रा नही है ? अवश्य मिलेगी। कोई दूध को अमृत मानता है, कोई घी को और कोई साग-सब्जी को। इस अमृत के साथ विष की मात्रा भी है। दूध मे भी विष है, घी मे भी विष है, साग-सब्जी मे भी विप है। ऐसा कोई भी खाद्य नही है जो केवल अमृत ही हो, विष न हो या कोरा विष हो, अमृत न हो। ये दोनो साथ-साथ चलते है। जहा जीने की क्रिया है, वहा मरने की प्रतिक्रिया भी है। जन्म एक क्रिया है तो मृत्यु उसकी प्रतिक्रिया है। स्वास्थ्य क्रिया है तो रोग प्रतिक्रिया है। दोनो को अलग नही किया जा सकता। इन्हें मात्रा-भेद से हम अलग-अलग कर लेते है। धनी व्यक्ति के धन की मात्रा को देखकर कह देते हैं कि इसने इतने पाप किए, फिर भी इतना आगे बढ गया। किंतु साथ ही साथ जब हम उसकी आन्तरिकता को देखते है, शाति और सुख को देखते है तो कह देते है—यह तो घाटे मे रहा। धन हुआ तो क्या ? यह न शात है, न सुखी है और न प्रसन्न। यह सारा गणित एक साथ चलता है। परलोक की बात जाने दीजिए। क्रिया की प्रतिक्रिया वर्तमान मे ही हो जाती है। प्रतिक्रिया करने वाला और उसका परिणाम देने वाला, सारा लेखा-जोखा करने वाला कप्यूटर हमारे भीतर है। इसके लिए किसी बाह्य सत्ता को आमन्त्रित करने की आवश्यकता नही है।

के साथ, सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक सगठनो के साथ, उनके सदस्यो के साथ। गाव के साथ सपर्क होता है, राष्ट्र के साथ सपर्क होता है। अनेक प्रयोजनो से, अनेक दृष्टिकोणो से अनेक वर्गों और व्यक्तियो के साथ सपर्क होता है। न केवल प्राणियो के साथ सपर्क होता है, शरीर के साथ सपर्क होता है, कपडो के साथ, मकान के साथ और अन्यान्य वस्तुओ के साथ सपर्क होता है। जिस प्रकार व्यक्तियो के साथ सपर्क होता है उसी प्रकार वस्तुओ के साथ भी सपर्क होता है। विचारो के साथ भी सपर्क होता है। ये सारे सपर्क है। एक ओर तो है अकेला व्यक्ति और दूसरी ओर है इतने सपर्क! ये सपर्क चिन्ता उत्पन्न करते हैं। जितना सपर्क, उतनी ही चिन्ता। सपर्क से चिन्ता बढती है। चिन्ता बढती है तब लगता है कि दु ख बढ रहा है। दु ख क्या है? मैं समझता हू कि सपर्क ही दु ख है। दु ख का अर्थ है—किसी न किसी वस्तु से सपर्क। सपर्क हुआ कि दु ख हुआ। सपर्क नही है तो दु ख भी नही है। सपर्क के विना दु ख की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जहा सपर्क नही है वहा दु ख नही है। सपर्क का होना ही दु ख का होना है। एक आदमी शात बैठा है। उसका मन शात है, विचार शात है। अचानक उसे एक आदमी दीख पडा, जो उसके अनुकूल नही है, प्रतिकूल है, अप्रिय है, अतीत मे धोखा दे चुका है या अपमानित कर चुका है। जैसे ही उसे देखा, मन अशात हो गया। शाति भग हो गयी। मन मे क्रोध उमड आया। वह दु खी हो गया। अशात हो गया। इस दु ख का हेतु क्या है? इसका हेतु है सपर्क। दु ख का अर्थ है सपर्क और सपर्क का अर्थ है दु ख, चिन्ता। आदमी लबे समय तक चिंतित नही रह सकता। जब वह चिंतित होता है तो मन मे अकुलाहट होती है, व्याकुलता होती है, घबराहट होती है। यह व्याकुलता, अकुलाहट उसे अकेला होने के लिए प्रेरित करती है, बाधित करती है। वह कहती है—तुम अकेले हो जाओ, कोई चिन्ता नही होगी, कोई व्याकुलता नही होगी।

मैं समझता हू मादक वस्तुओ का प्रयोग चिन्तामुक्ति के लिए चला है। लोग चिंता से मुक्त होने के लिए नशा करते हैं, सपर्कों को तोडने के लिए और दु खो को मिटाने के लिए नशा करते है, मादक वस्तुओ का प्रयोग करते हैं। जैसे ही व्यक्ति मदिरा पीता है वह अकेला हो जाता है,सारे सपर्क टूट जाते हैं, वाहर का कोई भान नही रहता। वह अनुभव करने लगता है कि मैं अकेला हो गया और अकेला होना ही बहुत वडा सुख है। शराब पीने से कोई सुख नही मिलता। अकेले पन के सुख का वह निमित्त होता है। यह सही वात है कि दुनिया मे सबसे बडा सुख है—अकेलापन। व्यक्ति अकेला हो नही पाता क्योकि उसने अपने साथ इतने सपर्क जोड लिये और सपर्कों के द्वारा इतने चिन्ता-सूत्र जोड लिये कि वह उनसे अलग नही हो सकता, पृथक् नही हो सकता। उसमे यह क्षमता नही है कि वह उन्हे एक झटके मे तोड डाले। वह ऐसा कर नही सकता। ध्यान का प्रयोग वह

था। उसने कहा—'ओ महात्मा! मुझे क्या सीख दे रहे हो। लडखडाते चलता हू तो क्या? गढे मे गिर पडूगा तो क्या? कपडे खराब हो जाएगे तो धो डालूगा। मै मद्यप हू, शराबी हू। सारा शहर मुझसे परिचित है। कुछ भी हो, मुझे उसकी चिन्ता नही है। पर तुम महात्मा हो। तुम सभलकर चलो। तुम लडखडाकर गढे मे गिर पडे तो न इधर के रहोगे और न उधर के। जरा सभलकर चलो, कही पैर फिसल न जाए। मुझे क्या सीख दे रहे हो?'

यह एक दार्शनिक और एक शराबी की बातचीत है। शराबी ने एक बहुत बडे रहस्य का उद्घाटन कर दिया, मर्म को अभिव्यक्ति दे दी। उसके कहने का तात्पर्य है कि जो शराबी है, जो अपने-आपको भुल चुका है, जो अकेलेपन को पाने के लिए नशा करता है, अगर वह कही लडखडा जाए, उसका पैर कही फिसल भी जाए तो कोई चिन्ता की बात नही है, दुख की बात नही है। किन्तु जो साधक है, अपने-आपको पाने के लिए साधना कर रहा है, अकेलेपन की साधना मे रत है, उसे स्व की चिन्ता करनी चाहिए, पर की चिन्ता नही करनी चाहिए। इसीलिए शराबी ने सुकरात से कहा—'तुम अपनी चिन्ता करो, मेरी चिन्ता छोड दो। तुम कही फिसल गए तो तुम्हारी पवित्रता नष्ट हो जाएगी, फिर वह कभी नही मिल सकेगी। तुम स्वच्छ नही हो सकोगे। तुम आत्म-विस्मृति के गर्त मे गिर जाओगे।'

आत्म स्मृति की जो बात है, जागरूकता और सावधानी की जो बात है, वह वास्तव मे साधना का महान् सूत्र है। यही है अप्रमाद। मैं अकेला हू—इस विचार-सूत्र को आत्मसात् कर लेना बहुत बडी साधना है। यह सूत्र जब आत्मगत हो जाता है तब व्यक्ति सारे सकटो, कठिनाइयो का पार पा जाता है, उलझनो और समस्याओ से परे चला जाता है। वे समस्याए वैयक्तिक हो सकती है, सामाजिक हो सकती है, जागतिक हो सकती है। जो व्यक्ति अपने-आप मे अकेलेपन का अनुभव करता है वह उन सारी समस्याओ का पार पा लेता है। जिसे अकेलेपन का अनुभव नही है, वह समस्याओ का पार नही पा सकता। वह समस्याओ का पार नही पा सकता, इसलिए उसे मदिरा चाहिए, भाग चाहिए, बीडी-सिगरेट चाहिए और सैकडो प्रकार की अन्यान्य मादक वस्तुए चाहिए। यह सब विस्मृति के माध्यम बनते है। जिसे अपने-आप मे अकेले होने का रहस्य प्राप्त नही है, उपाय प्राप्त नही है, वह इन बाह्य साधनो को अपनाता है। ये बाह्य साधन उपकार के बदले अपकार ही करते हैं। उसे हानि पहुचाते हैं।

अप्रमाद एक सशक्त साधन है आत्म-स्मृति का। उसका अर्थ है—अपने-आप मे अकेलेपन का अनुभव करने का अभ्यास। यह साधना का परम सूत्र तो है ही किन्तु व्यवहार का भी बहुत बडा सूत्र है। इसके बिना व्यावहारिक जीवन भी स्वस्थ और आनन्दमय नही हो सकता। आप कभी भी चिन्ताओ से मुक्ति नही पा सकते जब तक कि आप अपने-आप मे अकेलेपन का अनुभव नही कर पाते।

पर चलता था, मेरी भृकुटी तन जाती तो सारे काप उठते थे, मेरी एक आवाज़ पर दस व्यक्ति आकर सामने हाथ जोडे खडे रहते थे और आज मेरी बात कोई नही सुनता। आदर तो दूर, छोटे-बडे सब मेरा तिरस्कार करते है, सब मेरी उपेक्षा करते है। यह सोचकर वह बूढा दु खी हो जाता है, चिन्तातुर हो जाता है। एक ओर बीस वर्ष पूर्व की स्मृति काम कर रही है और एक ओर है वर्तमान की स्थिति। जब वह पूर्व की स्थिति को जोडता है वर्तमान से, तब वह दु ख से भर जाता है। उसे लगता है—यह भी कोई जीना है ? क्या हो गया ? क्या दुनिया बदल गयी या जमाना बदल गया ?

यह मेरी कल्पना मात्र नही है। बहुत सारे लोगो की यह स्थिति है। यह अनुभव है। व्यक्ति दु खी होता है अपने ही प्रमाद के कारण। यदि यथार्थ मे वह प्रमादी नही होता तो वर्तमान की स्थिति मे वह दु खी नही होता। उसका प्रमाद यही रहा कि जो व्यवहार की सचाई थी उसे उसने यथार्थ की सचाई मान लिया। यही दु ख का हेतु बन गया। व्यवहार की सचाई यह है कि जहा स्वार्थ का सम्बन्ध होता है वहा बेटे-पोते तो क्या, दूर का व्यक्ति भी जी-हुजूरी करने लगता है। बात मानता है। आदर देता है। आख के इशारे पर कदम उठाता है। जैसे ही स्वार्थ का धागा टूटता है, सारी स्थिति मे परिवर्तन आ जाता है। सब कुछ बदल जाता है। अब यदि हमारी यह स्पष्ट अनुभूति होती है, अप्रमत्तता होती है जीवन के प्रति, जागरूकता होती है और हम यह स्पष्ट अनुभव करने लग जाते है कि एक भूमिका वह है जहा मैं दूसरो के लिए हू, वहा का व्यवहार दूसरे प्रकार का होगा और एक भूमिका वह है जहा मैं दूसरो के लिए नही हू अब, वहा का व्यवहार दूसरे प्रकार का होगा। दोनो व्यवहारो मे रात-दिन का अन्तर होगा। आकाश-पाताल का अन्तर होगा। यह जो मान लेना कि यह मेरा है, यह मानने का मतलब ही है—आत्मा की विस्मृति। तुम कैसे मान सकते हो कि यह मेरा है। नही मान सकते कि यह मेरा है। हो नही सकता। यह जो मेरेपन की अनुभूति है, वह सबसे बडा प्रमाद है, आत्म-विस्मृति है। अन्यथा अनुभूति यह होनी चाहिए कि मैं अकेला हू, मैं अपना हू, मेरा कोई नही है। यह यथार्थ है, सचाई है। यह मेरा परिवार है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा भाई है, यह मेरा मित्र है—यह है हमारा व्यवहार का धरातल। व्यवहार के धरातल पर हमारा व्यवहार का बोध रहे, व्यवहार की अनुभूति रहे, सपर्क की अनुभूति रहे। अन्तिम सत्य का जहा प्रश्न है, सचाई का जहा प्रश्न है, वहा मैं अकेला हू मेरा कोई नही है, मैं किसी का नही हू—यह अनुभूति बनी रहे। यदि यह अनुभूति नीत्र रूप मे बनी रहती है तो व्यक्ति चाहे साठ वर्ष का हो जाए, सत्तर वर्ष का हो जाए, परिवारवालो मे उपेक्षित हो जाए, फिर भी वह दु खी नही होगा। उसे चिन्ता नही होगी। वह सोचेगा—'जब मै दूसरो के लिए कुछ

मिथ्या दृष्टिकोण के कारण, हमारे मतिभ्रम और राग-द्वेप के कारण तथा हमारी मानसिक, वाचिक और कायिक चचलता के कारण। नीद भी प्रमाद का हेतु वनती है। नीद मे आदमी अपने-आपको भूल जाता है। नीद की स्थिति और नशे की स्थिति मे बहुत बडा अन्तर नही है। दोनो मे आत्म-विस्मृति होती है। नीद भुलाने की स्थिति है। किन्तु यह भी प्रमाद है, प्रमाद का हेतु है, प्रमाद पैदा करती है। इसीलिए साधना के लिए जरूरी है कि साधक नीद पर विजय प्राप्त करे। निद्रा-विजय साधना का आवश्यक अग है। इन्द्रियो की लोलुपता भी प्रमाद पैदा करती है, इसीलिए इन्द्रिय-सयम साधना का अग है। इन्द्रियो का सयम अप्रमत्तता की ओर ले जाता है। जब तक अप्रमाद की साधना नही होती तब तक अध्यात्म की ओर गति नही होती। अप्रमाद साधना का सशक्त सूत्र है। प्रमाद भय है, अप्रमाद अभय है। भगवान् महावीर ने कहा—'सव्वओ पमत्तस्स भय'—प्रमादी को चारो ओर से भय घेर लेता है। सर्वत्र भय ही भय है उसके लिए। उसका एक क्षण भी अभय की दशा मे नही बीतता। उसका क्षण-क्षण भय मे ही बीतता है। वह किसी पर विश्वास नही करता। उसे सबमे अविश्वास की गध आती है। वह अपने धन की चाबी किसी को भी नही सौंपता। उसके मन मे भय रहता है कि कही वह धन लेकर भाग न जाए ? आप बेटे को भी नही सौंपेगे क्योकि आपको भय है कि धन की चाबी मिल जाने पर बेटा फिर आपको पूछेगा नही। उसे आपकी अपेक्षा नही रहेगी। आप अपनी पत्नी को भी नही सौंपेंगे क्योकि आप सोचते है कि मा और बेटा—दोनो मिलकर मेरी फजीहत करेगे। मेरा टिकट कटा देंगे। आप अतिम समय तक भी चाबी दूसरे को देना नही चाहेगे क्योकि आप मे भय है। भय प्रमाद है।

कुछ लोग इसे जागरूकता भी कह देते है। परन्तु गहराई से सोचने पर इस जागरूकता के पीछे भी भय काम करता है। यदि यह भय न हो कि ये वाद मे मेरे साथ क्या करेंगे तो यह जागृति भी नही आती। इस जागृति का कारण भी भय है। कभी-कभी हम ऐसे कमरो मे ठहरते है जहा की अलमारियो मे लाखो का धन पडा रहता है। न पहरेदार रहता है, न चौकीदार, केवल हम रहते है। मकान का मालिक सुख की नीद सोता है। वह जागरण नही करता, क्योकि उसके मन मे भय नही है कि मुनि उस धन को निकाल लेंगे। उसके मन मे डर नही है। वह जागता नही, सुख से सोता है। जागना क्यो पडता है ? जागना तब पडता है जब पीछे भय हो। जहा भय नही है, वहा निश्चितता है।

एक और आश्चर्य है कि आदमी यह मानता चला जा रहा है कि हम पचास हैं, सौ है। वह पचास आदमियो को, सौ आदमियो को एक मानता चला जा रहा है। दूसरी ओर उसके मन मे अनेक कठघरे बने हुए है कि इस व्यक्ति को इतना वताना, इसको इतना और उसको इतना। कोई भी परिवार का मुखिया अपने

किसी भी मनुष्य को पूरा ब्योरा नहीं बताता। किसी को कितना और किसी को कितना बताता है। पूरा नहीं बताता। उसके मन में अलग-अलग कोष्ठक हैं, अलग-अलग भय बने हुए हैं। यह सारा भय के कारण होता है। भय होता है तो जागना भी पड़ता है। भय नहीं होता है तो फिर जागने की जरूरत नहीं होती। यह भय उत्पन्न होता है प्रमाद के कारण अर्थात् बाहरी संपर्क के कारण। बाहरी संपर्कों को हमने अपना मान लिया और इसी कारण भय आ गया कि कहीं संपर्क टूट न जाए। इस भय के कारण नाना प्रकार के प्रमाद पैदा होते हैं।

इस सारी स्थिति में अप्रमाद का सूत्र है—अकेलेपन की अनुभूति। सारे संपर्कों को तोड़कर व्यक्ति व्यवहार में जी नहीं सकता। मैं व्यवहार को तोड़ने की बात नहीं कर रहा हूं। व्यवहार को आदमी तोड़ भी नहीं सकता। व्यवहार को तोड़कर आदमी जी भी नहीं सकता। संसार चल नहीं सकता। इन बातों से व्यवहार टूटेगा नहीं। इसमें और मधुरता आएगी। यदि वास्तव में आप अपने-आप में अकेलेपन का अनुभव करेंगे तो अनेक कठिनाइयों से बच जाएंगे। आप न चिन्ता के शिकार होंगे और न दुःख के। दूसरों के व्यवहारों को देखकर आप उलझेंगे नहीं, दुःखी नहीं होंगे। आपका मन शान्त रहेगा। और इस स्थिति में आप द्वारा किए गए व्यवहार दूसरों को मधुर लगेंगे। आपके मस्तिष्क में निरन्तर यह सूत्र कार्यरत रहेगा—मैं अकेला हूं। जब कोई भी समस्या सामने आएगी, आप इस सूत्र से समाहित हो जायेंगे। समस्या आपको पीड़ित नहीं करेगी। जो समस्या सोलह आना लगती है, वह एक आना मात्र रह जाएगी। उसे भी आप व्यवहार के धरातल पर सुलझा लेंगे। यदि अकेलेपन का आलंबन सूत्र आपके पास नहीं है तो छोटी समस्या भी बड़ी बन जाएगी। वह सुलझेगी नहीं। अप्रमाद की साधना व्यक्तिगत जीवन और व्यावहारिक जीवन—दोनों में लाभप्रद है। दोनों की समस्याओं का समाधान देने में यह सक्षम है। यह साधना समस्याओं को सुलझाती है और एक-एक चरण पर आगे बढ़ने में हमारी सहायक होती है।

ढोना होगा। कोई विकल्प नही है।

आचार्य भिक्षु ने एक बात बहुत सुन्दर कही। उन्होने कहा—'गण मे रहते हुए भी तुम अकेले रहो।' यह बात विरोधी-सी लगती है। शासन मे रहना, समूह मे रहना और अकेले रहना—यह कैसे सभव है? या तो समूह मे रहना होगा या अकेले रहना होगा। दोनो एक साथ नही हो सकते। परस्पर अन्तर्विरोध है। सैंकडो साधु-साध्वियो के बीच रहो और अकेले रहो। लगता है विरोध है। लेकिन विरोध नही है। यह सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य है कि तुम सघ मे रहो। अपनी सेवा दूसरे साधुओ को दो और आवश्यकता पडने से उनसे सेवा लो। तुम उनका सहयोग करो और उनका सहयोग लो। तुम लोगो को समझाओ, उपदेश दो और उनसे जो लेना है वह सब लो। किन्तु किसी के साथ गुटवदी मत करो, दलवदी मत करो।

"गण मे रहू निर्दाव अकेलो,
किण स्यू ही नही बाधू कीलो।"

'मैं गण मे रहता हुआ भी अकेला रहू, किसी के साथ गेठबधन नही करू, दलवदी नही करू।' कहने का तात्पर्य है कि सहयोग के स्तर पर तो तुम सघ मे रहो और साधना के स्तर पर अकेले रहो। अगर कोरे समूह मे ही रह गए, सगठन मे ही रह गए तो साधना समाप्त हो जाएगी। केवल सगठन का भार, सगठन की चिन्ता ही तुम्हारे सिर पर सवार रही तो साधना समाप्त हो जाएगी। तुम्हे साधना भी करनी है और अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए सगठन को भी पनपाना है। दोनो वातें मिलकर एक पूरी बात वनती है। कोरा अकेला रहना भी पूरी वात नही है और कोरे सगठन मे रहना भी पूरी बात नही है। वैसे ही कोरे परिवार मे रहना भी पूरी वात नही है और कोरा अकेला रहना भी पूरी वात नही है। जहा सुख-सुविधा, सहयोग लेने-देने का प्रश्न है, वहा आदमी परिवार मे रहता है, मपर्क जोडता है, और अनेको के वीच रहता है, जीता है। जहा यथार्थ का अनुभव करना है और सपर्क से उत्पन्न होने वाली वहुत सारी समस्याओ से जूझना है वहा अकेला रहना होगा, अकेलेपन का वोध करना होगा। दोनो वातो के मिलने पर ही जीवन परिपूर्ण और अखडित होगा और तव हम न इधर उलझेंगे और न उधर उलझेंगे। हम दोनो तटो को पार कर जाएगे।

२३

ज्ञान और संवेदन

संवेदन और अहं—दोनों साथ-साथ चलते हैं। राजा ने सुना कि नगर में एक सन्यासी आया है। वह शक्तिशाली है। बड़ा विचित्र है। हजारों लोग आ-जा रहे हैं। उसका घर-घर यशोगान हो रहा है। राजा ने अपने आदमी सन्यासी के पास भेजे और दर्शन देने की प्रार्थना की। सन्यासी ने कहा—'मैं महलों में नहीं आ सकता। यदि राजा चाहे तो यहीं आकर दर्शन कर ले।' भूख राजा को थी, सन्यासी को नहीं। भूखे को भोजन के पास जाना पड़ता है। प्यास राजा को थी, सन्यासी को नहीं। प्यासे को पानी के पास जाना पड़ता है। राजा स्वयं सन्यासी के पास गया और सन्यासी को महल में ले आया। जो महल में रहना नहीं चाहता था वह भी महलों में आ गया। सन्यासी महलों में एक दिन रहा, दो दिन रहा। महीना बीत गया। सन्यासी जाने का नाम ही नहीं ले रहा था। राजा ने सोचा—यह क्या? क्या मैंने कोई आफत मोल ले ली? मैंने तो समझा था, सन्यासी है, जंगल में रहने वाला है, एक-दो दिन रहकर चला जाएगा। पर यह तो यहां से जाने की बात नहीं करता। एक दिन राजा ने सन्यासी से कहा—महाराज! आज जंगल में घूमने चलें। सन्यासी और राजा दोनों घूमने गए। नगर से बहुत दूर निकल गए। राजा ने कहा—'अब बहुत दूर आ गए। लौट चलें महलों की ओर।' सन्यासी ने कहा—'अब लौटकर महलों में क्या जाएं? मैं तो जंगल की ओर बढ़ता हूं।' राजा ने कहा—'महाराज! आप भी महल में रहते थे और मैं भी महल में रहता था। फिर आप में और मेरे में अन्तर ही क्या रहा?' सन्यासी ने कहा—

तुम्हारे लिए जगल जगल है और महल महल ।'

सपत्ति का होना और न होना—दोनो मे अतर नही है। अतर केवल इतना ही है कि सम्पत्ति का दिमाग मे होना और दिमाग मे न होना ।

एक बार गौतम ने महावीर से पूछा—'भते ! क्या छह खण्डो का अधिपति चक्रवर्ती और सूक्ष्म जन्तु 'कुथु' समान होते है ?'

महावीर ने कहा—'हा, दोनो समान होते है ?'

'भते ! आश्चर्य मे डाल दिया आपने ! दोनो समान कैसे हो सकते है ? कहा तो चक्रवर्ती सम्राट् का ऐश्वर्य, प्रभुता और कहा एक क्षुद्र जन्तु 'कुथु' का जीवन !'

'गौतम ! जितनी आकाक्षा चक्रवर्ती मे है, उतनी ही आकाक्षा कुथु मे है। ऐश्वर्य या प्रभुता का होना या न होना, अलग प्रश्न है, किन्तु आकर्षण की दृष्टि से दोनो समान है । जितना आकर्षण चक्रवर्ती मे है, उतना ही आकर्षण कुथु मे है। दोनो मे अविरति समान है। जहा अविरति की समानता है, वहा दोनो समान हो गए ।' कितने रहस्य की बात है ? सवेदना जब जागृत होती है तब बाह्य जगत् से सपर्क बढता है और जब सवेदना का सहरण होता है तब अन्तर्जगत् से सपर्क होता है। जब मन का सवेदन बढ़ता है तब अह उत्पन्न होता है। यदि मन मे सवेदन नही है तो सपत्ति या ऐश्वर्य परिग्रह नही बनता। सपत्ति परिग्रह तब बनती है जब मन मे सवेदना जागृत होती है।

दो है—एक है ज्ञान की धारा और दूसरी है सवेदना। हम ज्ञान की धारा को ज्ञान की धारा ही रहने दें। हम चेतना की ज्योति-रश्मि को चेतना की ज्योति-रश्मि ही रहने दें। यही साधना है, यही आत्म-दर्शन है। यही प्रकाश है। इसे ही हम जानें, मानें और इसी के मध्य मे रहे। कोई कठिनाई नही होगी।

जैसे ही ज्ञान की धारा सवेदना के गुरुत्वाकर्पण के क्षेत्र मे जाती है वहा वह सवेदना बन जाती है, भारी हो जाती है और भीतर से बाहर की ओर प्रवाहित होने लगती है। अन्तरिक्ष यात्री जब अन्तरिक्ष की सीमा मे रहता है तब हल्का रहता है। वह काल की मर्यादा को भी लाघ देता है। किन्तु जब वह भूमि के गुरुत्वाकषण की सीमा मे प्रवेश करता है तब भारी हो जाता है और काल की मर्यादा मे बध जाता है। इसी प्रकार जब तक हमारी चेतना की धारा, ज्ञान की धारा विशुद्ध रूप मे प्रवाहित रहती है तब तक वह साधना है, पवित्रता है। जैसे ही वह कषाय के गुरुत्वाकर्षण मे प्रविष्ट होती है तब वासना, लोभ, वचना, मान आदि सारे दोष उभर आते है।

साधना की दृष्टि से हमे दो ही बातो पर ध्यान केन्द्रित करना है। पहली बात है कि हम चेतना को चेतना ही रहने दें। दूसरी बात है—हम चेतना को सवेदना न बनने दें। चेतना को चेतना बनाए रखने का प्रमुख उपाय है—शुद्ध उपयोग। ज्ञान को ज्ञान रूप मे जानना-देखना, सहज आनन्द का अनुभव करना,

अनन्त शक्ति का अनुभव करना, यह है चेतना का चेतना की परिधि में रहना। जहां ये रश्मियां बदल जाती हैं वहां चेतना बदल जाती है। इसका मूल कारण है—कषाय का गुरुत्वाकर्षण। कषाय का दबाव पड़ते ही चेतना चेतना नहीं रहती। वह विकृत हो जाती है। जब हम चेतना की स्थिति में होते हैं, वे क्षण हमारी जागरूकता के क्षण होते हैं। वे क्षण हमारी साधना के क्षण होते हैं। वे क्षण हमारे आत्मदर्शन के क्षण होते हैं। वे क्षण चेतना की दिशा में ले जाने वाले क्षण होते हैं। जब चेतना कषाय से संवलित होती है तब वे क्षण वासना के, वंचना के, अहं के होते हैं। तब हमारे सामने समस्या खड़ी हो जाती है। संवेदना समस्या उत्पन्न करती है। भय एक समस्या है, घृणा एक समस्या है, वासना एक समस्या है, लोभ एक समस्या है, आवेग एक समस्या है। इन सारी समस्याओं का मूल है—कषाय का गुरुत्वाकर्षण। उसका अभाव है समस्याओं का अभाव अर्थात् चेतना का चेतना में स्थित रहना।

दो स्थितियां बहुत स्पष्ट हैं। एक है चेतना की विशुद्ध स्थिति और दूसरी है कषाय-संवलित चेतना की स्थिति। साधक को जागरूक रहना है। वह चेतना को चेतना की परिधि में रहने दे। यही साधना है। यही आत्मा की उपासना है। जो मनुष्य चेतना को चेतना में रहने देता है, उसे कषाय के गुरुत्वाकर्षण से बचाता है, वह वास्तव में अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता जाता है।

२४

जप और मौन

दो आदमी नदी के तट पर पहुचे। उन्हें नदी पार करनी थी। उन्होंने देखा, नौका पडी है। एक बोला—'नाविक तो नही है, पर नौका पडी है। नदी पार कर लेंगे।' दूसरा बोला—'ऐसा नही हो सकता। नदी को पार करने के लिए केवल नौका ही पर्याप्त नही है। नाविक भी चाहिए, डाड भी चाहिए, नौका को खेने की कला भी चाहिए। ये सब हो, तभी नदी को पार किया जा सकता है।' पहला बोला—'यह कैसे हो सकता है ? जीवन भर सुनते आए हैं कि नदी को पार करना हो तो नौका से उसे पार कर लो। नौका पडी है। क्या आवश्यकता है दूसरी चीज़ो की ?' दूसरे ने समझाया, पर वह नही माना। उसने नौका को खोला। अकेला ही उसमे बैठ गया। पानी की एक हिलोर आयी और नौका आगे बहने लगी। नौका तैराने वाली थी पर आज वह उस यात्री के डूबने का कारण बन गयी। जो तैराने वाला होता है, वह कभी-कभी डुबाने वाला भी हो जाता है। वास्तव मे तैराने वाला और डुबाने वाला—दो नही होते, एक ही होते हैं। जो तैराने वाला है वही डुबाने वाला है और जो डुबाने वाला है वही तैराने वाला है। ये दो है नही वास्तव मे। यह तो सयोग का अन्तर है। वह नौका चली। आदमी शात बैठा है। पानी का बहाव तेज था, धारा तेज थी। नौका डगमगाने लगी। कुछ दूर जाकर नौका उलट गयी। यात्री पानी मे डुब गया।

यह बात तो ठीक है कि नौका पार ले जाती है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि कोरी नौका, अकेली नौका पार ले जाती है। इसके साथ कुछ और सामग्री भी चाहिए। जो व्यक्ति एक अश को पकडता है, शेष की उपेक्षा करता है, उसके लिए तैराने वाली वस्तु भी डुबाने वाली हो जाती है।

ठीक ऐसा ही हमारे जीवन मे घटित होता है। हम समझते हैं कि ओकार बडा मत्र है। 'अर्हम्' महत्त्वपूर्ण मत्र है। 'णमो अरहताण' बडा मत्र है। इनका जप करें, सारे काम सिद्ध होगे। बात तो ठीक है और यह ठीक नौका जैसी ही बात है कि नौका मे बैठो, पार पहुच जाओगे। मत्र का जप करो, सब कुछ सिद्ध

हो जाएगा। बात तो सही है। किन्तु कोरे मंत्र को पकड़ लिया और वर्षों तक जप करते चले गए, कुछ भी नहीं हुआ, कुछ अनुभव नहीं हुआ, काम सिद्ध नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में लोग कहने लग जाते हैं—इतने वर्षों तक मंत्र का जप किया, माला फेरी पर कुछ भी चमत्कार नहीं हुआ। कुछ भी नहीं हुआ। यानी वह नौका तैर नहीं रही है, लगता है डुबाने के प्रयत्न में है या डुबा रही है। कुछ कहते हैं—इतने दिन तक तो हमने विश्वास से माला फेरी, मंत्र का जप किया, अमुक अमुक अनुष्ठान किए, पर लगा नहीं कि कुछ हो रहा है तब हमने माला छोड़ दी, जप छोड़ दिया। मन में विश्वास ही नहीं रहा उन पर। इसका अर्थ है कि वे व्यक्ति स्वयं मझधार में आकर डूब जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है कि हम पूरी बात को नहीं जानते, पूरी बात को नहीं पकड़ते। हमें पूरी बात को जानना चाहिए, पूरी बात को पकड़ना चाहिए। मंत्र में शक्ति है, यह बात ठीक है। मंत्र तैराने वाला है, किन्तु सब कुछ केवल मंत्र से ही तो नहीं होगा। इसके साथ कुछ और भी चाहिए। सबसे पहले आप इस बात पर ध्यान दें कि मंत्र के साथ आपके मन का योग हुआ है या नहीं? आप मंत्र का जप तो कर रहे हैं, किन्तु मन उसमें संयुक्त नहीं है तो कुछ नहीं होगा। अर्थात् नदी को पार करने से पूर्व, नौका में बैठने से पूर्व, आपको देखना होगा कि नाविक है या नहीं? नाविक भी नहीं है और आप स्वयं नौका को खेना नहीं जानते तो निश्चित ही वह नौका आपको पार नहीं पहुंचा पाएगी, बीच में ही डुबो देगी। मंत्र में शक्ति है, पर आपका मन यदि उसमें संयुक्त नहीं है, आपके मन का योग उसमें नहीं है, उसे चला नहीं रहा है, खे नहीं रहा है तो वह मंत्र भी गड़बड़ी पैदा कर देगा। हमें पूरी बात पकड़नी चाहिए। पहली बात है मन के योग की। मन के योग के बिना जो भी काम किया जाता है, वह पूरा नहीं होता, अधूरा ही रह जाता है। आदमी खाता है और यदि मन खाने में संयुक्त नहीं है तो उसका खाना भी अधूरा है। आदमी चलता है और यदि मन चलने के साथ नहीं है तो उसका चलना भी अधूरा है। वह अधूरे मन से चलता है, पूरे मन से नहीं। आप स्वयं इस तथ्य का अनुभव करें। क्या आप कभी पूरे मन से खाते हैं? कभी नहीं? क्या आप ऐसा करते हैं कि खाते समय खाते ही हैं, और कुछ नहीं करते? न सोचते हैं—बोलते हैं और न इशारा करते हैं? क्या आपका मन पूर्ण रूप से खाने में नहीं लगा रहता है? नहीं, कभी नहीं। खाते-खाते आप सैकड़ों [illegible] कर लेते हैं। कहां से कहां चले जाते हैं। कितनी यात्राएं कर लेते हैं। कितनी [illegible] कर लेते हैं। कितनी योजनाएं बना लेते हैं। [illegible] इसका तात्पर्य है कि [illegible]

और शेप हजारो भाग न जाने कहा-कहा उडाने भरते रहते है। यही बात मत्र-जप मे लागू होती है। पूरे मन से मत्र-जप कहा होता है ? मन का एक भाग मत्र-जप मे लगा हुआ है और शेप हजारो भाग अन्यान्य कल्पनाओ मे व्यस्त हैं।

एक भाई कह रहा था कि जब अन्यान्य कामो मे लगा रहता हू तब मेरा मन प्राय उसी कार्य मे सलग्न रहता है किन्तु ज्यो ही मैं माला फेरने या जप करने बैठता हू, अनगिन कल्पनाए मन मे आने लगती है। दिमाग भर जाता है उन कल्पनाओ से।

पूरे मन से कोई काम नही होता। यही तो हमारी साधना की कमी है। साधना का अर्थ क्या है ? साधना मे आप और कुछ सीखें या न सीखें, यह अवश्य सीख लें कि जो भी काम करना है, वह पूरे मन से करना है, समग्रता से करना है अर्थात् उस काम मे मन को समग्र रूप से लगा देना है। मन को इतना लगा देना है कि मन के सारे कोने उस काममय हो जाए। एक भी कोना खाली न रहे, ताकि उसे भागने के लिए अवकाश ही न मिले। उसके सामने अवकाश रहे ही नही। बेचारा भागेगा कैसे ? कहा भागेगा ? यह स्थिति यदि प्राप्त हो जाती है तो साधना सफल है। आप चाहे इसे साधना की पहली सफलता कहे या अतिम सफलता, यह एकमात्र रहस्य है साधना का। इसका तात्पर्य यह है कि साधना के द्वारा मन को इतना प्रशिक्षित कर देना कि हम जिस काम मे उसे लगाना चाहे, वह उसी काम मे लगे। हम जिस काम मे उसे लगाना न चाहे, वह उस ओर झाके ही नही। यदि इतना प्रभुत्व स्थापित हो जाता है मन पर, तब कोई समस्या उत्पन्न ही नही होती। फिर हम अपने मन के मालिक हो जाते है। हम जो चाहें कर सकते हैं, जैसा चाहे वैसा कर सकते है। मन का अनेक टुकड़ो मे बट जाना ही समस्या है। हमारा मन इतने टुकडो मे बटा हुआ है कि हम उनकी गिनती भी नही कर सकते। यह बटा हुआ मन सबसे बडी समस्या है मानव जाति की। महावीर ने कहा—'अणेगचित्ते खलु अय पुरिसे'—मनुष्य अनेक मन वाला है। वह एक मन वाला नही है। अनेक मन है उसके। वह अनेक भागो मे बटा हुआ है। इसीलिए वह किसी भी बात को पूरे मन से नही सोच पाता। यदि वह पूरे मन से सोचने लग जाए तो सचमुच ही उसकी नौका पार लग सकती है, अन्यथा नही।

सबसे पहले आप देखें कि मत्र के साथ मन सयुक्त है या नही ? मन की पूरी शक्ति मत्र के साथ है या नही ? मत्र और मन दो बातें है।

तीसरी बात है, आप मत्र के अर्थ को जान रहे है या नही ? मत्र के अर्थ को जानना बहुत ज़रूरी है। यदि मत्र का अर्थ नही जान रहे हैं तो आप जो करना चाहते है, जो होना चाहते है, वह नही कर सकेंगे, वह नही हो सकेंगे।

परिणमन का सिद्धान्त शाश्वत है। कोई भी वस्तु शाश्वत नही है, स्थायी नही है। सब परिणमनशील है। परिणमन सत्य है। हर चीज़ बदलती है।

वह हो सकते हैं। यह सारा का सारा होता है प्राण के स्तर पर।

दो वस्तुए हैं—आत्मा और प्राण। एक है आत्म-शक्ति और एक है प्राण-शक्ति। एक है प्राणबल और एक है आत्मबल। हमारा लक्ष्य है—आत्मोपलब्धि। हम आत्मा के मूल स्तर तक पहुचना चाहते है, आत्मा को पाना चाहते हैं, मूल चेतना तक पहुचना चाहते है। यह है हमारा मूल लक्ष्य। इससे पहले आता है प्राण। उसका स्थान इससे पूर्व है। आत्मा तक कौन पहुच पाता है ? आत्मा तक वही पहुच पाता है जो प्राणवान् है, जो शक्तिशाली है। जिसका मनोबल ऊचा है, जिसका सकल्प-वल प्रबल है वह पहुच सकेगा आत्मा तक। जिसकी इच्छाशक्ति प्रवल है वह आत्मा तक पहुच पाएगा। जिसका मनोबल क्षीण है, जिसका सकल्प-वल क्षीण है, जिसकी इच्छाशक्ति, प्राणशक्ति दुर्बल है जो वीर्यहीन है वह कभी आत्मा को नही पा सकता। आत्मा को पाने के लिए प्राण को शक्तिशाली बनाना ज़रूरी है। जो जाप का स्तर है, वह प्राण के स्तर पर चलने वाला क्रम है। यह प्राण को शक्तिशाली वनाता है। प्राण हमारी विद्युत् शक्ति है। हर प्राणी मे यह शक्ति होती है। कोई भी प्राणी ऐसा नही होता जिसमे यह शक्ति न हो। हमारी सारी सक्रियता, चचलता, हमारा उन्मेष और निमेष, हमारी वाणी हमारा चिन्तन हमारी गति, हमारी दीप्ति, हमारा आकर्षण—ये सब प्राग के आधार पर होते है, विद्युत् शक्ति के आधार पर होते है। विद्युत् ही ये सारे कार्य निष्पन्न करती है। हमारे शरीर मे यह विद्युत् मौजूद है। इसे हम तैजस शरीर कह सकते है, प्राण कह सकते हैं। विद्युत् को वढाना मनोवल को वढाना है। जिसकी विद्युत् तीव्र होती है उसका मनोवल वढ जाता है। जिसकी विद्युत् क्षीण होती है, उसका मनोवल घट जाता है।

'आदमी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।' यह एक मान्यता मात्र नही। इसके पीछे वहुत वडा रहस्य है। हमारे भीतर विद्युत् शक्ति का एक आयतन है, एक पॉवर हाउस है। उसका स्थान है पृष्ठरज्जु का अन्तिम छोर। पृष्ठरज्जु जहा समाप्त होती है वहा एक कन्द है। वह है पीछे के हिस्से मे कटिभाग के पास। वहा विद्युत् शक्ति उत्पन्न होती है। वह एक विद्युत् जेनरेटर है। विद्युत् की उत्पत्ति का केन्द्र है। जिस व्यक्ति की विद्युत् शक्ति ऊर्ध्व की ओर जाती है, ऊर्ध्वगामी वन जाती है, वह वहुत शक्ति सपन्न हो जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना मे व्यक्ति अपनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी वनाकर मस्तिष्क तक ले जाता है। उसकी शक्ति वढ जाती है। उसका प्राण शक्तिशाली वन जाता है। उसका मनोवल मजबूत हो जाता है और उसमे इतना पराक्रम फूट पडता है कि वह जो सकल्प करता है, वह पूरा होता है। वह अपने सकल्प से कभी नही हटता, चाहे प्राण ही क्यो न चले जाए। जिसकी प्राणधारा काम-वासना के कारण नीचे की ओर प्रवाहित होने लगती है उसका मनोवल क्षीण हो जाता है, चेतना

को प्रभावित करता है, हमारे मन को प्रभावित करता है। रग-चिकित्सा पद्धति आज भी चलती है। 'कलर थेरापी'—यह पद्धति चल रही है। एक पद्धति है 'कॉस्मिक रे थेरापी' अर्थात् दिव्य-किरण-चिकित्सा। इसका भी रग के साथ सबध है। रग और सूर्य की किरण—दोनो के साथ इसका सबध है। प्रकाश के साथ यह सयुक्त है। रग हमारे शरीर और मन को विविध प्रकार से प्रभावित करता है। उससे रोग मिटते हैं, फिर चाहे वे रोग शारीरिक हो या मानसिक। मानसिक रोग-चिकित्सा मे भी रग का विशिष्ट स्थान है। पागलपन को रग के माध्यम से समाप्त कर दिया जाता है। रग थोडा-सा विकृत हुआ कि आदमी पागल हो जाता है। रग की पूर्ति हुई, आदमी स्वस्थ बन जाता है। शरीर मे रग की कमी के कारण अनेक बीमारिया उत्पन्न होती है। 'कलर थेरापी' का यह सिद्धात है कि बीमारी के कोई कीटाणु नही होते। रग की कमी के कारण बीमारी होती है। जिस रग की कमी हुई है, उसकी पूर्ति कर दो, आदमी स्वस्थ हो जाएगा, बीमारी मिट जाएगी। तो बीमारी का होना या बीमारी का न होना या स्वस्थ होना, यह सारा रगो के आधार पर होता है।

हमारे चिंतन के साथ भी रगो का सबध है। मन मे खराब चितन आता है, अनिष्ट वात उभरती है, अशुभ सोचते हैं, तब चिंतन के पुद्गल काले वर्ण के होते हैं। लेश्या कृष्ण होती है। अच्छा चिंतन करते हैं, हितचिंतन करते है, शुभ सोचते हैं तव चिंतन के पुद्गल पीतवर्ण के होते है, पीले होते हैं। लाल वर्ण के भी हो सकते है और श्वेत वर्ण के भी हो सकते है। उस समय तेजोलेश्या होगी या पद्मलेश्या होगी या शुक्ललेश्या होगी। बुरे चिंतन के पुद्गलो का वर्ण है काला और अच्छे चिंतन के पुद्गलो का वर्ण है पीला या लाल या श्वेत। कितना बडा सवध है रग का चिंतन के साथ। जिस प्रकार का चिंतन होता है उसी प्रकार का रग होता है।

शरीर के साथ रग का गहरा सबध है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के आस-पास रग का एक आभामडल है। उसमे अनेक रग होते है। किसी के आभामडल का रग काला होता है, किसी के नीला और किसी के लाल और किसी के सफेद। अनेक वर्णों का भी होता है आभा-मडल। आपकी आखो को वे रग नही दिखते। पर वे हैं अवश्य ही। ऐसा एक भी व्यक्ति नही है जिसके चारो ओर आभामडल न हो। इसका स्वय पर भी असर होता है और दूसरो पर भी असर होता है। आप किसी व्यक्ति के पास जाकर वैठते है। वैठते ही आपके मन मे एक परिवर्तन होता है। लगता है कि आपको अपूर्व शाति का अनुभव हो रहा है। आपका मन आनन्दित है और अन्दर ही अन्दर एक सगीत चल रहा है। आप किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाकर वैठते है। अकारण ही उदासी छा जाती है मन उद्विग्न हो जाता है। मन मे क्षोभ और सताप उत्पन्न हो जाता है। वहा से उठने की शीघ्रता होती है। यह सव क्यो होता है ? भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के पास वैठकर हम भिन्न-भिन्न

वृद्धि करता है, स्त्री की प्राप्ति कराता है और प्लुत उच्चारण ज्ञान की वृद्धि कराता है। तीन उच्चारण और हैं—सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म। ये समापत्ति करते है, ध्येय के साथ व्यक्ति को जोड देते है। ध्येय के साथ व्यक्ति का योग कर देते हैं। आप 'अर्हं' शब्द को लें। आप इसका उच्चारण करते है। इसका एक होता है ह्रस्व उच्चारण, एक होता है दीर्घ उच्चारण और एक होता है प्लुत उच्चारण। फिर सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और परमसूक्ष्म। परमसूक्ष्म मे आकर हमे लगता है कि हम पहुच गए। अर्हत् का अनुभव करने लग गए। इन छहो प्रकार के उच्चारणो के भिन्न-भिन्न प्रभाव होते हैं।

इस प्रकार हमे शब्द की शक्ति को पहचानना है, शब्द के अर्थ को समझना है और उच्चारण को भी समझना है।

चौथी बात है मन। मन को शब्द के साथ जोड देना। जिस शब्द का हम जाप कर रहे है उसके साथ मन का योग कर देना। इन सबका उचित योग मिलता है, तब जप की शक्ति पैदा होती है। कोरी नौका से काम नही चलेगा। कोरी माला फेरने से काम नही चलेगा। यह हमे जानना होगा, समझना होगा कि नौका के साथ और क्या-क्या आवश्यक होता है नदी पार करने के लिए। यह हमे समझना होगा कि जप के साथ और क्या-क्या आवश्यक होता है। 'णमो अरहताण' बहुत अधिक शक्तिशाली मत्र है। यह सही है पर जब इसका उच्चारण भी शुद्ध नही होगा तब यह फल कैसे देगा? इसका उच्चारण भी किस उद्देश्य से कैसा होना चाहिए—यह जब तक नही जानते तो फिर हम इससे कैसे लाभ उठा पाएगे? लाभ नही पा सकेंगे। अपने अज्ञान और दोष के कारण ही मत्र या जाप लाभदायी नही होता और हम सारा दोष मत्र या जाप पर थोप देते है। हम कह देते है कि मत्र से कुछ नही बना। जाप से कुछ लाभ नही हुआ। शब्द के उच्चारण के ध्येय को समझना भी बहुत जरूरी है। ये सब बातें जप के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

जप क्या है? ध्येय के साथ एकरस हो जाना ही जप है। यह भी ध्यान है। महर्षि पतजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ध्यान माना है। चित्त की वृत्तियो का निरोध करना ध्यान है। ध्यान का सबध चित्त से है। जैन आचार्यों ने कहा—'ध्यान त्रिविधम्'—ध्यान के तीन प्रकार है—कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान। यह एक नया दृष्टिकोण है, नई परपरा है। शरीर का शिथिलीकरण, शरीर की स्थिरता जो है वह है—कायिक ध्यान। वाचिक जप—वाणी का ध्येय के साथ मे योग कर देना, ध्येय और वचन—दोनो मे समापत्ति कर देना, दोनो को एकरस कर देना—यह है वाचिक ध्यान। मन का ध्येय के साथ योग कर देना, यह है मानसिक ध्यान। ये तीन प्रकार के ध्यान हैं। जप है वाचिक ध्यान। यह वचन के द्वारा होने वाला ध्यान है। वचन के माध्यम से हम इतने

छप्पर और जूते गाठते है ! कुछ भी नही है पास मे !' वह रैदास से मिला। चरण छूकर बोला—'महाराज ! मैं कुछ भेंट चढाने आया हू। आपकी स्थिति देखकर दिल रो रहा है। यह पारस पत्थर मैं आपको देता हू। आप इसे स्वीकार करें। आप इस अवस्था मे न जीए, अच्छी अवस्था मे जीए।' रैदास ने कहा—'भाई ! मुझे कोई जरूरत नही है पारस पत्थर की। मैं बहुत अच्छी तरह जी रहा हू। कोई कमी नही है। सब कुछ है जीवन-यापन के लिए। मैं पूर्ण सतुष्ट हू। जिसमे असतोष हो, उसे दो यह पारस पत्थर। मैं पूर्ण सतुष्ट हू। मुझे इसकी ज़रूरत नही है।'

साधु पारस पत्थर स्वीकार करने का आग्रह कर रहा था और रैदास उसे नकार रहे थे। वे लेना नही चाहते थे और साधु उसे दिए बिना वहा से हटना नही चाहता था। दोनो मे लवे समय तक आग्रह चलता रहा। अन्त मे रैदास ने कहा—'चलो, तुम्हारा इतना आग्रह है तो इस पारस को कही छप्पर मे खोस दो।' साधु ने उसे छप्पर मे खोस दिया। साधु चला गया।

रैदास का जीवन-क्रम ठीक चल रहा था। न उनमे लालसा थी और न आकाक्षा। जीवन-पूर्ति का साधन प्राप्त था। यदि कमी होती तो सभव है वे पारस पत्थर से पूरी कर लेते। उनमे कोई असतोष नही था। उनके सामने कोई समस्या नही थी, जिसको कि वे पारस पत्थर से सुलझाते। उनके सामने कोई कठिनाई नही थी। वे तो उसे पा चुके थे, जिसके मिल जाने पर पारस का मूल्य ही समाप्त हो जाता है।

कुछ महीने बीते। वही साधु लौटकर रैदास की कुटिया पर आया। उसने सोचा था—अव सत रैदास के पास क्या ठाट-बाट मिलेगा। इतना वैभव, इतना सुदर प्रासाद, राजसी ठाट-बाट मिलेगा। वह साधु तो हो चुका था, सन्यासी बन चुका था, फिर भी राजसी ठाट-बाट का मोह नही छूटा था। पारस का आकर्षण भी नही मिटा था। वह आया। उसने देखा—वही टूटी-फूटी झोपडी है और वही भक्त रैदास बैठे-बैठे जूता गाठ रहे है। अरे, यह क्या ? क्या पारस का इन्होने उपयोग ही नही किया ? उपयोग करते तो आज यह स्थिति नही होती। आज जूते गाठने की नौबत ही नही रहती। ये लोग जैसे थे, वैसे ही रह गए।

वितर्क होता है। जिसके पास पारस हो, क्या वह इतनी गरीबी का जीवन जी सकता है ? जिसके पास पारस पडा हो, क्या वह जूते गाठने का काम कर सकता है ? जिसके पास पारस हो, क्या वह साधारण-सी रूखी-सूखी रोटी खाकर सतुष्ट हो सकता है ? कभी सभव नही है। लोग तो पारस का नाम सुनते ही उसे पाने के लिए लालायित हो जाते है। उनके मुह से लार टपकने लग जाती है। किन्तु जिसके पास पारस है, जो क्षण भर मे लोहे को सोना वना सकता है, जिसके हाथ मे यह शक्ति आ जाए कि लोहे को छुआ और वह सोना हो जाए, तो न

पारस का नाम सुनते ही उसके मुह से लार टपकने लगी। मन भविष्य की कल्पनाओ से भर गया। वह दौडा-दौडा नदी के तट पर आया। पारस को देखा। चमचमा रहा था धूप मे। उसे उठाने के लिए हाथ बढाया। एक विकल्प आया और वह हाथ बीच मे ही रुक गया। उसके मन मे एक विकल्प आया कि सन्यासी ने पारस को फेंक दिया। क्यो फेंका ? क्या कोई व्यक्ति पारस को प्राप्त कर उसे यो ही फेंक देता है ? कभी नही। क्या यह पारस पत्थर नकली है ? नही, नकली भी नही है। असली है तो फिर सन्यासी ने इसे फेंका क्यो ? ज़रूर ही सन्यासी के पास इससे भी कोई अधिक मूल्यवाली चीज़ होगी, तभी तो उसने इस कम मूल्य वाले पत्थर को फेंका है। अगर इससे बढिया वस्तु नही होती तो वह इसे कभी नही फेंकता। सन्यासी इतना मूर्ख तो नही है। वह मुडा। सन्यासी के पास आकर बोला—'महाराज ! मुझे पारस नही चाहिये। मुझे तो वह वस्तु दें जिसे पाकर आपने पारस को फेंका था।' बहुत सुन्दर तर्क दिया उसने।

यह निश्चित है कि पारस से भी मूल्यवान् वस्तु को पाए बिना, हस्तगत किए बिना, कोई भी व्यक्ति पारस को नही फेंक सकता। पारस से भी कोई मूल्यवान् वस्तु मिल जाती है तब पारस का मूल्य घट जाता है और व्यक्ति उसे फेंक देता है। रैदास के मन मे पारस के प्रति आकर्षण नही हुआ क्योकि वे उससे भी बहुत अधिक मूल्यवान् वस्तु प्राप्त कर चुके थे। अब उनका आकर्षण उस तुच्छ वस्तु से हटकर महान् वस्तु पर केन्द्रित हो गया था।

तेरापथ धर्म-सघ के चौथे आचार्य हुए है—श्रीमज्जयाचार्य। वे मुनि अवस्था मे थे। एक बार वे पाली मे आए। बाज़ार की दूकान मे ठहरे हुए थे। उनकी अवस्था छोटी थी। वहा एक नट-मडली आयी हुई थी। दूकान के सामने वाले मैदान मे नटो ने अपने करतब दिखाने प्रारभ किए। सैकडो दर्शक एकत्रित हो गए। नाटक प्रारभ हुआ। घटा-भर चला और पूरा हो गया, सपन्न हो गया। उन दर्शको मे एक भाई था। उसने अपने साथियो से कहा—'तेरापथ धर्म-सघ की नीव सौ वर्षों के लिए और मजबूत हो गयी।' उन्होने पूछा—'कैसे जाना तुमने यह ? क्या कोई ज्ञान हुआ है ? या ऐसे ही गप्प हाक रहे हो ?' उसने कहा—'नाटक घटा भर चला। नट बडे सुन्दर करतब दिखा रहे थे। मैंने नाटक देखा ही नही। मैं तो सामने वाली दुकान मे स्थित छोटी अवस्था वाले मुनि को ही देखता रहा घटा भर। उस मुनि ने आख उठाकर भी इस ओर नही देखा। मैं एकटक उस मुनि को ही देखता रहा। न मैंने नाटक देखा और न उस मुनि ने। मैं तो उस मुनि की मानसिक एकाग्रता को ही देखता रहा। जिस सघ मे ऐसे मुनि होते हैं, उस सघ की नीव मज़बूत होती जाती है।'

मुनि की यह भावना क्यो बनी ? यह परिवर्तन कैसे आया ? क्या ऐसा होना स्वाभाविक है ? नही, बिलकुल नही। हर आदमी ऐसी स्थिति मे रम लेता है।

हमारा ध्येय ऊचा होना चाहिए, आत्माभिमुख होना चाहिए। नीचा ध्येय नही होना चाहिए। एकाग्रता ऊचे ध्येय मे भी काम करती है और नीचे ध्येय मे भी। उसकी कार्यक्षमता मे कोई वाधा नही है। एकाग्रता शक्ति है। एक धारा मे वहने वाले मन से यह उत्पन्न होती है। मन एक धारा मे ऊपर की ओर भी बह सकता है और नीचे की ओर भी वह सकता है। इस बहाव से शक्ति पैदा होती है। ऊर्जा उत्पन्न होती है। वह तो अपना करतव दिखाएगी ही। किन्तु यदि मन को नीचे ध्येय मे एकाग्र कर लिया तो विस्फोट होगा नीचे स्तर पर। वह काम का नही होगा। वह नीचे ले जाने वाला होगा। चेतना के प्रवाह को नीचे ले जाएगा। यदि ऊचे ध्येय मे मन को एकाग्र किया है, मन को नियोजित किया है तो विस्फोट होगा ऊचे स्तर पर। वह मन को विकसित करेगा। वह अनेक उपलब्धियो का वाहक होगा।

एक वात और ध्यान मे रखें। एकाग्रता अच्छी है। पर उसके लिए भी समय की सीमा है। उसका हमे खयाल रखना चाहिए। आज वीज बोया और आज ही वृक्ष बन जाए, यह असभव है। उसके लिए काल की अवधि है। इसी प्रकार एकाग्रता के फलीभूत होने की भी कालावधि है। आज एकाग्रता का अभ्यास प्रारभ किया। पाच-दस-बीस मिनट का अभ्यास होने लगा। यह अच्छा है, पर फल पूरा नही है। यह उसका अतिम फल नही है। अभी तो वह बीज अकुरण की अवस्था मे है। पौधा बनने मे उसे समय लगेगा। काल का पूरा परिपाक होने पर ही वह बीज वृक्ष बनेगा, पहले नही। इसी प्रकार यदि आप अपने मन को एक धारा मे तीन घटे तक बहा सकें तो आपको लगेगा कि एकाग्रता सिद्ध हो गयी है। अब उसमे फल लगने लगे हैं। हमे इस काल-मर्यादा को भी समझना चाहिए।

प्रश्न होता है कि एकाग्रता कैसे हो? यह प्रश्न स्वाभाविक है। मन चचल है। वह एक धारा मे बहना नही चाहता, एक दिशा मे चलना नही चाहता। ऐसी स्थिति मे एकाग्रता प्राप्त नही होती। मन को एक धारा मे कैसे बहायें? यह अनुभूत तथ्य है कि मन जब तक सूक्ष्म नही होगा, वह एक दिशा मे नही चलेगा। मन को सूक्ष्म किए विना हम उसे एक ध्येय पर नही टिका सकते। मन को सूक्ष्म कैसे किया जाए? यह प्रश्न है। इसका समाधान यह है कि मन को सूक्ष्म करने का उत्तम उपाय है—श्वास का अभ्यास। श्वास पर ध्यान केन्द्रित करना, मन को लगाना, मन को सूक्ष्म करने का अचूक उपाय है। होठ का ऊपरी भाग या नाक का निचला भाग, जहा श्वास का स्पर्श होता है, घर्षण होता है, वहा मन को केन्द्रित करना, उस स्पर्श-विन्दु पर मन को टिकाना, आने वाले श्वास और जाने वाले श्वास के स्पर्श का अनुभव करना, इससे श्वास लबा और सूक्ष्म हो जाएगा। इसका अभ्यास जितना कर सकें, आप करें। दस-वीस-तीस या साठ मिनट तक

२६

साधना के तीन पक्ष

कुछ लोग ऐसे होते है जो अनेक प्रयोग सिखाते है और करते भी है। उनके विशेष साधना होती है। किन्तु सामान्य आदमी के लिए यह सभव नही है, क्योकि कुछ प्रयोग ऐसे है जिनमे हर व्यक्ति जा नही सकता। जाता है तो कठिनाई मे गुजरता है। यह अपनी क्षमता, शक्ति और विशेष योग्यता पर निर्भर है। किन्तु ऐसे भी प्रयोग है, जो सर्व-सामान्य है। प्रत्येक व्यक्ति उन्हें कर सकता है। सबके लिए वे सभव है। मैने पहले यह सोचा भी था कि इस शिविर मे एक प्रयोग किया जाए और अगले शिविर तक उसकी साधना चले। फिर दूसरा प्रयोग लिया जाए और उसे भी तब तक चलाया जाए जब तक कि दूसरा शिविर आयोजित न हो जाए। प्रत्येक प्रयोग छह मास तक अवश्य चले। अनुभव मे आ जाए तो फिर उसे लबा किया जाए।

साधना के तीन पक्ष है—अध्यात्म, प्राण और व्यवहार। हमे केवल प्राण-क्रिया पर अटकना नही है। हमारा मुख्य ध्येय है—अध्यात्म, आत्मिक विकास। यह चैतन्य-विकास की सबसे ऊची भूमिका है।

दूसरा है—प्राण का प्रयोग। वह भी आवश्यक है। हम प्राणबल, मनोबल और शक्ति का विकास करें जिससे कि अध्यात्म तक पहुचने मे सुविधा हो।

तीसरी बात है—व्यवहार की। अध्यात्म की साधना चल रही है। प्राण की साधना चल रही है और यदि व्यवहार मे कोई परिवर्तन नही आता है तो लोगो के लिए मखौल की बात बन जाती है। हमारा व्यवहार भी साथ-साथ बदलना चाहिए। अध्यात्म का विकास होता है तो व्यवहार अपने-आप ही बदलता है, बदले बिना रह नहीं सकता। फिर भी उसकी साधना साथ-साथ चलनी चाहिए। व्यवहार की साधना भी अध्यात्म के लिए पूरक और सहयोगी सिद्ध होगी। आज मै एक प्रयोग की चर्चा करूगा।

अध्यात्म की दृष्टि से आप छह मास तक अहं-विसर्जन का प्रयोग करें। अहकार और ममकार—ये दो ही हमारी अध्यात्म साधना की, चैतन्य-विकास की

नौकर के प्रति करुणा करे, सबके प्रति करुणा करें। किसी के प्रति क्रूर व्यवहार न करे, क्रूरता न दिखाए। जब कभी मन में क्रूरता आएगी हम सभलेंगे और करुणा करेंगे। यदि करुणा हमारे मन मे आती है, जीवन मे आती है तो अनेक व्याधिया अपने-आप मिट जाती है। बहुत सारे अन्याय क्रूरता के कारण होते हैं। आदमी क्रूर होकर अन्याय करता है। यदि करुणा का अभ्यास होता है, विकास होता है तो सारी स्थितिया समाप्त हो जाती है। जैन परम्परा मे यह माना गया है कि जिसमे करुणा नही है वह सम्यक्दृष्टि भी नही हो सकता। सम्यक्दृष्टि का एक लक्षण है —अनुकपा। यदि आदमी मे अनुकपा है, करुणा है तो समझ लो कि वह सम्यक्दृष्टि है। यदि करुणा नही है तो वह मिथ्यादृष्टि है। यह कसौटी है पहचानने की कि कौन सम्यक्दृष्टि है और कौन मिथ्यादृष्टि। यह हमारे व्यवहार का सूत्र है।

अध्यात्म की साधना मे अह का विसर्जन, प्राण की साधना मे दीर्घश्वास तथा समताल श्वास और व्यवहार की साधना मे करुणा का अभ्यास—ये प्रयोग के तीन आयाम हैं। इनसे तीन बाते फलित होगी, सिद्ध होगी। पहली बात होगी अह का विसर्जन, दूसरी बात होगी वासना-विजय, तीसरी बात होगी करुणा का अभ्यास।

अब इनके साथ एक बात और है। चौथी बात है—जप। इन तीनो बातो को बल देने के लिए जप बहुत ही आवश्यक है, क्योकि इससे हमारी सारी शक्ति मे परिवर्तन होता है। शक्ति का विकास होता है। प्राणशक्ति और आत्मशक्ति दोनो को प्रभावित करता है। इसके लिए आप नवकार का जप करते है, माला फेरते है। वही चले आपका क्रम। विधि मे थोडा-सा परिवर्तन आपको सुझा दू। कोई नवकार मत्र की एक माला फेरता है। यह आप फेरते रहे। एक परिवर्तन करें। एक माला मेरे द्वारा बतायी विधि से फेरें। आप नमस्कार मत्र का एक चरण लें—'णमो अरहताण'। इस चरण का आपको जप करना है। श्वास लेते समय इसका जप न करें, उच्चारण न करें। श्वास छोडते समय भी इसका जप न करें। पूरक मे भी इसका जप न करें और रेचन मे भी इसका जप न करे। इसका जप कुभक की अवस्था मे करें। आपने श्वास लिया, पूरक किया, अभी उसे अदर टिकाए हुए हैं। कुभक की अवस्था मे है। श्वास को बाहर छोडा नही है। उस अवस्था मे आप उसका जप करें। 'णमो अरहताण' का उच्चारण करें। फिर श्वास को निकाला, फिर श्वास लिया। निकलते समय भी जप नही करना है। फिर श्वास को अदर रोका, कुभक हुआ। तब 'णमो सिद्धाण' का जप करे। कुभक की स्थिति मे ही जप हो। यह जरूरी नही कि पूरी माला ही फेरी जाए। दस बार भी इस विधि से यदि नमस्कार महामत्र का जप होता है तो वह बहुत लाभदायी है, मूल्यवान है। जितनी आपको सुविधा है, उतनी देर करे। पर एक

२७

निर्विचार ध्यान

चीनी सम्राट् ने एक ध्यान-साधक को आमत्रित कर कहा—'मैं उपदेश सुनना चाहता हू। आप मुझे उपदेश दें।' साधक बैठ गया। सम्राट् साधक के सामने बैठ गया। पाच मिनट बीते, दस मिनट बीते। सम्राट् प्रतीक्षा मे है कि सत के मुख से कोई शब्द निकले। सारा वातावरण मूक। आधा घटा बीत गया। सम्राट् की प्रतीक्षा चालू है और सत का मौन चालू है। घटा बीता। सम्राट् अधीर हो गया। उसने कहा—'भते! आपको यहा उपदेश देने के लिए निमत्रित किया है। मैं अत्यन्त उत्सुक हू आपका उपदेश सुनने के लिए। आप मौन है। आप बोले। कुछ कहे।' सम्राट् का मत्री ध्यान का मर्म समझता था। उसने कहा—'राजन्! उपदेश समाप्त हो चुका है। अब तो जाने की तैयारी है।' सत उठकर चले गए।

अच्छा होता कि मैं भी आज वैसा ही करता, मौन ही रहता, मौन ही उपदेश होता। जो बात नही बोलकर, मौन रहकर समझाई जा सकती है वह बोलकर मैं नही समझा सकूगा। यह मेरे लिए भी एक समस्या है। नही बोलने के द्वारा जो बात समझ मे आ सकती है, वह बोलने के द्वारा समझ मे भी नही आ सकती। पर कभी-कभी मौन के लिए भी बोलना जरूरी हो जाता है। जो भाषा से समित है वह दिन भर बोलता हुआ भी नही बोलता। निर्युक्तिकार का यह रहस्य-सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जो विकल्प के जाल मे फसा हुआ नही है वह बोलता हुआ भी नही बोलता और जो विकल्प से प्रताडित है वह नही बोलता हुआ भी बोलता है।

व्यापार। जहा चैतन्य का व्यापार शुद्ध है, कोरा है, मिलावट नही है, वह शुद्ध उपयोग की स्थिति है। यही निर्विचारता की स्थिति है। यहा सारे सवेदन समाप्त हो जाते हैं।

एक पौराणिक कहानी है। एक सत था। वह बहुत प्रसिद्ध हो गया। हजारो की सख्या मे लोग आने लगे। कुछ अच्छे भी आते थे तो कुछ बुरे लोग भी आते थे। सत के पास आने-जाने की किसी को रुकावट नही थी, होती भी नही है रुकावट। एक दिन एक दुर्जन आदमी सत के पास आकर बैठ गया। उसके मन मे कोई जिज्ञासा नही थी। वह सत को चिढाने के लिए इधर-उधर के प्रश्न पूछने लगा। उसका मन दूषित था। उसका मन आग्रह और विवाद से भरा था। उसके मन मे केवल आग्रह था, केवल विवाद था, केवल कुतर्क था, समझने का कोई भाव नही था। उसने प्रश्न पूछे। सत ने शात भाव से उत्तर दिए। विविध प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया। पर वह सारा पानी मथने जैसा था। दही का मथन होता तो नवनीत निकलता। पानी को मथने से क्या हाथ आ सकता है? वैसा ही हुआ। उसने अपना आग्रह नही छोडा। सत हैरान हो गया। क्रोध नही आना चाहिए था, पर हैरानी ने उसे प्रकट कर दिया। वह साधक ही तो था, सिद्ध नही था। सत ने कहा—'तुम बहुत बडे दुष्ट हो। निकल जाओ यहा से!' उसे धक्का देकर बाहर निकलवा दिया। कहा जाता है कि सत के समक्ष रात मे भगवान् प्रकट हुए। उन्होंने सत से कहा—'तुमने बडा अन्याय किया। उस व्यक्ति को घर से निकाल दिया।' वह बोला—'भगवन्! और मैं क्या करता? वह दुष्ट था, क्रोधी था, कुतर्की था, कुछ समझने वाला नही था, तब मैं क्या करता?' भगवान् ने कहा—'तुम भोले हो, सत! जब उसके लिए भी मेरी सृष्टि मे स्थान है मेरे जगत् मे स्थान है तब तुम्हारे यहा उसका स्थान क्यो नही होना चाहिए?' सत बोला—'आप तो परम शुद्ध है, मैं शुद्ध नही हू। मैं ऐसे दुष्ट व्यक्ति को स्थान कैसे देता?'

जहा शुद्धता होती है वहा कोई विकार नही होता। जहा शुद्ध चेतना होती है, वहा सबके लिए स्थान हो सकता है, किन्तु अशुद्ध चेतना मे सबके लिए स्थान नही हो सकता। भगवान् शुद्ध है। शुद्ध के जगत् मे सब कुछ समा सकता है। अच्छा हो, बुरा हो, गदा हो, साफ-सथुरा हो, सुघड हो, बेडौल हो, कैसा भी हो, सब कुछ समा सकता है। अशुद्धता मे सब नही समा सकता। वहा सीमाए होती है। इतना जानो, इतना देखो, इतना अनुभव करो—ये सीमाए है। शुद्धता मे सब सीमाए समाप्त हो जाती है। सब कुछ निस्सीम हो जाता है। जब हमारी चेतना शुद्ध हो जाती है, उस स्थिति मे चाहे दुर्जन हो या सज्जन, बुरा हो या अच्छा, कैसा भी हो, कोई कठिनाई उत्पन्न नही होती।

शुद्ध चेतना या निर्विकार ध्यान की कसौटी यह है, उसका दर्शन यह है—

व्यापार। जहा चैतन्य का व्यापार शुद्ध है, कोरा है, मिलावट नही है, वह शुद्ध उपयोग की स्थिति है। यही निर्विचारता की स्थिति है। यहा सारे सवेदन समाप्त हो जाते है।

एक पौराणिक कहानी है। एक सत था। वह बहुत प्रसिद्ध हो गया। हजारो की सख्या मे लोग आने लगे। कुछ अच्छे भी आते थे तो कुछ बुरे लोग भी आते थे। सत के पास आने-जाने की किसी को रुकावट नही थी, होती भी नही है रुकावट। एक दिन एक दुर्जन आदमी सत के पास आकर बैठ गया। उसके मन मे कोई जिज्ञासा नही थी। वह सत को चिढाने के लिए इधर-उधर के प्रश्न पूछने लगा। उसका मन दूषित था। उसका मन आग्रह और विवाद से भरा था। उसके मन मे केवल आग्रह था, केवल विवाद था, केवल कुतर्क था, समझने का कोई भाव नही था। उसने प्रश्न पूछे। सत ने शात भाव से उत्तर दिए। विविध प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया। पर वह सारा पानी मथने जैसा था। दही का मथन होता तो नवनीत निकलता। पानी को मथने से क्या हाथ आ सकता है? वैसा ही हुआ। उसने अपना आग्रह नही छोडा। सत हैरान हो गया। क्रोध नही आना चाहिए था, पर हैरानी ने उसे प्रकट कर दिया। वह साधक ही तो था, सिद्ध नही था। सत ने कहा—'तुम वहुत वडे दुष्ट हो। निकल जाओ यहा से!' उसे धक्का देकर वाहर निकलवा दिया। कहा जाता है कि सत के समक्ष रात मे भगवान् प्रकट हुए। उन्होने सत से कहा—'तुमने वडा अन्याय किया। उस व्यक्ति को घर से निकाल दिया।' वह वोला—'भगवन्! और मैं क्या करता? वह दुष्ट था, क्रोधी था, कुतर्की था, कुछ समझने वाला नही था, तव मैं क्या करता?' भगवान् ने कहा—'तुम भोले हो, सत! जव उसके लिए भी मेरी सृष्टि मे स्थान है मेरे जगत् मे स्थान है तव तुम्हारे यहा उसका स्थान क्यो नही होना चाहिए?' सत वोला—'आप तो परम शुद्ध हैं, मैं शुद्ध नही हू। मैं ऐसे दुष्ट व्यक्ति को स्थान कैसे देता?'

जहा शुद्धता होती है वहा कोई विकार नही होता। जहा शुद्ध चेतना होती है, वहा सवके लिए स्थान हो सकता है, किन्तु अशुद्ध चेतना मे सवके लिए स्थान नही हो सकता। भगवान् शुद्ध है। शुद्ध के जगत् मे सव कुछ समा सकता है। अच्छा हो, बुरा हो, गदा हो, साफ-सथुरा हो, सुघड हो, वेडौल हो, कैसा भी हो, सव कुछ समा सकता है। अशुद्धता मे सव नही समा सकता। वहा सीमाए होती है। इतना जानो, इतना देखो, इतना अनुभव करो—ये सीमाए है। शुद्धता मे सव सीमाए समाप्त हो जाती है। सव कुछ निस्सीम हो जाता है। जव हमारी चेतना शुद्ध हो जाती है, उस स्थिति मे चाहे दुर्जन हो या सज्जन, बुरा हो या अच्छा, कैसा भी हो, कोई कठिनाई उत्पन्न नही होती।

शुद्ध चेतना या निर्विकार ध्यान की कसौटी यह है, उसका दर्शन यह है—

सुख-दु ख सम हो जाना। आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि शुद्ध चेतना के आने पर साधक सुख और दु ख मे समान हो जाता है। उसके लिए सुख और दु ख मे कोई अन्तर नही होता। वह यह अन्तर नही करता कि यह सुख है और यह दु ख है। दोनो समान हैं उसके लिए। यह कैसे घटित होता है? वह क्या मनुष्य जिसको सुख की अनुभूति प्रिय न हो और दु ख की अनुभूति अप्रिय न हो? दोनो मे सम रहने की स्थिति क्यो घटित होती है? कब घटित होती है? कैसे घटित होती है? अशुद्ध चेतना मे यह कभी घटित नही हो सकता। जब हमारी चेतना शुद्ध हो जाती है, कोरे ज्ञान की स्थिति मे होती है, उस समय न कोई सुख रहता है और न कोई दु ख रहता है। सुख और दु ख—ये दोनो सज्ञाए समाप्त हो जाती हैं। उस समय न कोई शत्रु रहता है और न कोई मित्र। शत्रु और मित्र—ये दोनो सज्ञाएं समाप्त हो जाती हैं। उस समय न जीने की आशसा रहती है और न मौत का भय। आशसा और भय—दोनो समाप्त हो जाते है। इस स्थिति को भगवान् कृष्ण ने गीता मे इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है—

'सिद्ध्यसिद्ध्यो समोभूत्वा, समत्व योग उच्यते।'

सिद्धि का अर्थ है—उपलब्धि, सफलता। असिद्धि का अर्थ है—अनुपलब्धि, असफलता। जो साधक सिद्धि और असिद्धि मे, उपलब्धि और अनुपलब्धि मे सम रहता है इस समत्व का नाम है योग। समत्व निर्विचारता की स्थिति है।

निर्विचार ध्यान को सामायिक कहा जा सकता है। भगवान् महावीर ने जितना बल सामायिक पर दिया उतना बल किसी पर नही दिया, क्योंकि ध्यान सामायिक से अलग नही है। सामायिक का नाम ध्यान है। ध्यान और सामायिक दो नही हैं। गौतम ने महावीर से पूछा—'भते! सामायिक क्या है? सामायिक का अर्थ (विषय) क्या है?' भगवान् ने छोटा-सा उत्तर दिया, दो ही शब्दो मे उत्तर दिया, पर वह उत्तर बहुत महत्त्वपर्ण है। भगवान् ने कहा—'आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे'—आत्मा सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। जब हम मूल चेतना मे होते है, आत्मा मे ठहरे हुए होते हैं, उस स्थिति का नाम है सामायिक। अपनी आत्मा मे होना ही सामायिक है। सामायिक के वेश मे होना वास्तविक सामायिक नही है। अपनी आत्मा मे होना ही वास्तविक सामायिक है। अपनी आत्मा मे होना ही सामायिक का अर्थ है, विषय है। आत्मा और सामायिक दो नही हैं, एक ही है, शब्द दो है। पर अर्थ और भावना एक ही है।

आत्मा और ध्यान भी दो नही हैं। निर्विचार ध्यान का मतलब है—आत्मा मे होना। सामायिक का मतलब भी है—आत्मा मे होना। तीन शब्द हैं—ध्यान, निर्विचारता और सामायिक। तीनो एक हैं। सामायिक मे होने का अर्थ है—निर्विचार ध्यान मे होना और निर्विचार ध्यान मे होने का अर्थ है—सामायिक मे

'जब मैं होश मे होऊगा तब कोई दूसरा ही आएगा। मैं पूछूगा ही नही।'

देखिए, बात होश की हो रही है। पर होश मे होता कौन है वास्तव मे? सभव है पूछने वाला भी होश मे नही होता और उत्तर देने वाला भी होश मे नही होता। विचार का, आग्रह का, मान्यता का इतना भयकर नशा है कि मन जब दौडता है, मन जब चचल होता है तो मन की मादकता, मन की चचलता आदमी को पागल बना देती है। केवल पागलपन की मात्रा का ही अन्तर रहता है। कोई चार आना पागल होता है, कोई आठ आना पागल होता है, कोई बारह आना पागल होता है, कोई सोलह आना पागल होता है। केवल मात्रा का अन्तर है। कोई थोडा पागल है, कोई ज्यादा पागल है। हर आदमी पागल होता है, पर जिसका पागलपन एक सीमा को लाघ जाता है तब हम उसे 'पागल' की सज्ञा से अभिहित करते हैं। ऐसे थोडे, कम या ज्यादा, सभी मनुष्य पागल हैं। हर आदमी मे होता है पागलपन। किन्तु जब उसकी हरकतें सीमा को पार कर जाती हैं, तब उसके पैरो मे बेडिया, हाथो मे हथकडिया डाल देते हैं और कहते है—यह पागल हो गया। जब वह अनर्गल बकवास करने लगता है, असबद्ध भाषा का प्रयोग करता है तब हम कहते हैं—यह पागल हो गया। अन्यथा हम उसे पागल की सज्ञा नही देते। पर वास्तव मे सब पागल हैं। हम, तुम, यह, वह—सब पागल है। वास्तव मे मन की चचलता मे ये सारी बातें पैदा होती हैं। यथार्थ मे मन की चचलता ही पागलपन है। पूर्ण होश की स्थिति मे कोई नही होता। यह स्थिति आती है निर्विचारता की दशा मे। जहा विचार समाप्त हो गया वहा पूरा पागलपन भी समाप्त हो गया। फिर कोई पागलपन नही। पूरा होश है, निरन्तर होश है। जहा विचार नही है, वहा पूरा होश है, पूरा-का-पूरा प्रकाश है। कोई अधकार नही है। जहा होश नही है, वहा अधकार और प्रकाश घुले-मिले रहते हैं।

आप मानते है कि अभी यहा अधकार नही है। यदि नही है तो आप धूप मे जाकर देखें। आपको लगेगा कि जहा धूप मे आप खडे हैं वहा प्रकाश अधिक है और यहा कम है। कम प्रकाश का अर्थ ही है—अधकार। यह भी सापेक्ष स्थिति है। अधिक प्रकाश की अपेक्षा कम प्रकाश को अधकार कह दिया जाता है। भीतर के कमरे की ओर देखिए। आपको लगेगा कि यहा प्रकाश अधिक है, वहा और भी कम है। सामने जो धूप चमकती दीवार है, उसकी अपेक्षा इस बरामदे मे प्रकाश कम है और बरामदे की अपेक्षा भीतर के कमरे मे प्रकाश और कम है। हम जब तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं तो जहा प्रकाश मानते हैं, वहा अधकार भी है। एक बिन्दु ऐसा आता है कि जहा पूरा अधकार समाप्त हो जाता है। हम जिसे ज्ञान मानते हैं, दर्शन मानते हैं, अनुभव मानते हैं, विकास मानते हैं वहा भी अधकार छिपा पडा है। यह अधकार तब तक नही मिटता जब तक हमारी चेतना शुद्ध उपयोग मे नही चली जाती। कोरा ज्ञान और कोरी चेतना का उ

स्फूर्त विशुद्ध सुख मे कितना अन्तर होता है ? वह कितना महान् होता है ? यह निर्विचारता की स्थिति है, आत्मा की स्थिति है। आत्मा के अनुभव की स्थिति है, आत्म-रमण की स्थिति है। बाहर से अपने आपको हटाकर पूरे अपने आप मे ही सिमट जाने की स्थिति है। जो फैला हुआ था, उसे समेटकर थोडे मे कर दिया।

मस्तिष्क मे अनगिन कोठे है, कोष्ठक है। एक आदमी के मस्तिष्क के कोठो को भूमि पर बिछाया जाए तो कन्याकुमारी से कश्मीर तक की भूमि पूरी भर जाएगी और कोष्ठक और भी बच जाएगे। जब वे हमारे मस्तिष्क मे होते है तब सिमटे हुए रहते हैं। जब उन्हे हम बाहर फैलाए, तो समूची भूमि को भर देंगे। इतने कोष्ठक है हमारे मस्तिष्क मे।

जब हमारी चेतना का छितराव रुक जाता है, बद हो जाता है, चेतना सिमट-कर, अपनी सारी अनुभूतियो को समेटकर एक केन्द्र मे आ जाती है तब उसे कितना अनुभव होता है, इसकी कल्पना भी नही कर सकते। उसकी शक्ति बढ जाती है।

आप जब घर छोडकर कही जाते है, दूसरे प्रान्त मे जाते हैं, विदेश मे जाते है तो लगता है कि यात्रा हो रही है। यात्रा के अनुभव भिन्न होते हैं। जब यात्रा से लौटकर घर आते है तो लगेगा कि मूल स्थान पर आप आ गए है। इसी प्रकार मन का जो छितराव है, वृत्तियो का जो छितराव है, विचारो का जो छितराव है, वह सिमटकर एक केन्द्र मे आ जाता है, अपने घर मे आ जाता है। वह अनुभूति अलौकिक होती है।

आत्मा मन के माध्यम से, इन्द्रियो के माध्यम से, विचार के माध्यम से, स्मृति के माध्यम से, कल्पना के माध्यम से चारो ओर दौडती है। उसकी शक्ति छितर जाती है केन्द्रित नही होती। जब हम इन्द्रियो का दरवाज़ा बद कर, विचार बद कर, स्मृति और कल्पना बद कर, सबको समेटकर, छितरी हुई अपनी चेतना को समेटकर, उसको मूल स्थान मे स्थापित कर देते है, तब उसकी छितरी हुई शक्ति केन्द्रित हो जाती है। वह बहुत अधिक बढ जाती है। उस समय एक विलक्षण अनुभव होता है। यह नही कि हम उसका अनुभव नही कर सकते। मैंने पहले कहा था कि हम आज भी केवलज्ञान का अनुभव कर सकते है, अतीन्द्रिय ज्ञान का अनुभव कर सकते है, आत्मा के सहज आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। हमे केवल इतना-सा करना होगा कि विचारो की भूमिका छोडकर निर्विचार की भूमिका पर पहुचना होगा। स्मृति, कल्पना आदि का परिहार कर कोरे ज्ञान की, शुद्ध चेतना की और शुद्ध उपयोग की स्थिति पर पहुचना होगा, उसका अनुभव करना होगा। जागरूकता के साथ यह देखना होगा कि मन का कही व्यापार तो नही हो रहा है और कही मन शुद्ध चेतना की स्थिति मे बाधा तो नही डाल रहा है। इतनी जागरूकता से हम देखें और कोरे ज्ञान की स्थिति का अनुभव करें तो आज भी

हमारे लिए कुछ भी असभव नही है। जिनको हम असभव मान बैठे हैं और ऐसी भाषा मे मान बैठे हैं कि अब कलिकाल है, कलियुग है, पाचवा आरा है, यह प्राप्त नही हो सकता, मोक्ष नही मिल सकता, केवल ज्ञान नही हो सकता, आदि-आदि। इस प्रकार की मान्यता ने मन मे निराशा, कुठा भर दी है और आगे बढने वाले हमारे चरण पीछे की ओर पड रहे है। उनमे बढने की आतुरता ही नष्ट हो गयी है क्योकि जब हम मान लेते हैं कि अमुक स्थिति प्राप्त नही हो सकती, फिर उसके लिए प्रयत्न ही कौन करेगा? क्यो करेगा? इस धारणा को हम निकाल दें कि अमुक स्थिति प्राप्त नही हो सकती। क्या हो सकता है, क्या नही हो सकता, यह सोचना हमारे अधिकार-क्षेत्र मे नही है। हमारा अधिकार है चलना, चलते रहना और चरण को आगे से आगे बढाते रहना। चरैवेति, चरैवेति—यह है हमारा कर्त्तव्य। हमारा गति करने का अधिकार है, उस दिशा मे बढने का अधिकार है।

हम निर्विचार चेतना की स्थिति मे बढने के लिए अपने कदम उठाए। जो होना होगा, वह अवश्य होगा। जो उपलब्ध होना है वह हमें प्राप्त हो जाएगा। जो नही होना होगा, वह नही ही होगा। जो नही मिलना है, वह नही मिलेगा। पहले ही चिंता का भार हम क्यो ढोयें? पहले ही चिंता के नीचे हम क्यो दबें?

जिस व्यक्ति ने शुद्ध चेतना की स्थिति का, शुद्ध उपयोग की स्थिति का इतना दृढ अभ्यास कर लिया, वह निश्चित ही उस स्थिति में पहुच जाएगा, जिस स्थिति में पहुचने पर मोक्ष है या नही, परमात्मा है या नही, परमात्मा की स्थिति में सुख है या नहीं—ये सारे प्रश्न समाप्त हो जाएगे, समाहित हो जाएगे।

२८

चेतना की दिशा का परिवर्तन

पुराने ज़माने की बात है। एक पथिक यात्रा कर रहा था। बीच मे एक जगल आया। वह जगल मे घुसा। जगल का कुछ हिस्सा पार किया। वह सफेद कपडे पहने हुए था। अकेला था। चार व्यक्ति सामने मिले। वे लुटेरे थे। वह अकेला था। वे चार थे। उन्होने कहा—रुक जाओ। वह रुक गया। चारो ने उसे दबोचना चाहा। वह भी तगडा था। हाथापाई शुरू हो गई। कुछ देर तक वह प्रतिरोध करता रहा। पर वह अकेला था और वे लुटेरे थे चार। उन्होने उसे दबोच लिया। वह थक चुका था। लुटेरो ने उसकी तलाशी ली। सारे कपडे टटोले। किन्तु हैरान। निकला केवल एक पैसा। उन्हे भी आश्चर्य हुआ। उन्होने पूछा—'अरे! एक पैसे के लिए इतना प्रतिरोध! पहले ही कह देते तो हम हाथ भी नही लगाते।' उसने कहा—'प्रश्न पैसे का नही है। प्रश्न है आकर्षण का। एक पैसा हो या हज़ार रुपये—मेरा आकर्षण है धन के प्रति। हज़ार रुपये होते तो भी आकर्षण उतना ही था और एक पैसा है तो भी उतना ही आकर्षण है। प्रश्न सख्या का नही, प्रश्न है आकर्षण का।'

मूल बात है कि हमारा आकर्षण किस दिशा मे जा रहा है। हमारा आकर्षण एक दिशा मे है तो हमारी प्रवृत्ति, हमारा चिन्तन, हमारी क्रिया एक प्रकार की होगी और यदि हमारा आकर्षण दूसरी दिशा मे होगा तो हमारी प्रवृत्ति, हमारा चिन्तन, हमारी क्रिया दूसरे प्रकार की होगी। सब कुछ बदल जाता है। आकर्षण की बात मुख्य है। वह सबमे परिवर्तन ला देता है।

प्रश्न है—अव्रत क्या है? व्रत क्या है? एक दिशा मे जाने वाला आकर्षण अव्रत है और दूसरी दिशा मे जाने वाला आकर्षण व्रत है। दोनो दो चीज़ें नही है, एक ही चीज है। केवल दिशा का परिवर्तन है। दोनो दो दिशागामी पथिक है।

जो आकर्षण आत्मा से निकल बाहर की ओर जा रहा है, उस आकर्षण का नाम है अव्रत। जो आकर्षण बाहर से मुडकर आत्मा की ओर प्रवाहित होता है अपनी ओर आता है, उस आकर्षण का नाम है व्रत। व्रत कोई नयी वस्तु नही

है। आकर्षण की दिशा का परिवर्तन ही व्रत है। हमारा आकर्षण बाहर की ओर जाता है इन्द्रियो के माध्यम से। एक है हमारी मूल चेतना। उस चेतना पर एक वलय है कषाय का। कषाय के वलय के बाद, एक है प्रवृत्ति का वलय। कषाय-आत्मा और योग-आत्मा—ये दोनो द्रव्य-आत्मा से जुडी हुई हैं। मूल चेतना, कषाय का वलय और योग का वलय, प्रवृत्ति का वलय। हमारे ज्ञान से जो रश्मिया निकलती हैं, वे जब कषाय से मिश्रित होती है तब अपने ज्ञानरूप को छोड देती हैं। वे सवेदन बन जाती हैं। ज्ञान सवेदन बन जाता है। जब तक ज्ञानधारा मे कषाय का मिश्रण नही होता तब तक ज्ञान ज्ञान बना रहता है। कोरा ज्ञान। जैसे ही कषाय का मिश्रण हुआ वह सवेदन बन जाता है। वह कोरा ज्ञान नही रहता। सवेदन आकर्षण पैदा करता है। राग का आकर्षण पैदा करता है। द्वेष का आकर्षण पैदा करता है। सारे आकर्षण सवेदन के कारण होते है। विषयो के प्रति जो आकर्षण होता है, उसका मूल कारण सवेदन है। खाना अच्छा लगता है क्योकि जीभ का अपना एक सवेदन है। सूघना प्रिय लगता है, सुगध प्रिय लगती है, क्योकि नाक का अपना एक सवेदन है। उसके प्रति मन जाता है। किसी ने गाली दी तो गाली देने के प्रति आकर्षण हो जाता है क्योकि हम ज्ञान मे नही जीते, सवेदन मे जीते हैं। सवेदन का जीवन प्रतिक्रिया का जीवन है। ज्ञान मे आदमी क्रिया करता है। सवेदन मे प्रतिक्रिया होती है। ज्ञान स्वतत्र है, सवेदन परतत्र। ज्ञान में आदमी स्वतत्र ढग से क्रिया करता है, सवेदन मे स्वय कोई क्रिया नही होती, प्रतिक्रिया होती है। सामने वाला जैसा करता है, वैसा ही कर देता है। सामने वाला गाली देता है तो वह भी गाली देता है। कोई पत्थर मारता है तो वह भी पत्थर मारता है। कोई प्रशसा करता है तो वह भी प्रशसा करता है। अर्थात् क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। प्रतिबिम्ब होता है। स्वतत्र कुछ भी नही होता, आदमी कर भी नही सकता। स्वतत्र आदमी, स्वतत्र चिन्तन, स्वतत्र मनन और स्वतत्र क्रिया—ये सब ज्ञान की अवस्था मे ही हो सकते हैं, सवेदन की अवस्था मे ये नही हो सकते। थाली मे भोजन आया। यदि रुचिकर और मनोज्ञ है तो प्रशसा कर दी, अप्रिय और अरुचिकर है तो गालिया दी, बुरा-भला कहा। यह सारा प्रतिक्रिया का जीवन है। 'जैसे के प्रति तैसा,' 'शठे शाठ्य समाचरेत्'—ये सारे सवेदन के क्षेत्र मे चलने वाले सिद्धान्त हैं, प्रतिक्रिया के क्षेत्र मे पनपने वाले सिद्धान्त है। 'शठे शाठ्य' का अर्थ ही है प्रतिक्रिया, क्रिया नही।

सवेदन के जगत् मे जीने वाला मनुष्य क्रिया का जीवन नही जी सकता। वह क्रिया कर ही नही सकता। जो कुछ करता है, वह प्रतिक्रिया होती है। आप अपने कार्यो को देखें। शत प्रतिशत कार्य प्रतिक्रिया से प्रेरित होंगे। उस आदमी ने मेरा उपकार किया था, मैं भी उसका उपकार करू। उसने मेरी बुराई-निन्दा की थी,

मैं भी उसकी बुराई-निन्दा करू। उस आदमी ने मुझे नीचा दिखाया, मैं भी उसे नीचा दिखाऊ। ये सारी प्रतिक्रियाए हैं। हमारे मे अनेक रिजर्वेशन होते हैं। हमारे मे अवरोध की ग्रन्थिया होती हैं। वे मनुष्य को प्रतिक्रिया का जीवन जीने के लिए वाध्य करती है। क्योकि वहा ज्ञान नही, सवेदन है। सवेदन व्यक्ति को अव्रत की ओर ले जाता है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और ममत्व—ये सारे सवेदन के प्रतिफलन है। प्रतिक्रिया के फलित है।

आदमी वहुत सारा सग्रह करता है। प्रश्न होता है—क्यो ? क्या उस सग्रह की उसे आवयश्कता है ? क्या वह इतना उपयोगी है ? आवश्यकता नही है, उपयोग भी नही है, फिर भी आदमी सग्रह करता है। इसका मूल कारण है प्रतिक्रिया। वह सोचता है—अमुक व्यक्ति ने धन कमाया, अर्जन किया, सग्रह किया तो आज वह समाज मे समादृत है। लोग उसको सत्कार देते है, सम्मान देते है, उसे पूजते है। अग्रिम पक्ति मे उसे बिठाते है। ऐसी स्थिति मे मैं भी धन का सग्रह क्यो नही करू ? क्या आपत्ति है धन का सग्रह करने मे ? इस प्रतिक्रिया से प्रेरित होकर वह धन का सग्रह करता है। उतने धन का कोई उपयोग नही है उसके लिए, फिर भी वह सग्रह करता है। उसका चिंतन होता है—'ऐसा करने से ऐसा होता है तो मुझे भी ऐसा ही करना चाहिए।' यह सारा सवेदन का जीवन है, सवेदन का चिन्तन है। जब तक हमारी ज्ञानधारा के साथ कपाय की धारा का सम्मिश्रण होता रहेगा, तब तक हम इस प्रकार के जीवन से वच नही सकेंगे।

हिंसा अज्ञान मे नही होती है। कोई भी अज्ञानी (ज्ञानशून्य, अजीव) कभी हिंसा नही कर सकता। हिंसा सदा प्राणी करता है, जीव करता है। ज्ञानवान् जीव करता है। हिंसा भी ज्ञान मे होती है। और असत्याचरण भी ज्ञान मे ही होता है। चोरी भी ज्ञान मे होती है। वासनाए और कामनाए भी ज्ञान की सीमा मे होती है। ममत्व का सग्रह भी ज्ञान की सीमा मे होता है। अजीव मे कुछ नही होता। प्रश्न है—यह क्यो होता है ? क्या चेतना ऐसा चाहती है ? क्या यह आत्मा का धर्म है ? क्या यह आत्म-स्वभाव है ? ये क्रियाए आत्म-स्वभाव नही है। किन्तु 'कपायविह्वले ज्ञाने' की दिशा मे सपादित होती हैं। जव ज्ञान कषाय से सवलित होता है, विह्वल होता है, तव ये सारी क्रियाए निष्पन्न होती है। जव कषाय का रसायन ज्ञान की धारा मे घुल-मिल जाता है तब ये असद् आचरण अच्छे लगने लगते है, प्रिय लगने लगते है। इनके प्रति आकर्षण वढता है।

किसी ने गाली दी। जव तक गाली का प्रतिकार गाली से नही किया जाता, तव तक वह सोचता है—'अरे, मैंने यह क्या कर दिया ? गाली का उत्तर गाली मे नही दिया ! लोग क्या सोचेंगे ! वे कहेगे—यह तो मिट्टी का है। इसमे कोई कर्तृत्व नही है। इतना वडा अपमान ! इसे यो ही सह लिया। यह तो केवल मिट्टी का पुतला है।' मन मे प्रतिक्रिया होती है। सतोप तव होता है जव

वापस वैसा ही आचरण किया जाए, गाली के प्रति गाली दी जाए, तिरस्कार का जवाब तिरस्कार से दिया जाए। यह आकर्षण की बात है, सतोष की बात है। ये सारी उसी कषाय-रसायन की प्रतिक्रियाए हैं। उसका मिश्रण होते ही मनुष्य का चिन्तन बदल जाता है। वह सोचता है—इससे बढकर कोई सतोष नही, कोई आनन्द नही, कोई तृप्ति नही। साप काटता है, नीम खिलाया जाता है। नीम मीठा लगता है। नीम तो मीठा नही है, कषैला है। पर उसको मीठा लगता है। क्यो ? इसलिए कि उसके रक्त मे एक ऐसा रसायन—विष घुल जाता है कि नीम की कडवाहट उसमे लीन हो जाती है। नीम मीठा लगने लगता है। इसी प्रकार जितने भी काषायिक परिणाम हैं, कषाय से उत्पन्न होने वाले फलित हैं, परिणतिया हैं—ये हमारी अनुभूति को बदल देती हैं, चिन्तन मे परिवर्तन ला देती हैं, तृप्ति को बदल देती हैं। सतोष और असतोष को नया रूप दे देती हैं।

एक पौराणिक कहानी है। एक बार इन्द्र और इन्द्राणी—दोनो मनुष्य-लोक में आए। घूम रहे थे। एक गाव मे पहुचे। वहा सभी लोग अत्यन्त दरिद्र थे। सब गरीबी से ग्रस्त थे। इन्द्राणी का मन करुणा से भर गया। उसने इन्द्र से कहा—'देव ! आप इस गाव मे ही आ गए तो इस गाव को मालामाल कर दें। ये लोग गरीब क्यो रहें ? ये बडे दु खी हैं। असतोष है इनको। आप कृपा करें, इन्हें समृद्ध कर दें, जिससे कि ये सतोष का जीवन जी सकें।' इन्द्र ने कहा—'तुम्हारा कहना ठीक है। मैं इनको समृद्ध तो बना दूगा पर इनको सतुष्ट कर पाऊगा, इसकी जिम्मेवारी मैं नही ले सकता। क्या तुम यह जिम्मेवारी उठा सकोगी ?' इन्द्राणी ने कहा—'आप इन्हें समृद्ध कर दें। इनकी दरिद्रता दूर हो जाएगी, गरीबी मिट जाएगी तो स्वय सतुष्ट हो जाएगे, तृप्ति अपने आप आएगी। मुझे जिम्मेवारी लेने की आवश्यकता ही नही है।' इन्द्र ने कहा—'देवी ! तुम नही जानती। ऐसा होता नही है। मैं जानता हू कि ऐसा नही हो पाएगा। समृद्ध होने पर भी सतोष आ जाए, यह आवश्यक नही है।' इन्द्राणी ने हठ किया। इन्द्र ने गाव के बाहर एक सोने की खदान तैयार कर दी। गाव के लोगो को यह पता लगा कि गाव के बाहर सोना ही सोना पडा है। जितना चाहे, ले आओ। उनको स्वर्ण का मूल्याकन ज्ञात था। वे जानते थे, सोना कितना मूल्यवान होता है। सारा का सारा गाव उलट पडा सोना लेने के लिए। एक ही दिशा मे सबका आकर्षण हो गया। सब आए। जितना जो उठा सकता था, वह सोना उठाकर ले गया। गाव का एक भी आदमी नही बचा जिसने स्वर्ण न लिया हो। सारा गाव एक दिन मे धनवान हो गया। सब मालामाल हो गए। एक दिन पहले तक सब दरिद्र थे, गरीब थे। आज सब धनवान हैं, समृद्ध हैं। चमत्कार-सा हो गया।

रात बीती। दूसरे दिन का प्रभात उगा। इन्द्र-इन्द्राणी भी वही थे। गाव मे चर्चाए होने लगी। कुछ बोले—'यह क्या हुआ ? कैसे हुआ ? किसी देव ने यह

चमत्कार किया है। परन्तु लगता ऐसा है कि वह निरा मूर्ख था।' सब बोल पडे —'अरे, मूर्ख कैसे ?' उसने इतना धन दिया, फिर मूर्ख क्यो ?' उन्होने कहा— 'यदि वह समझदार होता तो सबको सोना थोडे ही देता। कुछ को देता तो सोने का अर्थ होता। सबको दे दिया, सोने का अर्थ ही खो दिया। अब सब धनवान् हो गए। कोई सेवक नही रहा। अब न कोई नौकर मिलेगा और न सेवक। अब काम कैसे चलेगा ? पास मे धन हो और नौकर-चाकर न हो तो फिर धन होने का अर्थ ही क्या है ? सब बराबर हो गए, समान हो गए।' इन्द्र ने सुना। इन्द्राणी से कहा —'सुनती हो ! इनका सतोष बढा है या असतोष ? धन देना मेरे हाथ मे था, सतोष देना मेरे हाथ मे नही है।'

यह कहानी है। हमे तथ्य पर ध्यान देना है। असतोष वस्तु के आधार पर नही होता। वह होता है कषाय-चेतना के आधार पर। कषाय-चेतना की एक धारा यह है कि मनुष्य बडा बनना चाहता है। लोभ की पूर्ति होती है तो अभिमान बढता है और अभिमान बढता है तो व्यक्ति चाहता है कि सबसे बडा बनू। वह सबसे बडा तब बनता है जब पास मे छोटे हो, सामने छोटे हो, काम करने वाले हो। एक आख उठते ही, एक भृकुटी तनते ही दस-बीस आदमी सामने आ खडे होते है तब तो बडा होने मे मजा है, आनन्द है। धनवान होने का, सत्ताधारी होने का तभी आनन्द है, अन्यथा सब व्यर्थ। धनवान भी वैसा, दूसरा-तीसरा भी वैसा ही। इससे क्या लाभ ? आदमी को सतोष नही होता। सतोष तब होता है, जब वह आगे रहता है। उसके पीछे लम्बी कतार होती है सेवको की। ये सारी प्रतिक्रियाए होती है कषाय-चेतना के कारण। जब कषाय-चेतना बिछुड जाती है, चेतना की विशुद्ध धारा प्रवाहित होती है तब सारे आकर्षण समाप्त हो जाते है और व्यक्ति मे अहिसा आदि सद् आचार प्रस्फुटित होते है।

भगवान् महावीर कायोत्सर्ग की मुद्रा मे ध्यानस्थ खडे हे एक शून्यागार मे। कुछ लोग आए। उन्हे गालिया दी। उन पर प्रहार किए। परन्तु कोई परिवर्तन नही आया। ध्यान का प्रवाह जो पहले चल रहा था, वही प्रवाह गाली-दान के समय चल रहा था, प्रहार-काल मे चल रहा था। कोई परिवर्तन नही आया। ध्यान-धारा खडित नही हुई। अखडित वह रही है लक्ष्य की ओर। हम सोच सकते है—आदमी मे तो यह परिवर्तन आना चाहिए था। क्या महावीर शून्यवत् हो गए कि उनमे परिवर्तन लक्षित नही हो रहा है ? कारण क्या है ? इसका मूल कारण है—दिशा का परिवर्तन। उनकी चेतना वदल गयी। उसके प्रवाहित होने की दिशा वदल गयी। चेतना अपनी ओर वहने लग गयी। अव वहा गाली-अगाली का भेद नही है। वह अशब्द दशा है। सारे शब्द समाप्त हो गए। शब्दो का अर्थ भी समाप्त हो गया।

भगवान् ध्यान मे स्थित है। कुछ रूपसिया, युवतिया आयी। वे प्रार्थना के

स्वर मे बोली—'प्रभो! यह क्या किया आपने? आपने असमय मे योग क्यो धारण किया? आपने हमे क्यो छोड दिया? आप एक बार घर चलें, हमारे साथ रहे। हमारा अनुनय मानें। हमे कृतार्थ करें।' महावीर की ध्यान-धारा अविचलित रही। कोई परिवर्तन नही आया। उनमे अनुग्रह-निग्रह जैसा कुछ शेष नही रह गया था। यह क्यो हुआ? इसका मूल कारण है—महावीर के आकषण की दिशा वदल चुकी थी। कभी क्षण-भर पहले वे एक चक्रवर्ती जैसे वैभवशाली थे और एक क्षण के बाद ही वे सब कुछ छोडकर, अकिंचन बन घर से निकल पडते हैं। यह कैसे सभव होता है? यह सभव होता है आकर्षण की दिशा के परिवर्तन से।

दिशा का वदल जाना ही व्रत है, प्रव्रज्या है सन्यास है।

अहिंसा क्रिया है। हिंसा प्रतिक्रिया है। सत्य क्रिया है। असत्य प्रतिक्रिया है। अकिंचनता क्रिया है। सग्रह प्रतिक्रिया है। जिसमे आकर्षण की दिशा का परिवर्तन आ जाता है उसमे अहिंसा, सत्य, असग्रह आदि सहज हो जाते हैं, स्वभाव बन जाते है। तब फिर वह हिंसा नही कर सकता, असत्य नही बोल सकता, चोरी नही कर सकता, सग्रह नही कर सकता, कही आसक्त नही हो सकता। यह दिशा के परिवर्तन का प्रतिफलन है। उसकी यात्रा आत्मा की दिशा मे होने लग जाती है। चेतना आत्मा की ओर प्रवाहित होने लग जाती है। यह व्रत है, बहुत वडी समाधि है।

गौतम ने 'महावीर से पूछा—'भते, कुछ लोग सोते हैं, कुछ लोग जागते हैं और कुछ लोग सोते-जागते हैं। क्या यह सही है?'

महावीर ने कहा—'गौतम! यह सही है। जिनका आकर्षण विषयो के प्रति है, जिनकी चेतना वाहर की ओर दौड रही है, वे सोते है, सोये हुए है। जिनकी चेतना निरतर आत्मा की ओर प्रवाहित हो रही है, जिनका आकर्षण टूट चुका है, वे जागते है जागे हुए हैं। जिनकी चेतना कभी वाहर की ओर दौडती है और कभी रुक जाती है कुछ भीतर की ओर प्रवाहित है वे सोते-जागते है, वे सोये हुए भी हैं और जागे हुए भी हैं।'

व्रत जागरण है। चेतना की जागृत अवस्था है व्रत। यह समाधि है। यह समाधि इसलिए है कि इस स्थिति मे पहुचने वालो का समाधान हो जाता है।

कषाय के घेरे की चार दीवारें हैं—अनन्तानुवधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और सज्वलन। पहली दीवार है—अनन्तानुवधी। जो इस पर चोट करता है, प्रहार करता है, उसका दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। उसका दर्शन समीचीन हो जाता है। वह सत्य को पाने का दृष्टिकोण वना लेता है। जो व्यक्ति दूसरी दीवार—अप्रत्याख्यानी कषाय पर चोट करता है, उसे तोडता है, वह व्रती वन सकता है, व्रत की भूमिका मे प्रवेश कर सकता है। जो तीसरी दीवार—प्रत्याख्यानी कषाय

पर प्रहार करता है वह महाव्रती हो जाता है। दीक्षित हो जाता है। प्रव्रजित हो जाता है। जो चौथी दीवार—सज्वलन कषाय पर प्रहार करता है वह वीतराग बन जाता है। वह राग-द्वेष से अतीत हो जाता है।

व्रत और महाव्रत की प्राप्ति कषाय चेतना पर चोट करने से होती है। जब तक कषाय के वलय को ढीला नही किया जाता, नही तोडा जाता तब तक मनुष्य व्रती नही बन सकता। व्रत बहुत बडी समाधि है, समाधान है। जिसमे चेतना को बदलने की क्षमता आ जाती है उसका समाधान हो जाता है, उसे समाधि मिल जाती है। उसे फिर कोई नही सताता। उसे न हिसा सताती है, न क्रोध सताता है, न अभिमान सताता है, न माया सताती है, और न लोभ सताता है। उसे न राग सताता है और न द्वेष सताता है। सब समाहित हो जाते है। सारी समस्याए सुलझ जाती है। फिर कोई उलझन नही होती।

लोग व्रती बनना चाहते है। पर उलझनो के कारण वैसा नही कर पाते। उलझनें क्या है? एक उलझन है। उनकी कषाय की चेतना प्रबल है। उन्होने अभी तक कषाय चेतना पर प्रहार नही किया है। वे डावाडोल स्थिति मे है। उन्हे मार्ग अच्छा लगता है, पर वे उसे प्राप्त नही कर पाते। वे सोचते है—'मैं अकेला ही चलूगा। दुनिया तो मेरे साथ नही चलेगी।' सकल्प कमजोर हो जाता है। आस्था बनती नही। मार्ग मिलता नही। कषाय पर चोट हुए बिना यह काम पूरा नही होता। कषाय चेतना पर प्रहार होते ही विरति उत्पन्न होती है। एक शब्द है रति। रति का अर्थ है—रमण करना। व्यक्ति रमण करने लग जाता है, आनन्द लेने लग जाता है। उस दिशा से मुडकर विपरीत दिशा लेना, यह है विरति। ठीक रति से उल्टा मार्ग है विरति का।

दो भाई थे। वे रत्नो का व्यापार करते थे। बडा भाई ससार से चल बसा। पीछे वह पत्नी और एक पुत्र को छोड गया था। लडका बडा हुआ। एक दिन उसकी मा ने कहा—'बेटे! तेरे पिता मेरे पास एक पोटली छोड गए है। उनमे रत्न है। चाचा के पास ले जाओ और बाजार मे बेच आओ। भाव ऊचे है। बहुत धन मिलेगा।' वह चाचा के पास गया। चाचा ने पोटली खोली। उसे पुन बाधते हुए कहा—'इसे अपनी मा को दे देना। बाजार मे मदी चल रही है। ऊचे मूल्यो मे बिक नही पायेंगे। फिर कभी बेचेंगे।' लडके ने मा के पास आकर सारी बात कही।

कुछ महीने बीते। वर्ष बीते। लडका चाचा के साथ रत्नो की परीक्षा सीखता रहा। अनुभव बढा। एक दिन चाचा ने कहा—'बेटे, बाजार तेजी पर चल रहा है। जाओ, वह पोटली ले आओ रत्न बेच देंगे।' लडका दौडा-दौडा गया मा के पास। वह पोटली ले आया दूकान पर। चाचा गद्दी पर बैठा था। दो-चार मुनीम भी बैठे थे। उसने पोटली खोली। उसकी आखे चुधिया गयी। वह स्तब्ध रह गया—

अरे, यह क्या ? कहा है रत्न ? कहा ह हीरे ? ये तो काच के टुकडे ह। सारे के सारे काच ह। क्या हो गया ? क्या हीरे काच मे वदल गए या मूलत काच ही के टुकडे थे ? पोटली को गली मे फेंक दिया। चाचा ने कहा—'अरे, यह क्या किया तुमने ? मा क्या कहेगी ?' उसने कहा—'चाचाजी ! मैं समझ गया। ये काच के टुकडे थे, हीरे नही थे, रत्न नही थे।'

धारणा वदल गई। असली परीक्षण हो गया। आकर्षण वदल गया। सही स्थिति सामने आ गई।

परिवर्तन क्यो आता है ? त्यागी वनने वाला, महाव्रती वनने वाला मरकर दूसरा जन्म नही लेता। उसमे केवल चेतना की प्रवाह की दिशा वदलती है, आकर्षण वदलता है। जो पहले अच्छा लगता था, जो कषाय-चेतना के प्रभाव से मनोज्ञ लगता था, आज दिशा-परिवर्तन के कारण विलकुल उल्टा लगने लगता है।

सम्राट् अशोक के मन मे एक भावना जागी कि मैं सारे ससार को जीतू और सव पर अपना शासन स्थापित करू। यह भावना तीव्र थी एक दिन। भावना वदली, आकर्पण वदला और उसे लगा—अरे, युद्ध करना पागलपन है। नर-सहार करना अधमता है। उसका आकर्पण वदल गया। उसने शिलालेखो मे उत्कीर्ण करवाया—'किसी के साथ मत लडो। कलह मत करो। युद्ध मत करो।' कलिग-युद्ध मे लाखो का नरसहार करने वाला सम्राट् प्रेम से रहने की वात करता है, यह कैसे सभव होता है ! यह सम्भव होता है दिशा के परिवर्तन के द्वारा। जो व्यक्ति अपनी चेतना को कषाय-चेतना से सयुक्त नही होने देता, वह अपनी चेतना के प्रवाह को मोड सकता है, वदल सकता है। उसका आकर्षण मिट जाता है। आकर्षण वदलते ही मूल्याकन की दृष्टि मे परिवर्तन आ जाता है। पुराने मूल्य समाप्त हो जाते हैं। नये मूल्य स्थापित्त हो जाते ह। जो चीजें अर्थवान् लगती थी, वे अर्थहीन, सारहीन प्रतीत होने लगती ह। इस मनोभूमि का, चेतना की दिशा का नाम है व्रत। व्रत एक है। उपयोगिता की दृष्टि से उसके पाच, वारह या असख्य विभाग हो सकने ह। व्रत कहें, विरति कहे या चेतना की दिशा का परिवर्तन—मत्र एक हैं, शव्द भिन्न ह।

जिज्ञासा : जिज्ञासा

चक्र और मर्म-स्थान मे क्या अन्तर है ? चक्रो की आकृतिया स्थूल शरीर मे हैं या सूक्ष्म शरीर मे ?

दो शब्द हैं—मर्मस्थान और चक्र। जहा ज्ञान-तंतु अधिक एकत्रित होते हैं, सघन होते हैं, वे मर्मस्थान हैं। कुछेक स्थानो पर ज्ञान तंतु बहुत उलझे हुए होते है, वे चक्र कहलाते हैं। हमारे शरीर मे सात सौ से अधिक मर्मस्थान हैं। अभी जापान मे इन पर बहुत अनुसधान हो रहा है। चीन मे इन मर्मस्थानो, पॉइन्ट्स के आधार पर जो एक्युपक्चर की चिकित्सा-पद्धति चली थी, वह आज जापान मे विकसित हो रही है। रूस और अमेरिका के वैज्ञानिक भी इस ओर प्रयत्नशील है। शरीर मे कही दर्द होता है, तो वे भिन्न भिन्न स्थानो को, सूई के चुभन के द्वारा, सक्रिय करते हैं, और दर्द क्षीण हो जाता है, मिट जाता है।

भावना शरीर मे चक्र है, परन्तु वहा चक्र का आकार नही है। वहा तो वे शक्ति के रूप मे, भावना के रूप मे हैं और उनका जो आकार बनता है वह बनता है स्थूल शरीर मे। जैसे दर्पण के सामने कोई वस्तु जाती है तो उसका प्रतिबिम्ब उसमे पडता है। किसी मे एक-इन्द्रिय ज्ञान की क्षमता है तो उसकी रचना एक इन्द्रिय के अनुसार होगी। जिसमे आख की क्षमता है, उसमे आख का आकार बनेगा। आख के ज्ञान की क्षमता कर्म-शरीर मे होगी, स्थूल शरीर मे नही होगी। किन्तु आख से देखने का जो गोलक बनेगा, साधन बनेगा, वह व्यक्त होगा स्थूल शरीर मे। वैसे ही चक्रो की जो क्षमता है, वह तो है सूक्ष्म शरीर मे किन्तु उनकी आकृतिया बनती हैं स्थूल शरीर मे। इसीलिए शरीर-विज्ञान (एनोटॉमी) के अनुसार यह पता नही लग रहा है कि चक्र है कहा ? क्योकि मूल शक्ति तो सूक्ष्म शरीर मे है और अभिव्यक्ति के स्थान बन गए स्थूल शरीर मे। दोनो मे यह अन्तर है।

योग मे नाभि को इतना महत्त्व क्यो दिया गया है ?

यह अग्नि का स्थान है। इसे सूर्य का स्थान भी कहा जाता है। यहा उष्मा पैदा होती है। नाभि के आसपास का सारा स्थान उष्मा का ही स्थान है। हमारे शरीर मे जो उष्मा पैदा होती है वह यही से होती है। नाभि की उष्मा भयकर भी होती है। जिन लोगो ने ग्रन्थ पढ-पढकर नाभि पर ध्यान करना प्रारभ किया, उनमे उष्मा बहुत बढ गई। वासना इतनी तीव्र हो गई कि उसको सभाल पाना कठिन हो गया। यह केन्द्र हमारी उष्मा और तेजस्विता का केन्द्र है। नाभि पर अनेक अनुसधान हो रहे है। मनोवैज्ञानिक, शरीरशास्त्री तथा योग के मनीषी भी भिन्न-भिन्न अनुसधान कर रहे है। यह निष्कर्ष तो सामने आ गया है कि यह तैजस का, अग्नि का, विद्युत का बहुत बडा केन्द्र है। यहा से सक्रियता पैदा होती है और सर्वत्र फैलती है। जब नाभि का भाग निष्क्रिय हो जाता है तब शरीर मे शिथिलता, मदता आ जाती है।

आपने बताया कि मन मे विकार नहीं आना चाहिए। मन इन्द्रियो का स्वामी है। मन मे जो विकार उत्पन्न होते हैं, क्या हम उनको उत्पन्न होने दें ? क्या हम उनके साथ-साथ चलें ? या हम ऐसा व्यवहार करे कि वे नष्ट हो जाए ?

मन मे विकार आना चाहे, वह भी बिना बुलाए आना चाहे तो उसे मत रोको। तुम उसे बुलाते नही, आमन्त्रित नही करते, फिर भी वे आते है तो उन्हे देखो, रोको मत। आज भी इस गोष्ठी मे अनेक व्यक्ति सुनने आये है। उन्हे आमत्रण नही दिया था। शिविर मे नही है। फिर भी सुनने की उनकी रुचि है। स्थान भी खाली पडा है। उनको क्यो रोका जाए ? उनको सुनने से क्यो वचित रखा जाए ? वे सुनेंगे। सुनने के बाद चले जाएगे। यहा नही रुकेंगे। केवल आपको जान लेना है कि बाहर से भी व्यक्ति आए है। भोजन बना है केवल शिविरार्थियो के लिए। निश्चित सख्या के लिए भोजन बना है। वे ही उस भोज मे आमन्त्रित हैं। अनामन्त्रित व्यक्ति आएगे, तो उन्हे भोजन नही मिलेगा। उन्हे खाली हाथ लौटना पडेगा। यही बात विकार के लिए है। वह अनामन्त्रित आता है तो खाली हाथ लौटना पडेगा। प्रत्येक व्यक्ति मे यह खयाल बना रहे कि जो आ रहा है वह मेरा नही है। वह 'स्व' नही है, 'पर' है। अपने का और पराये का भेद बना रहे, ज्ञान बना रहे। इतनी जागरूकता तो अवश्य बनी रहे कि जो आ रहा है, वह पराया है। इतनी जागरूकता होने पर यदि विकार आता है तो वह कुछ भी बिगाड नही सकता।

आपने कहा कि इन्द्रियो के विभाग वास्तविक नहीं हैं। इसे समझाए।

श्रीमज्जयाचार्य ने इसे एक रूपक से समझाया है। खुले आकाश मे एक चौकी पडी है। तूफान आया। वह चौकी रेत से ढक गयी। अब वह दृश्य नही थी। सयोग ऐसा हुआ कि एक कोने से रेत हटी। किसी को लगा कि कुछ चीज़ है। उसे कोना

दीख रहा था। दूसरी ओर से रेत हटी। दूसरा कोना दिखाई दिया। उसे लगा दूसरी चीज पडी है। अब उसे दो वस्तुए दीख रही थी। तीसरे कोने की रेत हटी। तीसरी वस्तु बन गयी। चौथे कोने की रेत हटी। चौथी वस्तु बन गयी। अब उस व्यक्ति को अलग-अलग चार वस्तुए दीख रही थी। जोर से हवा चली। सारी रेत उड गयी। चौकी दृश्य हो गयी। अब चार वस्तुए मिट गयी, एक वस्तु रह गयी। चौकी रह गयी। इन्द्रियो का विभाजन भी ऐसा ही है। एक-एक कोना, एक-एक वस्तु दिखाई दे रही है। चेतना की एक अखड धारा प्रवहमान है। वह खडित नही है। उसकी अखडता को हमने देख लिया तो फिर न पाच इन्द्रिया हैं, न चार हैं, न तीन हैं, न दो हैं, एक ही है और वह है अखड धारा चेतना की। वहा न मन है न इन्द्रिया है, बस केवल चेतना है। ये विभाग उपयोगिता के आधार पर हुए हैं। ये वास्तविक नही है।

दो हैं—व्रत और महाव्रत। किस अश के आकर्षण को हम व्रत मानें और किस अश के आकर्षण को हम महाव्रत मानें? आकर्षण को माप पाना कठिन होता है।

महाव्रत की सीमा हमारी विकल्पना है, योजना है, व्यवस्था है। भगवान् महावीर ने कहा—

'सति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्या सजमोत्तरा'—कुछ भिक्षुओ की अपेक्षा गृहस्थो का सयम श्रेष्ठ होता है।

'गारत्थे हि य सव्वेहिं, साहवो सजमोत्तरा—सयमी साधु का सयम गृहस्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है।

भगवान् ने कहा—'कुछ गृहस्थो का सयम अनुत्तर होता है, श्रेष्ठ होता है।' यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है कि जो वास्तव मे साधु है, जिसकी चेतना पूर्ण रूप से साधुत्व मे लीन है, उसी मे रमण कर रही है, वह सभी गृहस्थो की अपेक्षा सयम मे श्रेष्ठ होता है। यह एक सीमा-रेखा है। आखिर कही-न-कही सीमा-रेखा खीचनी ही पडती है। व्यवहार की सीमा-रेखा यह है—जो तीन योग और तीन करण (मन, वचन और काया से, करना, कराना और अनुमोदन करना) से असत् प्रवृत्ति का परित्याग करता है वह है महाव्रती, वह है मुनि। जो इसमे अपवाद रखता है, वह होता है श्रावक। श्रावको के अनेक स्तर है। उनमे एक स्तर है—प्रतिमाधारी श्रावक का। श्रावक की प्रतिमाए (विशेष त्याग) ग्यारह हैं। जो इनका पालन करता है, वह होता है प्रतिमाधारी श्रावक। उसे जैन आगमो मे 'श्रमणभूत' कहा है। इसका अर्थ है—मुनि-तुल्य। साधु-तुल्य। वह साधु नही है, पर उसके तुल्य है, समान है। इतना-सा अन्तर है। उस श्रावक ने भी घर छोड दिया, आहार भी शुद्ध करता है, और अनेक चर्याओ का पालन भी करता है, पर है साधु-तुल्य, साधु नही। क्योकि 'पेज्जबधने अवोच्छिन्ने'—अभी तक उसका प्रेम का धागा, राग,

का धागा, टूटा नही है, अनुमोदन का भाव हटा नही है। इतना सा अन्तर है। वह गृहस्थ माना जाता है, साधु नही।

कृत-कारित अनुमति—मनसा, वाचा, कर्मणा—यह सीमा है महाव्रत की। इसके नीचे की सीमा हैव्रत की।

आकर्षण के बिन्दु मे अनुमोदन शेष रह जाता है। क्या यही सीमा-रेखा का कारण है ?

हा, यही कारण है। आत्मा की ओर जो आकर्पण है, उसमे रुकावट है, वाधा है, यह व्रत की सीमा मे होता है। जव वह निर्वाध होता है तव महाव्रत की सीमा आ जाती है।

ऐसे पदार्थ है जिनके प्रति हमारा कोई आकर्षण नहीं है, फिर भी अव्रत से बचने के लिए हम उनका त्याग करते हैं। क्या ऐसा त्याग उपयोगी होता है या चेतना की दिशा बदलना उपयोगी होता है ?

अच्छा प्रश्न है। एक होता है पदार्थों का त्याग और एक होता है चेतना की दिशा का परिवर्तन। ये दो वातें हे। दोनो का प्रयोजन है। मूल वात है चेतना की दिशा को वदलना। पदार्थों का त्याग यदि चेतना के दिशा परिवर्तन मे सहायक होता है, सहयोग देता है तो वह प्रयोजनीय है। चेतना के आकर्षण को बदलने के लिए यदि पदार्थ-त्याग का अभ्यास होता है तो वह करणीय है। अन्यथा वह वहुत मूल्यवान नही है। पदार्थ-त्याग पूर्वाभ्यास के रूप मे अथवा परीक्षण के रूप मे होता है और वह चेतना के दिशा-परिवर्तन के लक्ष्य को सामने रखकर होता है तो वहुत उपयोगी है। चेतना के दिशा-परिवर्तन की वात को गौण कर केवल पदार्थ त्याग करते चले जाए तो हमने व्रत का मर्म ही नही समझा है। हम नही जान पाए है कि चोट कहा करनी है।

दुर्योधन बलवान् था। उसे ऐसे नही मारा जा सकता था। गाधारी सती थी। दुर्योधन जब गाधारी के सामने खडा होता और गाधारी उसके शरीर के जितने भाग पर दृष्टि दौडाती, वह भाग वज्रमय वन जाता। दुर्योधन लगोट बाधे रहता था। गाधारी की दृष्टि उस भाग पर नही जाती। वह भाग कमजोर रह गया। महाभारत का युद्ध छिडा। भीम ने दुर्योधन को मार डालना चाहा किन्तु दुर्योधन वज्रमय था। उसे कैसे तोडा जाए ? मूल मर्म हाथ नही आ रहा था। कृष्ण ने मर्मोद्घाटन किया। भीम ने उसी कमजोर अवयव पर गदा से प्रहार किया और दुर्योधन भूमि पर गिर पडा। यह है उचित स्थान पर चोट करने की बात। उचित स्थान पर चोट नही होती है तो हजार प्रयत्न के बावजूद सफलता प्राप्त नही होती।

हमे मर्म को पकडना है। पदार्थ-त्याग मर्म नही है। हम कितने पदार्थों का त्याग करेगे ? प्रतिदिन नये-नये पदार्थों का आविष्कार होता है। पदार्थों की बाढ-

सी आ रही है। जीवन भर पदार्थों का परित्याग करते चले जाए। कही अन्त नही है। अनन्त है पदार्थ। मुख्य मर्म है—आकर्षण के केन्द्र को वदलना। चेतना की धारा का दिशा-परिवर्तन करना। जव तक यह समझ मे नही आता तव तक दुर्योधन जीता का जीता रह जाएगा। कभी नही मरेगा। मूल मर्म यह है कि हमारा प्रहार चेतना की दिशा को वदलने के लिए होना चाहिए। प्रयोग और परीक्षण के रूप मे पदार्थों का परित्याग कर यह सोचते रहे कि मैं कितना सयमी बना हू ? क्या मेरी चेतना बदल रही है ? पदार्थ-त्याग हमारी प्रयोग-भूमि है। लक्ष्य है—चेतना की दिशा का परिवर्तन।

क्या पदार्थों को छोडने से, त्याग लेने से, धम नहीं होता ?

होता है, परन्तु आप मर्म को समझने का प्रयत्न करें। राजस्थानवासी मतीरा खाने का त्याग करता है और मानता है कि धर्म हुआ। किन्तु विश्व मे ऐसे भी देश हैं जहा मतीरा होता ही नही। वहा के निवासी जानते ही नही कि मतीरा क्या होता है ? उनके लिए मतीरा खाने की वात ही नही उठती। उनको भी धर्म होता है क्या ? मतीरा नही खाने मात्र से धर्म हो गया क्या ? मूल वात यह नही है। पदार्थ कही होते हैं, कही नही। कभी होते हैं, कभी नही। प्रश्न है मन की आग का, लालसा का। वह शान्त हुई या नही—मूल प्रश्न यह है। हम सोचें—आग मे मौसबी नही डाली, नही जलेगी। कपडा नही डाला, नही जलेगा। हमने इतना वचा लिया। अरे, वचा क्या लिया ? आग मे वचाने की वात है ही नही। आग को अव भी कपडा मिले तो वह उसे जला सकती है, फल मिले तो फल को जला सकती है। कुछ भी मिले, सवको भस्मसात् कर सकती है। आग है तव तक जलने-जलाने की वात होती रहेगी। मूल वात है—आग को वुझाना, आग को शान्त करना।

आकर्षण आग है। यदि हमारा ध्यान आकर्षण को मिटाने मे लगता है, आग बुझ जाती है। यदि हमारा ध्यान केवल ईंधन को वचाने मे लगता है, पदार्थ-त्याग की ओर ही जाता है, तो कभी आग वुझेगी ही नही, समय पाकर भभक उठेगी।

वहुत सारे पदार्थ छोड दिए जाते है, पर लोलुपता नही मिटती, लगाव नही मिटता, आकर्षण नही छूटता। लोलुपता मिटनी चाहिए, लगाव मिटना चाहिए, आकर्षण छूटना चाहिए। यह है दिशा का परिवर्तन।

आप आग को भी जानें और ईंधन को भी जानें। दोनो को समझें। ईंधन को आग मे गिरने से रोकें। आग भभकेगी नही। उसे वुझाने का भी प्रयत्न करें। पदार्थ-त्याग लालसा की आग को वुझाने मे सहायक वने—ऐसा प्रयत्न हो।

व्रत की सीमा अपनी चेतना के आकर्षण का बिन्दु है तो उसके परीक्षण की सीमा का निर्धारण कैसे हो सकता है ? यह कैसे सभव है ?

सीमा निर्धारण की कोई जरूरत नही है। हम अभ्याम के रूप मे कुछ भी प्रयोग कर सकते है। हम बच्चे को कुछ सिखाना चाहते है। उसे पहले नकली रूप बताते है। नकली चीज़े सामने रखते है। जिनका हम आकार बच्चे को दिखा रहे हैं, उनका कोई उपयोग नही है। वे नकली है। असली तो वह होगा जो वास्तव मे है। किन्तु अभ्यास के लिए हम उसे नकली आकार दिखाते है। यह हमारा अभ्यास होता है कि हम इन व्यक्तियो के साथ ऐसा व्यवहार करेंगे, इनके साथ ऐसा करेंगे। यह सारा ज्ञान विभिन्न रूपो मे कराया जाता है। किन्तु इसकी पृष्ठभूमि मे एक ही भावना काम करती है। वह भावना है—विवेक जागृत करना, क्षमता जागृत करना।

शिक्षा का उद्देश्य है—बौद्धिक क्षमता का विकास। उसके सदर्भ मे अनेक विद्याओ मे शिक्षा दी जाती है। इतिहास पढाया जाता है, भूगोल पढाया जाता है, सामाजिक ज्ञान कराया जाता है। यह सभी देशो मे एक-सा नही होता। देश और काल के अनुसार नाम बदल जाते है, स्थान बदल जाते हैं, सदर्भ बदल जाते है। मौलिक अतर नही आता। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, चीन या भारत सबकी शिक्षा का एक ही उद्देश्य है कि छात्र का बौद्धिक विकास हो, मानसिक विकास हो। देश-प्रेम जागे। देश के प्रति अनुराग पैदा हो, शारीरिक और मानसिक क्षमताओ का विकास हो। शिक्षा देने के तरीको मे भिन्नता आती है देश और काल के अनुसार। किन्तु मूल उद्देश्य नही बदलता।

हमारा भी मूल उद्देश्य है कि आकर्षण जो बाहर की ओर बह रहा है, वह मुडे और अन्दर की ओर बहने लगे। वह मूल चेतना मे लीन हो जाए। इसके उपाय एक नही, हज़ार हो सकते है। पदार्थ-त्याग भी उसका एक उपाय है। पर वह हो सयम को बढाने वाला, आकर्षण को बदलने वाला, आकर्षण को तोडने वाला। पदार्थ के परित्याग से आकर्षण कितना छूटता है, यह देखना चाहिए। पदार्थ-त्याग भी अच्छा है और चेतना का दिशा-परिवर्तन भी अच्छा है। पहला है प्रयोग और दूसरा है मूल। हम मूल को मूल समझें, प्रयोग को प्रयोग और साधना को साधना।

पदार्थों का परित्याग और चेतना की दिशा का परिवर्तन—क्या दोनों चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए आवश्यक हैं ?

दोनो आवश्यक है। परन्तु इसे हमे ठीक समझ लेना चाहिए। जो लोग केवल छोडते ही चले जाते है, मूल बात को नही पकडते, उनके सामने भी समस्या आती है। जो प्रयोग नही करते, लालसा को घटाने के लिए पदार्थ-त्याग का प्रयोग नही

करते, उनके सामने भी समस्या आती है। मूल बात है—चेतना का परिवर्तन। मूल को समझना और पदार्थ-त्याग का प्रयोग करना आवश्यक है। पदार्थ-त्याग को प्रयोग का रूप देना चाहिए, जिसमे यह लगे कि जीवन मे प्रयोग हो रहा है। रूढि पर न चलें। हमने एक दिशा की ओर प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया। हमे एक एक पैर आगे रखना होगा, तभी हम मजिल पा सकेंगे। पाच मील का रास्ता पार करना है तो भी एक एक पैर चलकर ही हम उसे पार कर सकेंगे। उडकर एक साथ पाच मील नही जा पायेंगे। एक पैर रखा। मजिल कुछ कम हुई। दूसरा, तीसरा और चौथा पैर रखा। मजिल कुछ और कम हुई। यही क्रम है मजिल को पाने का। हमारे सामने दिशा है। हम एक-एक पैर चल रहे है। निश्चित ही हम लक्ष्य तक पहुच जायेंगे। पदार्थ-त्याग मजिल की ओर बढने वाला एक पैर हो, एक डग हो, यह वाछनीय है।

क्या चेतना अपने मूल स्रोत से बाहर निकलकर नयी स्थितिया निर्मित करती है ?

मूल चेतना से हमारी चेतना बाहर की ओर फैलती है। सूर्य की रश्मिया सूर्य से बाहर फैलती है, बाहर की ओर जाना इनका स्वभाव है। किन्तु बाहर जाने का अर्थ किसी से मिलना नही है। कोई मिला लेता है, यह बात दूसरी है। जहा मिलना होता है वहा परिवर्तन भी होता है, तब अनेक स्थितिया बनती है।

जागरूकता सवर है या निर्जरा ? कर्म को रोकती है या तोडती है ?

जागरूकता सवर भी है और निर्जरा भी। दोनो है। जो आदमी जागरूक रहता है, वह दोषो के आने के द्वार बन्द कर देता है। द्वार बन्द होने पर बाहर से कोई वस्तु नही आती। नही आने के साथ-साथ उसमे शक्ति बढती है और वह इतनी बढ जाती है कि उसमे पुराने दोष नष्ट होते है। वह निर्जरा है।

क्या अप्रयत्न भी एक प्रयत्न नहीं ?

अप्रयत्न भी एक प्रयत्न है। प्रयत्न को छोडना भी एक प्रकार का प्रयत्न है, प्रवृत्ति है।

भूख की अनुभूति ज्ञान के द्वारा होती है या अन्य किसी माध्यम से ?

यदि ज्ञान से भूख की अनुभूति होती हो तो मुक्त आत्मा को भी भूख की अनुभूति होनी चाहिए। क्या अज्ञान के द्वारा भूख की अनुभूति होती है ? नही। यदि अज्ञान के द्वारा भूख की अनुभूति मानें तो निर्जीव वस्तु मे भी उसकी अनुभूति होनी चाहिए। ज्ञान या अज्ञान भूख की अनुभूति के कारण नही है। भूख की अनुभूति तब होती है जब ज्ञान की धारा वेदनीय कर्म की धारा से मिलती है।

सवेदन और स्व-सवेदन में क्या अन्तर है ?

जहा ज्ञान-धारा कषाय से मिश्रित होती है, वह है सवेदन। जहा ज्ञान, कर्म और सस्कारो का मिश्रण होता है, वह है सवेदन। जहा ज्ञान-धारा, ज्ञान-चेतना

विशुद्ध रहती है, जहा अपनी आत्मा का अनुभव होता है, शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है, वह है स्व-सवेदन। इसका अर्थ है—स्व का अनुभव।

ज्ञान चेतना और कषाय चेतना का तात्पर्य क्या है ?

एक है चेतना का वलय और एक है कषाय का वलय। इन दोनो मे अपनी-अपनी शक्ति है। चेतना मे अपनी शक्ति है और कषाय मे अपनी शक्ति है। इन दोनो शक्तियो का सघर्ष है। शुद्ध चेतना कही नही जाती। वह तो अपने स्वरूप मे स्थित रहती है, शान्त रहती है। वह शक्ति रूप है। शुद्ध चेतना से जो ज्ञान की रश्मिया निकलती हैं वे बाहर की ओर जाती है। कषाय की रश्मिया उनसे सपृक्त होने का प्रयास करती है। सघर्षण होता है। जब आदमी जागरूक रहता है तब ज्ञान-धारा की शक्ति प्रबल रहती है और वह कषाय की धारा को हटाने लग जाती है, उसके वलय को तोडने लग जाती है। जब आदमी प्रमाद मे होता है तब कषाय की धारा प्रबल होती है और वह ज्ञान-धारा को दबोचने का प्रयत्न करती है। दोनो अपने-अपने दाव लगाती है। जो प्रबल होती है वह जीत जाती है और दूसरी हार जाती है। कभी ऐसी स्थिति भी आती है कि कषाय-चेतना ज्ञान-चेतना को दबाए चली जाती है। ऐसा लगता है मानो ज्ञान समाप्त हो गया। कभी ऐसी स्थिति भी आती है कि ज्ञान-चेतना कषाय-चेतना को दबाए चली जाती है और उसे समूल नष्ट कर देती है।

जप को शक्तिशाली कैसे बनाया जा सकता है ?

जप को शक्तिशाली बनाने के लिए, पूर्ण प्रभावशाली बनाने के लिए चार बातें आवश्यक है—रग, शब्द, उच्चारण और मन का योग। जैसे—'णमो अरहताण' का जाप करते समय हमारे मस्तिष्क मे श्वेत वर्ण का चिंतन होना चाहिए। श्वेत रग का ध्यान होगा तो उससे अधिक लाभ होगा। अर्हत् के साथ श्वेत रग का, सिद्ध के साथ लाल वर्ण का, आयरियाण के साथ पीले रग का, उवज्झायाण के साथ नीले रग का और णमो लोए सव्व साहूण के साथ काले रग का योग है। इस प्रकार प्रत्येक मत्र के साथ रग का सम्बन्ध है। प्रत्येक अक्षर के साथ रग का सम्बन्ध है। जैसे 'क', अ'—ये सारे अक्षर है। 'अ' का वर्ण होता है, रग होता है, गध होती है, रस होता है और स्पर्श होता है। सस्थान भी होता है। पाचो बातें हर अक्षर के साथ, हर वर्ण के साथ होती है।

सूक्ष्म जप या मानसिक जप क्या है ?

सूक्ष्म उच्चारण को बोलकर नही समझाया जा सकता। मैं बोलूंगा तो वह सूक्ष्म नही रहेगा। जप के तीन प्रकार हैं। उनमे एक है मानसिक जप। इसे हृदय जप भी कहा जाता है, रहस्य जप भी कहा जाता है, गूढ जप भी कहा जाता है। आपने स्थान चुना हृदय का। यह सबसे सरल स्थान है। आपने मत्र का एक वाक्य ले लिया। जो भी इष्ट है उसके अक्षर ले लिए। आखें मूद ली। अब उन

अक्षरो को देखना प्रारभ किया। सुनहरे अक्षरो के रूप मे उन्हे देखा। ध्यान मे वैठे हैं, उन अक्षरो को पढ रहे हैं, वोल नही रहे हैं, मात्र उन अक्षरो को देख रहे हैं। यह है सूक्ष्म जाप, सूक्ष्म ध्यान। इस प्रकार जो जाप किया जाता है वह वहुत शक्तिशाली होता है। आप उच्चारण कर, वोलकर जाप करेंगे तो उसमे इतनी शक्ति नही होगी। अक्षरो को आन्तरिक आखो से निरन्तर देखते रहना, एकटक देखते रहना, यह है मानसिक जप। इससे मन शक्तिशाली होता है।

क्या जाप के स्थान उद्देश्य के साथ वदलते जाते हैं ? कैसे ?

एक 'णमो अरहताण' का जाप शरीर के पचासो भागो मे किया जा सकता है। यह हमारे उद्देश्य पर निर्भर करता है कि हम किस उद्देश्य से जप कर रहे है। आपको एक वीमारी से छुटकारा पाना है तो आपको अर्हत् का जाप और कही करना होगा। आपको किसी वस्तु को प्राप्त करना है तो उसको कही और करना होगा। आपको अर्हत् वनना है तो दूसरे स्थान पर करना होगा। इस प्रकार पचासो उद्देश्य हो सकते हैं।

आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है—इसके आधार पर जाप का क्रम क्या होना चाहिए ?

'आत्मा भिन्न और शरीर भिन्न'—इस अनुभूति का जप करना, यह किसी भी मन्त्र से कम नही हैं। मोह को तोडने के लिए यह वहुत वडा मन्त्र है। इसे वोलकर भी किया जा सकता है। जप का क्रम इस प्रकार चले। प्रारभ मे तेज और लम्वी ध्वनि हो। इसमे ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—ये तीनो प्रकार के उच्चारण होते हैं। जप करते-करते दस-पन्द्रह मिनट वीत गए। स्नायुओ मे शिथिलता आ गयी, थकान आ गयी। पन्द्रह मिनट के वाद आप उसे छोड दें। फिर उपाशु जप करें। फिर उच्चारण होठो तक सीमित रहेगा। दूसरो को पता भी नही चलेगा। उस जप मे चले जाइए। दस-पन्द्रह मिनट करते रहे। फिर मानसिक जप मे चले जाइए। यह एक क्रम है—शक्ति के अभिवर्धन का। मानसिक जप मे जाने के वाद आप न जोर से वोलेंगे, न धीमे वोलेंगे, केवल पढेगे, देखेंगे, द्रष्टा वन जाएगे ?

क्या नमस्कार मन्त्र का एक ही प्रकार का प्रयोग है या भिन्न-भिन्न ?

एक वार मैंने सोचा था कि नमस्कार मन्त्र के विविध प्रयोगो, सौ प्रयोगों की एक पुस्तक लिखू, जिसमे नमस्कार मन्त्र के सौ अलग-अलग प्रयोग हो। ऐसा प्रयत्न किया भी, पर वह अभी पूरा नही हो सका। अगर कोई चाहे तो नमस्कार मन्त्र के हजार प्रयोग कर सकता है। किस प्रकार की वीमारी के लिए, किस प्रकार की मानसिक स्थिति के लिए और किस प्रकार के सम्पर्क के लिए—सवके लिए अलग-अलग योग हैं।

श्वास पर मैंने ध्यान दिया। डेढ घटे वाद होश आया। जो दो-तीन घटा तक ध्यान करते हैं, उन्हें भी ज्ञात नहीं रहता। इस प्रकार जो भीतर जाते हैं,

क्या वे मनोमय कोष में पहुचते हैं या जड समाधि में जाते हैं? जड समाधि में जाते हैं तो क्या यह उल्टी दिशा नहीं हैं?

यह मनोमय कोष मे नही, प्राणमय कोष मे है सारा। हम प्राण को दिशान्तरित कर देते हं। इससे शून्यता आ जाती है। यह जड़ समाधि की बात है। इससे इतना तो होता है कि कुछ विश्राम-सा मिलता है या शरीर की जो त्रिया है वह कम हो जाती है और यह शरीर की शक्ति को सुरक्षित रखने का एक साधन जरूर बन जाती है। किन्तु जो चैतन्य या विकास करना चाहते हे, वह इससे सम्पन्न नही होता। वह सारा होता है जागृत समाधि से। जागृत समाधि मे। इसका अर्थ है कि हम निरन्तर जागते रहे। आचार्यों ने बताया कि मुनि को सोते समय भी जागना चाहिए। दो प्रकार की स्थिति होती है—एक जागते समय सोने की और दूसरी सोते समय जागने की। सोते समय भी जागना चाहिए। इमका मतलब है कि रात को सोए भी, नीद ले भी तो इतनी गाढ नीद न ले कि विलकुल बेभान ही हो जाए। साधक इतनी हल्की नीद ले कि सोते समय भी यह वरावर अनुभव बना रहे कि मैं जाग रहा हू। चेतना एकदम लुप्त न हो। यह अच्छी भूमिका है। यह साधना की स्थिति है कि हम ध्यानकाल मे या समाधि-काल मे विलकुल बेभान न हो, बेहोशी की स्थिति मे न हो, जागृत हो, जागते रहे। हमे अपनी आत्मा का बोध, अपने अस्तित्व का बोध बराबर बनाए रखना चाहिए। यह होगी हमारी जागृत समाधि। बस, इतना-सा हो कि मन एक ही दिशा मे लगा रहे। इसका अर्थ यह हुआ कि मन का कार्य बद नही हुआ है। वह कार्यरत है। मन का काम चालू है। मन की अनुभूति भी वन्द नही है। मन का ज्ञान भी वन्द नही है। केवल समाहार हो गया। सस्कृत भाषा मे समाहार की पद्धति है। यह व्याकरण की पद्धति है। 'अ ह' कहने से समूची वर्णमाला का समाहार हो जाता है, ग्रहण कर लिया जाता है। आदि का अक्षर है 'अ' और अन्तिम अक्षर है 'ह'। 'अ ह' मे सारी वर्णमाला समा गयी। भाषा मे सक्षेपीकरण की वात चलती है। अग्रेजी भाषा मे भी यह प्रचलित है। वडा नाम है किसी कपनी का। आदि के अक्षर से वह नाम वोला जाता है। समझने वाला समझ जाता है। यह समाहार की पद्धति है।

वैसे ही मन का भी समाहार होना चाहिए, करना चाहिए। मन जो चारो ओर छितर रहा है, उसे समेटकर एक विन्दु पर जमा देना—यह है मन का समाहार। उस प्रक्रिया मे जागरण रहेगा, चैतन्य रहेगा, सुपुप्ति नही होगी, वेहोशी नही होगी। मूर्च्छा की स्थिति नही होगी। आत्म-वोध वरावर बना रहेगा। उस स्थिति मे मन ऊर्जा को पैदा करता है और उस ऊर्जा के द्वारा परमाणुओ का विस्फोट होता है। उनमे हमारे चैतन्य की ज्योति प्रज्वलित होती है, प्रकट होती है, अभिव्यक्त होती है। यह है हमारे विकास का साधन, विकास का मार्ग, जागरण

का राजपथ। जड समाधि चैतन्य विकास का मार्ग नही है। शरीर के स्तर पर उसमे कुछ लाभ हो सकता है, किन्तु यह चेतना के विकास का रास्ता नही है। जड समाधि और जागृत समाधि की भूमिकाए भिन्न-भिन्न है। दोनो दो हैं, एक नही।

उस वक्त यदि दूसरी घटनाए घट रही हो तो उनकी थोडी थोडी जानकारी होगी कि ऐसा कुछ हो रहा है। ध्यान नहीं देते हैं उस ओर, फिर भी इन्द्रिया कभी-कभी ग्रहण करती रहती हैं। उस स्थिति में क्या करना चाहिए ?

एकाग्रता की स्थिति मे वाहरी घटनाओ का ज्ञान होता है। जैसे शब्द का जो ज्ञान होता है, वह कभी होता है, और कभी नही होता। किन्तु जव एकाग्रता सिद्ध हो जाएगी तव ये सारी स्थितिया समाप्त हो जाएगी। प्रारभ मे कुछ स्थितिया वनती हैं किन्तु एकाग्रता का जो दृढ विन्दु प्राप्त हो जाता है उस समय कुछ भी भान नही रह सकता। मैंने इसका स्वय अनुभव किया है। मैं जान-बूझकर उस स्थान मे ध्यान करने बैठता हू जहा चारो ओर कोलाहल हो रहा होता है। और यह इसलिए करता हू कि एकाग्रता की डिग्री का परीक्षण हो सके। एकाग्रता किस विन्दु तक पहुची है, यह ज्ञात हो सके। कभी शब्द सुनाई देता है, इसके अर्थ की ओर भी ध्यान चला जाता है। कभी शब्द तो सुनाई देता है, पर उसके अर्थ की ओर ध्यान नही जाता और कभी यह भी स्थिति आती है कि कोई शब्द सुनाई नही देता। ये तीन स्थितिया है। तीनो स्थितिया चलें, कोई आपत्ति नही है। एकाग्रता जैसे जैसे पुष्ट और सुदृढ होती जाएगी, मन को जैसे जैसे टाइट करते चले जाएगे तो हम एकाग्रता के उस विन्दु पर पहुच जाएगे कि वाहर की स्थिति का अनुभव ही समाप्त हो जाएगा।

मनोमय कोष में पहुचे विना जो हमारी क्रियाए होगी, वे क्रियाए वास्तविक नहीं होगी। भक्त रैदास मे जो क्रिया निष्पन्न हुई, जो परिवर्तन फलित हुआ, वह मनोमय कोष में पहुचने पर ही हुआ था। हम सयम करते हैं, त्याग करते हैं, वहुत-सी क्रियाए करते हैं और सोचते हैं कि हमने वहुत अच्छा कर लिया या कर रहे है। लेकिन हम मनोमय कोष मे तो पहुचे नहीं हैं। उस कोष मे पहुचे विना जो धार्मिक क्रियाए करता है उनका फल कितना और कैसा होता होगा ?

प्राण के स्तर पर साधना करने वाले व्यक्ति अनेक चमत्कारो की शक्ति पा लेते हैं। पर उनके स्वभाव मे कोई परिवर्तन नही आता। ऐसे साधक या सन्यासी हो सकते है जो अपनी दृष्टि से एक पल मे आदमी को भस्म कर सकते हैं। वे शाप दे सकते है, अनुग्रह कर सकते है, आशीर्वाद दे सकते हैं। चमत्कार सारे हो सकते है प्राण के स्तर पर। किन्तु उनमे क्रोध भी है, मान भी है, माया भी है, लोभ भी है, द्वेष भी है। उनके स्वभाव मे, चरित्र मे, आचरण मे कोई भी अन्तर नही

दीखता। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनमे चमत्कार तो है, पर उदात्त चरित्र नही है क्योकि उन्होने प्राणो की सिद्धि की है, मन की सिद्धि नही की है। जब साधक मानसिक साधना मे लगता है, तब परिवर्तन आता है। उसका सारा चरित्र बदल जाता है। उसकी आकाक्षाए, वासनाए बदल जाती है और उसका चरित्र उदात्त हो जाता है। यह सारा निष्पन्न होता है इस मनोमय भूमिका पर। इसका यह अर्थ नही है कि यह एक ही प्रकार से होता है, अनेक प्रकार से होता है। जिस व्यक्ति का सयम सुदृढ है वह अपने आप इस भूमिका पर पहुच जाता है। जिस व्यक्ति का वैराग्य सुदृढ है वह भी इस भूमिका पर पहुच जाता है। वह न ध्यान करता है, न श्वास पर ध्यान देता है, कुछ भी नही करता, केवल वैराग्य से ही वहा पहुच जाता है। अपने आप मनोमय कोष खुल जाता है, विकसित हो जाता है। एकाग्रता सध जाती है। इसके अनेक साधन है—सयम, ध्यान, सकल्पशक्ति, वैराग्य, तीव्र इच्छा-शक्ति। जिसका मन जिसमे लग जाए, वह उसी साधन से आगे बढ सकता है। जिसमे तीव्रता आ जाती है वह लक्ष्य तक पहुचा देता है। परिवर्तन आ जाता है। अनेक व्यक्ति ऐसे हुए हैं जो पहले क्षण मे अत्यन्त कामुक, भोगी और इन्द्रिय-लोलुप थे। राजसी ठाट-बाट मे रहते। अपार वैभव और तीव्र लालसाओ मे वे जीवन बिता रहे थे। एक स्थिति ऐसी घटित हुई, दूसरे ही क्षण सब कुछ बदल गया। यह आकस्मिक परिवर्तन भी होता है और साधना की तीव्रता से भी होता है। सयम से होता है, वैराग्य से होता है, ध्यान से होता है। अनगिन साधन है इसकी जागृति के, परिवर्तन के। इसलिए हम एक ही साधन मानकर न चलें। एक ही साधन को पकडकर न चलें। अनेक साधन है, अनेक मार्ग है, जो भी मार्ग पूरा खुल जाए, वह उस स्थिति तक पहुचा देगा।

यह साध्य की तरफ पहला चरण है। उसके शेष चरण कैसे और कौन-कौन से हैं ?

शेष चरण बहुत है। एक चरण यह होगा कि अब हमने मन को एक दिशा मे प्रवाहित किया है। एक स्थिति यह आएगी कि हमने मन को समाप्त कर दिया है। मन को समाप्त करने के बाद अनेक भूमिकाए पार करनी होगी।

आपने कहा कि मन एकाग्र हो जाए और वह मनोमय कोष का स्पर्श करने लग जाए तब ही धार्मिक क्रियाए बहुत फल ला सकती हैं। हम तपस्या करते हैं, भूख निकालते हैं, इसका फल क्या है ?

यह निष्फल नही है। तपस्या भी की और वह विधि से की गयी है तो उसका परिणाम निश्चित आता है। अभी एक रूसी वैज्ञानिक ने कुडलिनी-जागरण के लिए एक प्रयोग किया। हमारे शरीर मे एक विद्युत्धारा है। उसे जागृत किया जा सकता है। उस विद्युत को वे 'बायोलॉजिकल रेडियो कम्युनिकेशन' (जैविक रेडियो सचार) मानते है। उसे विकसित कैसे किया जाए, इस दष्टि से वे प्रयोग

करते है। उन्होने मन्यामी का जीवन स्वीकार किया। उसने उपवास किए, निर्जल उपवास किए। प्राणायाम, ध्यान आसन किए। ये सभी साधनाए की। आन्तरिक शुद्धि की और उसे एक ऐसा झटका लगा कि चेतना मे एकदम परिवर्तन आ गया।

एक वहन है रामामण्डी की। उमका नाम है कलावती। वह पढी-लिखी नही है। अक्षरज्ञान भी उसे नही होगा। वह तपस्या करती है। लम्बी तपस्याए करती है। ध्यान साथ-साथ चलता है। वह उम विन्दु पर पहुच गयी, जहा पहुचने पर परिवर्तन अवश्यभावी हो जाता है। उसमे परिवर्तन आया। उसमे अनेक विलक्षणताए पैदा हो गयी। पढी-लिखी नही है। फिर भी विलक्षणताओ से भरी है। उसे ऐसा आभास होता है कि सामने कुछ लिखा हुआ है और वह उस लिपि को पढ रही है, समझ रही है। चमत्कार घटित हो रहे है। आप इस वात को कभी न पकडे कि उपवास कर रहे है, उमका लाभ होगा या नही? आप यह देखें कि वह ठीक विन्दु पर चोट कर रहा है या नही? ठीक विन्दु पर पहुचा है या नही? उस विन्दु पर किसी भी रास्ते मे पहुचा जा सकता है।

अह क्या है?

मैं धनवान हू। मैं वुद्धिमान् हू। मैं पडित हू। मैं वडा हू। मैं स्वामी हू। यह मेरा नौकर है—यह सारा अह है। जिसके साथ 'मैं' लगता है, विशेषण लगता है, वह सारा अह है। सव विशेषणो को हटा लो। मैं केवल चैतन्यमय पवित्र सत्ता हू, पवित्र हू, सर्वोच्च हू। यह शुद्ध भावना है। अह मे शून्य भावना है। यह हीन भावना नही है। हीन भावना तव आती है जव हम आत्मा को भुला देते हैं। आत्मा की सत्ता के पीछे जहा इतना प्रकाश है वहा न हीन भावना है और न अह भावना।

क्या समताल श्वास मे दीर्घश्वास नहीं हो सकता या दीर्घश्वास मे समताल श्वास नहीं हो सकता?

दोनो साथ-साथ हो सकते है। यह तो केवल वताने के लिए दोनो का अलग-अलग उल्लेख किया है। श्वास दीर्घ भी हो और समताल भी।

मस्तिष्क को शक्तिशाली कैसे वनाया जा सकता है?

मस्तिष्क मे एक भूरे रग का पदार्थ है। वही हमारी सारी शक्ति को सजो रहा है। शरीरशास्त्री भी यही कहते है कि मस्तिष्क को शक्तिशाली वनाना हो तो श्वेत रग का, भूरे रग का चिन्तन करो, ध्यान करो।

जप करने का समय कौन-सा अच्छा है?

प्रातःकाल और सायकाल—ये दो समय अच्छे है। वीच के समय मे भी कर सकते है।

क्या निर्विचार स्थिति मे जाने के वाद पुन लौटना नहीं होता? क्या वह

अतिम स्थिति नहीं है ?

यह मत मानिए कि निर्विचार की स्थिति मे जाने वाला पुन विचार की स्थिति मे नही आता। जो अन्तिम बिन्दु पर पहुच गया, वह नही लौटेगा। वह विचार मे नही आएगा। किन्तु अभ्यास-काल मे हम स्वय निर्विचारता मे चले जाएगे, फिर विचार मे आ जाएगे। यह क्रम चलता रहेगा। जब हम निर्विचार का अनुभव करेगे, वह हमारा प्रत्यक्ष अनुभव होगा। जो बताया गया है, उससे विपरीत नही होगा।

दूसरी बात यह है कि जो निर्विचारता के अन्तिम बिन्दु पर पहुच गए उन्होंने जो कुछ कहा, वह सोच-विचारकर नही कहा किन्तु उन्हें जो कुछ प्रत्यक्ष अनुभव हुआ, दीखा, उसी के आधार पर कहा। जो स्पष्ट अनुभव होता है, दीखता है, वा कहते है। उन्हें सोचने-समझने की जरूरत ही नही होती। सोचना और विचारना उनके लिए आवश्यक होता है जिनका ज्ञान परोक्ष है, प्रत्यक्ष नही है। प्रत्यक्ष द्रष्टा के लिए सोचना-विचारना आवश्यक नही होता। वहा प्रत्यक्ष दर्शन है। उसका पुनरावर्तन जैसा होता है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे अवग्रह, ईहा आदि का क्रम होता है, किन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मे यह क्रम समाप्त हो जाता है।

जो साधक निर्विचारता के चरम बिन्दु पर पहुच गए वे लौटकर विचारो के जगत् मे नही आ सकते तो फिर जो विचार मे बैठे हैं उसका वे किस प्रकार अनुभव करते होगे ?

वे अनुभव नही करते। वे तो स्पष्ट देखते है। उनमे प्रत्यक्ष दर्शन होता है। अनुभव का धरातल दर्शन से नीचे है। दर्शन का धरातल ऊचा है। वे द्रष्टा बन जाते है। जिसने आत्मा को जान लिया, उसने सबको जान लिया। वे आत्मद्रष्टा हो जाते है। जो निर्विचारता की स्थिति मे पहुच गए, उन्होने परम सत्य आत्मा को देख लिया। उन्ही ने परम सत्य का वर्णन किया। जो आत्मस्थ है, वह आत्मा को जानेगा तो जड को भी जानेगा। उसमे सवेदना समाप्त हो जाती है। सवेदन होता ही नही। जो असवेदना की भूमि पर पहुच गया, वह सवेदना से अतीत हो गया।

कहा जाता है कि कलियुग मे केवलज्ञान नहीं होता। क्या मन पर्यवज्ञान भी नहीं होता ?

मैंने कहा कि केवलज्ञान, कोरा ज्ञान आज भी हो सकता है। अभी इसी क्षण आप केवलज्ञान का अनुभव कर सकते है। ऐसा मत मानिए कि केवलज्ञान नही हो सकता। मन पर्यवज्ञान आज भी होता है। मन पर्यवज्ञान का अर्थ है—पर-चित्त-ज्ञान। दूसरे के भावो को जानना मन पर्यवज्ञान है। आज विज्ञान की भाषा मे इसे टेलीपैथी कहा जाता है। आदमी कही हजारो कोस दूर बैठा है और

यहा बैठा हुआ व्यक्ति उसके मनोभावो को जान लेता है। यह टेलीपैथी है।

'आज अमुक प्राप्त नही होता'—यह जो बात कही गई है, वह एक चरम-बिंदु को लेकर कही गयी है। इसका विकास ही नही हो सकता, ऐसा नहीं कहा गया है।

किसी ने कहा—'अमेरिका नही जा सकते'। इसका तात्पर्य यह है कि पैदल चलकर या थल मार्ग से वहा नही पहुचा जा सकता। कहने वाले के मन मे यही अभिप्राय रहा होगा। यदि इस कथन के आधार पर यह मान लें कि अमेरिका पहुचा ही नही जा सकता, यह भ्रान्ति होगी। उसके कहने का अभिप्राय था कि पैदल नही जा सकते, बैलगाडी से नही जा सकते आदि। किन्तु वायुयान से नही जा सकते या जहाज से नहीं जा सकते—यह उसके कथन का आशय कभी नहीं हो सकता। तो हर बात के निषेध मे भी अपेक्षा जुडी रहती है। वह निरपेक्ष कथन नही होता। यह ठीक है, पूर्ण ज्ञान, निवारण ज्ञान तक जब पहुचना होगा, तब होगा, जिस स्थिति मे पहुचना होगा, तब होगा। परन्तु मार्ग को खुला रहने दो। बन्द मत करो। यह मार्ग कहा समाप्त होता है—यह आगे की बात है। जितना तुम चल सको, चलते रहो। मार्ग मिलता जायेगा। मंजिल निकट आती रहेगी। पहले से ही यदि मार्ग बन्द कर दिया तो फिर मार्ग पर चलने के लिए कौन तत्पर होगा? वह सोचेगा, मार्ग बन्द है। उस तक पहुचने से पूर्व ही वह लौट आएगा पूर्व बिन्दु पर।

मोक्ष तो मरने के बाद होता है। आप यह कैसे कह सकते हैं कि जीवित अवस्था मे भी मोक्ष हो सकता है?

उमास्वाति ने लिखा है—इहैव मोक्ष सुविहिताना—जो पवित्र आचरण करते है उनके लिए अभी इसी क्षण, यही मोक्ष है। हमे समझना है कि मोक्ष क्या है? बहुत सरल परिभाषा है। जब हम आत्मा की अनुभूति मे होते हैं शुद्ध चेतना की अनुभूति मे होते है, अनासक्ति का अनुभव करते है, निर्लेपता और असंग का अनुभव करते है, वह हमारा मोक्ष है। ये सब मोक्ष के अनुभव है। हमे प्रत्येक बात को अपेक्षा से समझना होगा। घडा बन गया। हम कब कहेंगे कि घडा बन गया? आवे मे पककर जब घडा बाहर निकलता है तब हम कह देते है—घडा बन गया। तो जब क्या कुम्हार मिट्टी लाया था, तब घडा नही बना था? कुम्हार ने जब मिट्टी को चाक पर चढाया था तब घडा नही बना था? भगवान् महावीर का सिद्धान्त है—'कज्जमाणे कडे'। 'क्रियमाणं कृतम्'। जिस क्षण मे कुम्हार ने मन मे घडा बनाने का सकल्प किया था, उसी क्षण घडा बन गया था। कुम्हार के सकल्प से घडा बन जाता है और हमारा मोक्ष होता है हमारे मरने के बाद, यह कैसा तर्क है? यदि धर्म करने के क्षण मे हमें मोक्ष की अनुभूति नहीं होती तो निश्चित मानिए कि कभी आपको मोक्ष नहीं मिलेगा।

जो वच्चा जन्म के पहले क्षण मे नही मरता, वह कभी मर ही नही सकता। उसे कोई मार नही सकता। अन्तिम विन्दु पर हम कह देते है कि 'मर गया'। यह हमारा अज्ञान है। हम कहते है—'मर गया'। यह क्यो ? जव अन्तिम क्षण आता है, सारे कर्म टूट जाते है, तव हम कहते है—मोक्ष हो गया। पहले क्षण मे कर्म टूटे, हम कहते है—निर्जरा हुई। क्या मोक्ष नही हुआ ? मोक्ष हुआ, निश्चित रूप से मोक्ष हुआ। ये दो कोण है। इन्हे ठीक से समझ लेना है।

क्या जगत् का प्रलय कभी हुआ है ? होगा ?

जगत् न किसी का वनाया हुआ है और न इसका कोई सरक्षक है। इसका न कोई पालन करने वाला है और न कोई प्रलय करने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति जगत् को रचने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति जगत् को पालने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति जगत् का प्रलय करने वाला है। प्रत्येक व्यक्ति प्रलय करता है, जड वस्तु भी प्रलय करती है। जगत् चेतन और अचेतन का योग है। मनुष्य ने एटम वम का निर्माण किया। उसका विस्फोट किया। प्रलय किसने किया—एटम वम ने या मनुष्य ने ? हिरोशिमा और नागासाकी का जो प्रलय हुआ वह मनुष्य ने किया। सारा का सारा निर्माण भी मनुष्य करता है। निर्माण और प्रलय मनुष्य ही करता है किन्तु जगत् मे दो मूल तत्त्व है—चेतन और अचेतन, चेतन और जड। इसको किसी ने न वनाया है और न विगाडा है। इन्हे न कोई वना सकता है और न कोई नष्ट कर सकता है। इस जगत् मे जितने तत्त्व थे, उतने ही है और उतने ही रहेगे। एक अणु भी कम नही हुआ है। एक अणु भी कम नही होगा। जितना था, उतना ही है और उतना ही रहेगा।

एक ही विचार को पकडे रहना ध्यान की अच्छी स्थिति है या नहीं ? ध्यान का अच्छा साधक कौन हो सकता है ?

देखना ज़रूरी है ध्यान के लिए। किन्तु ध्यान करने वाले साधक मे यह क्षमता होनी चाहिए कि जब चाहे विचार कर ले और जब चाहे तब उस विचार को छोड दे। यह क्षमता जिसमे होती है, वह अच्छा ध्यान करने वाला होता है। किन्तु जिसमे यह क्षमता नही होती, विचार जो आ गया है उसे छोडने की क्षमता नही होती, वह पागलपन है। प्रश्न है—क्षमता का। किसी साधक ने यह सकल्प किया कि वह एक घटे तक अमुक विषय पर ध्यान करेगा। वह सकल्प के साथ बैठा। इसका अभ्यास होने पर, एक घटे का काल वीता या नही, इसे देखने के लिए घडी आवश्यक नही होती, उसका अभ्यास स्वय काल वीतते ही सम्पन्न हो जाता है। ध्यान मे तत्काल प्रवेश कर जाना और ध्यान से तत्काल निवृत्त हो जाना, यह क्षमता जिसमे होती है, वह अच्छा ध्यान साधक होता है। किन्तु एक विचार उठा और वह पाच-दस दिन तक भी नही हटा, प्रयत्न करने पर भी नही निकला, यह पागलपन है।

आपने कहा था कि देखते रहो। देखते रहो। मैंने उस पर चिन्तन किया। पर सूक्ष्म स्पदनो को देख नहीं पाया। क्यो ?

चिन्तन तो किया है पर देखने का अभ्यास नही किया है। अगर देख लेते और देखने के बाद यह प्रश्न पूछते तो इसका उत्तर मुझे नही देना पडता, आप स्वय उसके उत्तर हो जाते। देखते-देखते जब आप पहली बार भीत को देखेंगे, आपको एक स्थूल भीत-सी दिखाई देगी। मेरा विश्वास है कि आप दस-बीस मिनट निरन्तर देखते चले जाए तो सभव है आपको फिर स्पदन दीखने लग जाए। लगेगा कि भीत मे स्पदन हो रहा है, भीत के परमाणु स्पदित हो रहे हैं।

अनिमेष दृष्टि को स्पष्ट करें। देखने मे क्या-क्या आवश्यक होता है ?

अनिमेष दृष्टि। देखने मे स्थिरता तो अवश्य ही होनी चाहिए। अनिमेष का अर्थ यह नही है कि बीच म कोई पलक झपकाए ही नही। पलक झपका ली तो भी कोई बात नही है। अनिमेष का अर्थ यह ठीक है कि लम्बे समय तक देखना, स्थिरता मे देखना। भगवान् महावीर के लिए कहा गया है कि वे भीत को लम्बे समय तक देखते थे। 'तिरिय भित्ति पेहाए'—यह अजीब-सा लगता है। भीत को क्या देखना ? किन्तु महावीर भीत को देखते थे। मैंने पहले ही कहा था कि जिस वस्तु को हम देखना प्रारभ करेंगे, पहले उसका स्थूल रूप हमारे सामने आयेगा। किन्तु देखने की अवधि जैसे-जैसे लम्बी होती चली जाएगी, स्थूल रूप समाप्त होता चला जाएगा और उसका भीतरी रूप प्रकट होने लगेगा। इसके साथ तीन बाते आवश्यक हैं—लम्बा समय, स्थिर अध्यवसाय और दृढ लक्ष्य।

वस्तु-दर्शन का प्रयोजन क्या है ?

वस्तु-दर्शन से सत्य दर्शन की बात फलित होती है। दुतरफा लाभ होता है। एक तो हमारे देखने की क्षमता विकसित होती है और दूसरे उस वस्तु के सूक्ष्म पर्याय प्रकट होने लगते हैं। जैसे वस्तु-दर्शन मे हम उस क्षमता का उपयोग करते हैं, वैसे ही यदि आत्म-दर्शन या सत्य-दर्शन के लिए करें तो आत्म-दर्शन उद्भावित हो जाता है। प्रकट हो जाता है।

देखने की शक्ति को विकसित करना क्यो आवश्यक है ? वह आत्मा-दर्शन मे कैसे सहायक होगी ?

हमने देखने की क्षमता प्राप्त कर ली। वह गहरी हो गयी, विकसित हो गयी। अब हम उसका उपयोग किस दिशा मे करते हैं, यह हम पर निर्भर है। जब हम वस्तु को जानना चाहते हैं तो उस शक्ति को वस्तु को जानने मे नियोजित करेंगे। मात्र हमारा विषय बदला, क्षमता वही रही। क्षमता एक ही है। विषय बदल जाता है। हमे आकाश को जानना है, चश्मे को जानना है या किसी भी वस्तु को जानना है, उसके अन्तस्तल को देखना है तो हम उस पर ध्यान केंद्रित करेंगे। वह हमारा विषय होगा। धीरे-धीरे वस्तु जान ली जाएगी। यदि क्षमता विकसित नही

है तो कुछ भी नही होगा ।

हम बच्चे को वर्णमाला पढा देते है। हम उसके पढने की क्षमता विकसित कर देते हैं। अब वह कोई भी पुस्तक पढ लेता है। वह इतिहास भी पढ सकता है, भूगोल भी पढ सकता है, विज्ञान भी पढ सकता है। यदि वर्णमाला की क्षमता विकसित नही है तो वह न इतिहास पढ सकता है, न भूगोल पढ सकता है और न विज्ञान पढ सकता है। उसमे यदि क्षमता विकसित है तो वह जो भी पुस्तक सामने आएगी, वह पढ लेगा ।

हम प्रेक्षा ध्यान का अभ्यास करें। देखने का अभ्यास करें। इसका यह अर्थ नही है कि अभी कुछ ही दिनो के अभ्यास से आपको सत्य का दर्शन हो जाएगा। इतनी बडी आशा मत रखिए। किन्तु इस अभ्यास से आपके देखने की शक्ति विकसित होगी, यह निश्चित है। प्रेक्षा ध्यान का अभ्यास देखने की शक्ति को विकसित करने का प्रयत्न है, उपक्रम है।

महान् आत्मा जन्म लेने से पूर्व चुनाव करती है कि मुझे कहा जन्म लेना है ? क्यो ?

आत्मा जन्म लेती है। प्रकृति का चुनाव होता है कि माता-पिता उपयुक्त मिलें। यह पहली बात है। दूसरे मे माता-पिता के द्वारा प्राप्त होने वाले पुष्ट उपकरणो को तो प्राप्त करते ही है, किन्तु स्वय मे सोए हुए जो शक्ति केन्द्र है, उन्हे भी विकसित करते हैं। दोनो बातें चाहिए। केवल एक बात से काम नही बनेगा। दोनो बातें होती हैं, तब कोई महापुरुष पैदा होता है। उसके लिए उपयुक्त तैयारी होती है। आजकल ऐसा नही होता, यह तो मैं नही सोचता। आज भी जो विशिष्ट आत्मा पैदा होती है तो वह भी दो बातो का चुनाव अवश्य करती है। आज मे और पहले मे बहुत फर्क पडा हो, ऐसा नही लगता।

प्राण-शक्ति का मुख्य प्रवाह-केन्द्र कौन-सा है ?

प्राण हमारी जीवनी-शक्ति है। वह विद्युत् है। जैसे एक विशाल फैक्टरी बिजली से सचालित होती है, वैसे ही इस प्राण विद्युत् से शरीर सचालित होता है। इसे हम प्राण-शक्ति कहते है। यह शक्ति समूचे शरीर मे होती है, परन्तु उसका मुख्य प्रवाह सुषुम्ना मे होता है।

ऑक्सीजन और प्राण-शक्ति में क्या अन्तर है ?

ऑक्सीजन प्राणवायु है। जैविक विद्युत् प्राण-शक्ति है। दोनो भिन्न है, प्राणवायु के साथ प्राण आता है प्राण-शक्ति बढती है।

प्राण के विभिन्न उपयोगो पर प्रकाश डालें।

हमारा प्राण तीनो नाडियो मे प्रवाहित होता है। एक प्रवाह को हम कहते है—सूर्य स्वर। यह पिगला नाडी का प्राण-प्रवाह है। इडा के प्राण-प्रवाह को हम चन्द्र-स्वर कहते है और मध्य-नाडी—सुषुम्ना के प्राण-प्रवाह को हम

मिला हुआ स्वर कहते है। यह मध्य स्वर है। हमारी पीठ के पीछे, सुषुम्ना मे जब प्राण का प्रवाह होता है, उसके आस-पास बाई ओर इडा का प्रवाह है। ये तीनो ऊपर आकर भृकुटी के स्थान पर मिलते हैं। तीनो का अपना-अपना उपयोग है। सूर्य-स्वर के प्राण-प्रवाह का अपना उपयोग है, चन्द्र-स्वर के प्राण-प्रवाह का अपना उपयोग है और मध्य-स्वर के प्राण-प्रवाह का अपना उपयोग है। एकाग्रता और समाधि के लिए सबसे अधिक उपयोग है मध्य-स्वर का। दीर्घ-श्वास बहुत उपयोगी है। हम दीर्घ-श्वास का अभ्यास कराते है इसका भी एक कारण है। सुषुम्ना को जगाने के लिए, चलाने के लिए दीर्घ-श्वास कार्यकर है। लम्बे समय तक दीर्घ-श्वास लेने से सुषुम्ना मे स्वर अपने आप चलने लगता है, मन स्थिर हो जाता है। कपालभाति प्राणायाम भी सुषुम्ना को जागृत करने मे उपयोगी सिद्ध होता है।

शक्ति का व्यय कब और कैसे होता है ? क्या प्रवृत्ति मात्र मे शक्ति का व्यय होता है ?

जहा पुद्गल के साथ सम्पर्क है वहा शक्ति खर्च होगी क्योकि वह पर के साथ सम्बद्ध है। शक्ति अपने आप खर्च नही होती। एक परमाणु है। उसके पास इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन का बडा चक्र चलता है। वे इतने चक्कर लगा रहे हैं कि शक्ति का व्यय नहीं होता। स्वभावगत क्रिया मे शक्ति खर्च नही होती। जहा दूसरे मे सम्पर्क होता है वहा शक्ति खर्च होती है। जहा शुद्ध उपयोग है वहा शक्ति का व्यय नही होता। शुद्ध चेतना या शुद्ध उपयोग है—जानना और देखना। वहा शक्ति खर्च नही होती। एक उपयोग है योग के साथ जुडा हुआ। जैसे मन का उपयोग, मतिज्ञान का उपयोग, श्रुतज्ञान का उपयोग—यह शब्द के साथ तथा इन्द्रिय और मन के साथ जुडा हुआ उपयोग है। इसमे शक्ति खर्च होती है क्योकि वास्तव मे यह भी योग है। योग मे शक्ति खर्च होगी। किन्तु जहा केवल चेतना का उपयोग है वहा शक्ति खर्च नही होगी।

योग से शरीर की शक्ति खर्च होती है, साथ-साथ इन्द्रिय और मन की शक्ति भी खर्च होती है। चेतना का जो स्तर है उसकी भी शक्ति खर्च होती है। जहा सहज चेतना है, शुद्ध चेतना है, वहा शक्ति खर्च नही होती। वहा सविचार और निर्विचार का भेद समाप्त हो जाता है।

अप्रमत्तता मे निर्विचार की स्थिति प्रारम्भ हो जाती है। मैं इसे स्पष्ट भाषा मे बाधना नही चाहता। पहले गुणस्थानो मे भी यह स्थिति प्राप्त हो सकती है किन्तु अप्रमत्त गुणस्थान मे इसकी झलक अवश्य ही मिल जाती है।

क्या श्वास का आदि बिन्दु और अन्तिम बिन्दु एक ही है ?

श्वास को भीतर ले गए। अब फिर उसे ऊपर उठाना है तो जहा तक भीतर ले गए वहा तक तो श्वास है। ऊपर उठता है तब प्रश्वास होता है। जहा तक

ले गए वह अन्तिम बिन्दु है और प्रश्वास आदि बिन्दु है। अत आदि बिन्दु और अन्तिम बिन्दु एक ही है।

एक व्यक्ति छोटी-छोटी बातो को लेकर सवेदनशील बनता है। क्या यह सवेदनशीलता उसको महान् साधक बना देगी ?

यह सच है कि सवेदनशीलता से क्षमता बढती है किन्तु हम क्षमता का उपयोग किस दिशा मे करेगे, यह हमारी वीतरागता पर निर्भर है। क्षमता को हमे बढाना ही है। अब उस क्षमता का उपयोग हम किस दिशा मे करें, यह दूसरी बात है। मन पटु हो गया। जिसकी पटुता बढ जाती है, उसकी काम करने की भी शक्ति भी बढ जाती है। आख मे सब इन्द्रियो से अधिक पटुता मानी जाती है। मन की पटुता उससे भी अधिक है। मन की पटुता मे तारतम्य होता है। इन्द्रियो की पटुता मे भी तारतम्य होता है। पटुता को बढाते-बढाते हम इतना विकास कर लेते है कि हम दीवार के परे की चीज भी देख लेते है। यह पटुता का विकास है।

क्या देखने के बाद भी कुछ करना शेष रहता है ? क्या देखना ही सब कुछ नहीं है ?

देख लेने के बाद भी दो क्रियाए होती है। हमने सचाई को देखा। देखने के बाद बदलने की क्रिया होती है। कुछ लोग मानते है कि देखने के बाद परिवर्तन शुरू हो जाता है। यह बात अधूरी है। परिवर्तन के लिए प्रयत्न अपेक्षित होता है। देखने मात्र से रूपान्तरण नही होता। रूपान्तरण के लिए विशेष प्रयत्न करना होता है। हमने देख लिया कि अन्दर इतना कूडा-करकट जमा हुआ है। वह मात्र देखने से नष्ट नही होगा। उसे नष्ट करने के लिए हमे उसे कुरेदना होगा, उखाडना होगा। तभी वह साफ हो सकेगा। निर्जरा कुरेदने की प्रक्रिया है। जो परतें जमी हुई है, उन्हे कुरेदकर उखाड सकते है। सस्कारो की परत है, अहकार और ममकार की परत है, और भी अनेक परतें है। उन परतो को उखाडकर फेंकना है। उसके लिए हमे प्रयत्न करना होगा। यह सारी निर्जरा की प्रक्रिया है। यह परतो को उखाडने की प्रक्रिया है।

क्या देखने मात्र से अनुप्रेक्षा कृतकार्य हो जाती है ?

अनुप्रेक्षा मे चार बाते जुडती है। पहली बात है कि जो जैसा है, उसे देखो। दूसरी बात है—सकल्प। देख लेने के बाद उसे बदलने के लिए सकल्प का सहारा लो। तीसरी बात है—ध्वनि और चौथी बात है—भावना। इस प्रकार देखना, सकल्प करना, ध्वनि करना और भावना करना—ये चारो बातें जुडकर अनुप्रेक्षा को पूर्ण बनाती है।

आपने कहा कि हम इसी जीवन मे अभी मुक्ति का अनुभव कर सकते हैं। कैसे ?

हमने मुक्ति को ऐसे घेरे मे बाध दिया है कि मानो मुक्ति कही अन्यत्र है। मुक्ति हमारे साथ ही साथ चल रही है। हमसे मुक्ति अलग नही है। जितना अप्रमाद है वह सारी की सारी मुक्ति है। यही मुक्ति-स्थल है।

पर्याप्ति क्या है ? प्राण और पर्याप्ति का सगम कैसे हो सकता है ?

कोई आत्मा एक जन्म से च्युत होकर दूसरे जन्म मे जाती है, तो उस समय उसके पास स्थूल शरीर नही होता, सूक्ष्म शरीर होता है। वह सूक्ष्म शरीर जन्म--ग्रहण करने के पहले क्षण मे ही बहुत बडी पुद्गल राशि एकत्रित करता है। इसे आहार-पर्याप्ति कहते हैं। उस पुद्गल राशि मे सारी पर्याप्तियो का निर्माण होता है। शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति, श्वासोच्छवास-पर्याप्ति और मन पर्याप्ति — इन सबका निर्माण होता है। अब जैसे ही इन शक्तियो का निर्माण हो जाता है, तब फिर तैजस और कार्मण का इनके साथ तालमेल होता है। जब तालमेल बैठता है तब तैजस की शक्ति, विद्युत् की शक्ति—ये सारी शक्तिया केन्द्रो मे प्रवेश करना शुरू करती है। तैजस शरीर प्राण का उत्पादक है। हमारी जो विद्युत् है वह तैजस शरीर से ही उत्पन्न होती है। यह धारा प्रवाहित होती है पर्याप्ति के केन्द्रो मे और पर्याप्ति के केन्द्रो मे हमारे स्थूल शरीर मे आती हैं। शरीरशास्त्री तो इस स्थिति तक पहुच नही पाए है किन्तु परामनोवैज्ञानिक छह-सात सूक्ष्म शरीर मानते हैं। इनमे अनेक कोष हैं—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञान कोष, आनन्द कोष आदि-आदि। इनकी पर्याप्ति से तुलना हो सकती है।

ऐसा लगता है कि साधना मे बौद्धिकता सबसे बडी बाधा बनती है। क्या यह ठीक है ? लोकोत्तर योग को और अधिक स्पष्ट करें।

बौद्धिकता नही, आपका तर्क उसमे बाधक बन रहा है। अगर बौद्धिकता नही होती तो शायद प्रयोग मे आप आगे नही बढ सकते। चितनपूर्वक आप शिविर मे आए हैं, जीवन के प्रयोग किए है, योग के ग्रन्थो को पढा है और अभी पढ रहे है। पढने मे ही उत्तरोत्तर आपका विकास हुआ और आपने यह अनुभव किया कि जीवन मे ऐसे प्रयोग करने चाहिए, यह सब आपने बौद्धिकता के उच्च धरातल पर ही किया। बौद्धिकता और तर्क एक नही हैं। बौद्धिकता है हमारी वस्तु को पकडने की क्षमता। उससे हम लाभ-अलाभ को समझ लेते हैं, पद्धति को समझते हैं, उनके परिणामो को समझते हैं। यह है हमारी बौद्धिकता। बाधा आती है तर्क के द्वारा। बौद्धिकता और तर्क एक नही है। यद्यपि बौद्धिकता का परिणाम तर्क है किन्तु बौद्धिकता उससे बहुत बडी चीज है। तर्क हमारे विश्वास को केन्द्रित नही करता बल्कि उसको विभक्त कर देता है। सकल्प मात्र से हमारा आन्तरिक परिवर्तन कैसे हो सकता है ? यह जो प्रश्न उभार देते हैं, वहा विश्वास सघन नही हो सकता। किसी भी साधना के लिए सकल्प की सघनता बहुत जरूरी है। तर्क

को हम छोड नही सकते। बौद्धिकता है तो तर्क भी चलेगा, किन्तु यह बात भी हमारी समझ मे आ जाए कि जो कर रहे है उसके लिए सकल्प किया है। उसके प्रति अगर तर्क करते हैं तो बात ठीक नही होती। खण्डित विश्वास हमे एक निश्चित दूरी तक नही ले जाएगा। जब व्यक्ति मे सकल्प की प्रधानता आ जाती है, वहा तर्क गौण हो जाता है। अगर विश्वास सघन नही होता तो भिक्षु स्वामी विचलित हो जाते। सौ बार विचलित हो जाते। जो व्यक्ति यह धार लेता है कि चाहे मुझे मरना ही क्यो न पडे, यह प्रयोग तो करना ही है, वह व्यक्ति निश्चित ही अपने प्रयोग मे सफल हो सकता है।

एक दिन हमारे यहा लोकोत्तर योग की चर्चा चली थी। उसमे मूल बात यही थी कि जैन आचार्यों ने इस बात पर बहुत बल दिया कि हमारे कषाय क्षीण होने चाहिए। कोई भी साधना-पद्धति सफलता तक नही पहुच पाती, जहा कषाय क्षीण होने की बात नही आती। चमत्कार हो सकते है। क्योकि चमत्कार यान्त्रिक होते है। हमारे शरीर मे रेडियो की तरह यन्त्र लगे हुए हैं। वैज्ञानिक लोग इस बात का प्रयोग कर रहे हैं कि हमारे शरीर मे जो यन्त्र लगे हुए हैं, उनके द्वारा ध्वनि को ठीक तरह से पकडा जाए ताकि रेडियो की आवश्यकता न पडे। इस प्रकार हमारे शरीर मे बहुत सारी यात्रिक चीजें है। और इन यात्रिक शक्तियो का विकास हो जाए तो उनके द्वारा भी बहुत बडा चमत्कार हो सकता है। किन्तु उन सबके होने पर जो आत्मिक अनुभूति होनी चाहिए, वह नही होती। वह कषाय क्षीण होने पर ही हो सकती है।

उपयोग (चेतना की प्रवृत्ति) से कषाय नही होते और कषाय से उपयोग नही होता। ये दोनो अलग-अलग चलते हैं। हम शुद्धोपयोग यानी निष्कषाय उपयोग मे जितने अधिक रह सकें, उतनी ही हमारी वृत्तिया शुद्ध होगी। आप यह मत मानिए कि वृत्तियो को अलग से शुद्ध करना पडता है। कोई जरूरत नही है। किसी भी व्यक्ति को लगा कि मुझे गुस्सा अधिक आ रहा है, उसने कोई प्रयोग किया कि क्रोध कम हो जाए, किन्तु यह भी कोई गूढ सफलता नही। मूलत वृत्ति एक है, दो नही। उस वृत्ति पर ही प्रहार करना होता है। कषाय के मूल पर ही प्रहार करना पडता है। और वह होता है आत्म-दर्शन के द्वारा। हमारा ध्यान आत्मा पर केन्द्रित होगा, चैतन्य पर केन्द्रित होगा या शुद्ध उपयोग पर केन्द्रित होगा तो एक साथ सारी वृत्तियो पर प्रहार होगा। निष्कषायता की वृत्ति का जो अभ्यास है वह वास्तव मे साधना का सबसे बडा प्रयोग या सबसे बडा परिणाम है। जैन साधना-पद्धति मे यह मुख्य प्रयोग है। इसी के आधार पर हमारी साधना की भूमिका चलती है।

क्या सकल्प-विकल्प को रोकना ही समाधि है? समाधि, एकाग्रता और ध्यान मे क्या अन्तर है?

केवल संकल्प विकल्प को रोके और ध्येय का बोध न रहे तो जागृत समाधि नहीं हो सकती। ध्येय-शून्य संकल्प-विकल्प का निरोध है शून्य समाधि। संकल्प-विकल्प की शून्यता और ध्येय की शून्यता - दोनों एक नहीं हैं। समाधि में संकल्प-विकल्प की शून्यता है पर ध्येय की शून्यता नहीं है। समाधि के प्रकर्ष में ध्येय का रूपान्तरण हो जाता है। दृष्टि, द्रष्टा और दर्शन, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, ध्याता ध्यान और ध्येय—इनमें से प्रत्येक त्रिक एकात्मक बन जाता है। इसे उदाहरण के द्वारा समझें। आत्मा ध्येय है। मैं उसका साक्षात करना चाहता हूं। मैं द्रष्टा हूं। आत्मा दृश्य है। मेरी दर्शन की अपनी प्रक्रिया है। एकाग्रता के द्वारा आत्मा को देखूं—यह है मेरा दर्शन। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—ये तीनों बराबर चल रहे हैं। मैं उस बिन्दु पर पहुंच जाऊं कि जहां आत्मा का साक्षात्कार हो जाए, फिर न ध्येय रहा और न ध्यान रहा। दोनों समाप्त हो गए। ध्येय, ध्याता और ध्यान—सब एक हो गए। एकाग्रता साधन है। वह ध्यान में भी होती है और समाधि में भी होती है। जैसे धारणा का प्रकर्ष ध्यान है वैसे ही ध्यान का प्रकर्ष समाधि है। समाधि की एकाग्रता ध्यान की एकाग्रता से बहुत प्रकृष्ट होती है।

द्रष्टा का स्वरूप क्या है ?

द्रष्टा का शब्दार्थ है—देखने वाला। चेतना शुद्ध हो, उसमें कोई विकल्प न हो, उस भूमिका का नाम द्रष्टा है। इस भूमिका में केवल चैतन्य का प्रवाह होता है। दूसरा कोई तत्त्व उसमें नहीं मिलता। न प्रियता और न अप्रियता का भाव। न राग और न द्वेष का मनोभाव। न संवेदन और न प्रतिक्रिया। चैतन्य और केवल चैतन्य। इसे कुछ साधकों ने साक्षीभाव कहा है और कुछ ने शुद्ध उपयोग कहा है।

चैतन्य को केन्द्रित करो, चित्त को केन्द्रित करो या मन को केन्द्रित करो—तीनों एक हैं या भिन्न-भिन्न ?

चैतन्य व्यापक है, चित्त उससे छोटा है और उससे छोटा है मन। चित्त (बुद्धि) स्थायी तत्त्व है। मन उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। फिर उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। जब हम कहते हैं—चैतन्य को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है चैतन्य की धारा को बाहर की ओर प्रवाहित न करो। जब हम कहते हैं—चित्त को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है चित्त की निर्णायक शक्ति को आत्मा में विलीन करो। जब हम कहते हैं—मन को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है संकल्प-विकल्प का निरोध करो।

क्या मंत्र, यंत्र और तंत्र—तीनों वास्तविक हैं या केवल काल्पनिक ?

शब्द, आकार, पदार्थ और उनकी शक्ति के गूढ़ रहस्यों को जानने के लिए मनुष्य सदा उत्सुक रहा है। इनके सम्बन्ध में रहस्यों का [illegible]

यह नही है कि शिविर मे जो लोग आज रह रहे हैं, उन्हे वापस अपने-अपने घरो को जाना है। जाएगे, यह स्वाभाविक बात है। अभी इतनी तैयारी नही है कि शिविर को एक स्थायी आवास के रूप मे बदल दें और उपासक की समर्पित स्थिति का अनुभव दूसरो को भी करा दें। ऐसे बहुत कम लोग तैयार हुए हैं। इस स्थिति से घर जाने के पश्चात् सबके साथ व्यवहार का प्रश्न है, काम का प्रश्न है और जीवन के रहन-सहन के ढग का प्रश्न है। ये सारे प्रश्न सामने हैं। मैं यह सोचता हू कि साधना-सत्र मे आने का मतलब तात्कालिक आनन्द की उपलब्धि नही है। आज आपने प्रयोग किया और बहुत आनन्द आया। यह कोई पर्याप्त बात नही है। यह तो उसका एक क्रम है, यह तो उसका एक क्षण है। किन्तु शिविर मे आने का मतलब यह है कि यहा जो कुछ भी आप प्राप्त करें, उसे आगे क्रियान्वित करें। जो पाठ आपने पढे है, उन्हे अपने जीवन मे प्रयुक्त करें। अभी शिविर चल रहा है, परख का समय तो आगे है, जब आप शिविर से मुक्त होकर अपने परिवार मे जाएगे। हम शिविर मे बौद्धिक चर्चाए करते हैं। और वे बहुत आवश्यक हैं। क्योकि जब तक हमारा ज्ञान विकसित नही होता, हमारी धारणाए स्पष्ट नही होती, हमारी मान्यताओ मे बल नही होता तब तक हम किसी साधना की कल्पना ही नही कर सकते। सबसे पहले हमारे लिए ज्ञान जरूरी है। जितने भी अच्छे-अच्छे साधक है, वे इस बात पर बहुत बल देते हैं कि हमारा बौद्धिक धरातल बहुत ऊचा होना चाहिए। और साधक यह अनुभव भी करते है कि बौद्धिक धरातल ऊचा होने के बाद फिर आन्तरिक ज्ञान का विकास शुरू हो जाता है। यह बहुत जरूरी है और इसीलिए उपासक के सामने एक लम्बा अध्ययन का क्रम रखा जाता है। साधना का क्रम और वर्तमान की दुनिया मे जिस स्तर पर बौद्धिकता का विकास हो रहा है, उसका अध्ययन हमारे लिए बहुत जरूरी है। उसके बिना हमारा धरातल बहुत नीचा रहता है और फिर साधना की बात कैसे की जा सकती है? इस-लिए आपवादिक उदाहरणो को सामने रखकर सामान्य नियम नही बन सकता। हमारा नियम बनाते समय अनुपात का ध्यान रखना होता है, अन्यथा हम उलझ जाते हैं और न इधर के रहते हैं न उधर के रहते हैं। अब कोई उदा-हरण हो गया है, कोई भिक्षु स्वामी हो गया था दूसरा और कोई हो गया। ये सारे दुनिया मे अपवाद के रूप मे जन्म लेते हैं। भिक्षु स्वामी ने कुछ भी नहीं पढा था परन्तु बहुत बड़े बन गए थे। हर आदमी तो भिक्षु स्वामी बनकर जन्म नहीं लेता। वह तो कोई व्यक्ति था जो स्वयं बना। हर आदमी उसका अनुकरण नहीं कर सकता। हर आदमी को प्रयत्न करना होता है और अपने प्रयत्न से ज्ञान की उपलब्धि करनी होती है। इसलिए सबसे पहली बात है कि बौद्धिक धरातल ऊचा होना चाहिए और साथ-साथ इसके बाद भी पूरा प्रयत्न करना चाहिए। जितना ज्ञान विकसित होगा उतनी बातें प्राप्त करने मे बहुत सुविधा हो जाएगी।

हमारे इस शिविर मे अच्छी चर्चाए चली है। अगर पकडने वाले लोग हो तो अपने बौद्धिक धरातल को काफी उन्नत बना सकते है और नही तो कम-से-कम प्रेरणा तो पा ही सकते हैं।

दूसरी बात आती है साधना की। साधना की दृष्टि से आसन, प्राणायाम आदि तो चलते ही थे, कार्योत्सर्ग और धारणाओ के प्रयोग भी चलते थे।

' हमे बौद्धिक और आध्यात्मिक दोनो दृष्टियो से विकास करना है। किन्तु जीवन बहुत लम्बा-चौडा है और जीवन के इतने मार्ग है कि उसमे एक बात पर्याप्त नही होती। एक बात का अपना स्थान है, किन्तु हम मान ले कि पर्याप्त हो गया, यह नही हो सकता। उसमे बहुत सारे कोण है और हर कोण को पकडना पडता है।

तीसरी बात है व्यवहार की। हर बात हमे सीखनी है और इस पर चिंतन करना है कि हमारा पारस्परिक व्यवहार कैसा रहे। शिविर मे लोगो के परस्पर का व्यवहार काफी अच्छा रहा है। आप भिन्न-भिन्न परिवारो के लोग आए हैं और परस्पर मे मिले है। इसीलिए बहुत उलझनें भी नही है, कोई टकराहट भी नही है। किन्तु साधना की सफलता उस बात मे है कि जहा अपना जीवन नियन्त्रित रहे, वहा भी व्यवहार को सीधा और सरल रखें, टकराव से बचाए। उस स्थिति मे यह अनुभव किया जा सकता है कि साधना का हमारे जीवन पर असर हुआ है।

साधना के चमत्कारो के बारे मे इस शिविर मे काफी प्रश्न आए। मैं सोचता हू कि साधना का सबसे बडा चमत्कार यह है कि व्यक्ति की वृत्तिया बदल जाए, आदत बदल जाए, स्वभाव बदल जाए। अगर मन मे शत्रुता का भाव साधना के द्वारा बदल जाए तो यह जादू से भी बडा चमत्कार है। हमारे मन मे और दूसरी वृत्तिया रहती है—चाहे वासना की वृत्ति और चाहे दूसरे प्रकार की वृत्ति। अगर उसमे थोडा-सा भी परिवर्तन आ जाए तो वह जादू से बढकर चमत्कार होगा। साधना का बहुत बडा परिणाम है, वृत्तियो का परिवर्तन और परिमार्जन। इसे चमत्कार से कम न समझें। यह बहुत बडा चमत्कार है। बडे-बडे चमत्कार करने वाले भी इन बातो से अनभिज्ञ रह जाते है और यहा आकर वे पराजित हो जाते हैं। मैंने ऐसे लोगो को देखा है जो बहुत बडे-बडे चमत्कार दिखाने वाले थे। किन्तु वे जैन साधुओ के समाने झुक गए। उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की। उनसे पूछा गया कि आप लोग इतना जानते है, फिर यह क्यो ? उन्होने उत्तर दिया कि हमे ऐसा लगता है कि चरित्र जितना जैन मुनि का उज्ज्वल है, उतना हमारा नही। इसलिए हम चरित्र के सामने झुक जाते है।

वास्तविक परिवर्तन है वृत्तियो का परिवर्तन और स्वभावो का परिवर्तन। अगर साधना-सत्र या साधना-सत्रो की चर्चाओ के द्वारा उस भूमिका पर हम

समाधान का आशय यही है कि हम पत्तो को न सीचें, उस मूल को सीचें जिसका सिंचन पत्ते को जीवन देता है। हम परिणाम को समाधान न मानें, किन्तु उस प्रवृत्ति को समाधान माने जिससे परिणाम का सृजन होता है। यह मूल तक पहुचना ही आध्यात्मिकता है। मानसिक और व्यावहारिक समस्या का समाधान आध्यात्मिक ही हो सकता है।